तैत्तिरीयोपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

व्याख्याकार :
स्वामी त्रिभुवनदास

॥श्रीः॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
१९७

तैत्तिरीयोपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

(विमर्शात्मकसंस्करण)

व्याख्याकार
स्वामी त्रिभुवनदास

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

तैत्तिरीयोपनिषत्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2017
पृष्ठ : 62+252
मूल्य : ₹ 150.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❉

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

❉

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-743-4

सम्पादन सहयोग - रुद्रनारायणदास

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE
VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA
197

TAITTIRIYOPANISAT

with 'Tattvavivechani' Hindi Commentary

(Critical Edition)

by

Swami Tribhuvandass

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Taittiriyopanisat

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com
Website : www.chaukhambabooks.in

First Edition : 2017
Pages : 62+252
Price : ₹ 150.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-743-4

Editorial Assistance - Rudranarayandass

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

आत्मनिवेदन

पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ महान्त **श्रीस्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज** की पावन आज्ञा से प्रवर्तमान उपनिषद्व्याख्यान माला का सप्तम प्रसून तैत्तिरीयोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या प्रस्तुत है। पूज्य गुरुदेव और अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीमलूकपीठाधीश्वर **श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज** ये दोनों महापुरुष मेरे स्वाध्याय और लेखनकार्य के प्रेरणास्रोत हैं। मैंने व्याकरण तथा वेदान्तके अप्रतिम विद्वान् **पण्डित श्रीरामवदनजी शुक्ल** और वीतराग-परमहंस, दार्शनिक सार्वभौम **स्वामी शंकरानन्द सरस्वतीजी** से विशिष्टाद्वैत वेदान्तका अध्ययन किया था। इन सभी महात्माओं के पावन पादपद्मों में अनन्त प्रणति समर्पित हैं।

श्रीरामशरणदास(श्रीरामानन्दाचार्यसेवापीठ चतरा, वराहक्षेत्र, नेपाल) और **श्रीगोपालदास**(श्रीकृष्णकुञ्ज मायाकुण्ड, ऋषीकेश) ने प्रस्तुत ग्रन्थ का अक्षरशुद्धिनिरीक्षण तथा **श्रीरुद्रनारायणदास** (स्वामी रामानन्दाश्रम, मायाकुण्ड ऋषीकेश) ने सम्पादनकार्य सम्पन्न किया है तथा शास्त्रों के प्रचार-प्रसार के लिए कटिबद्ध **श्रीप्रवीणकुमार गुप्त** (चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली) ने तत्परता से इसे प्रकाशित किया है। इन सभी के सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ उपनिषत्प्रेमी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

सरस्वतीजयन्ती — स्वामी त्रिभुवनदास

वि.सं. 2073

शुभ-आशीर्वाद

श्रीराम

उपनिषद् भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। वे वेदों के सारसर्वस्व हैं। श्रीत्रिभुवनदासजी ने उपनिषदों पर विशद तत्त्वविवेचनी व्याख्या करके पाठकों का अत्यन्त हित किया है। वास्तव में आजकल पाठकों एवं लेखकों की आध्यात्मिक विषय में रुचि ही नहीं है। यह प्रेरणास्पद कार्य अपने में अनूठा है, इस महान् कार्यहेतु मैं आशीर्वाद देता हूँ।

महान्त नृत्यगोपालदास
श्रीमणिरामदास छावनी
अयोध्या

शुभसम्मति

मानव के सकल पुरुषार्थ और उसके साधनों का बोधक वेद है। वह ऋग्, यजुष्, साम और अथर्व भेद से चार प्रकार का है। शुक्ल और कृष्ण भेद से यजुर्वेद भी दो प्रकार का है। इनमें कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का प्रस्तुत तैत्तिरीयोपनिषत् है। यह तीन वल्लियों में विभक्त है। इनमें प्रथम में बहुविध शिक्षाएँ उपदिष्ट होने से वह शीक्षावल्ली नाम से अभिहित होती है। द्वितीय में आनन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन होने से वह आनन्दवल्ली, ब्रह्मवल्ली और ब्रह्मानन्दवल्ली कही जाती है। तृतीय में ब्रह्मविविदिषु भृगु का अपने पिता वरुण से उपदेशग्रहण करना वर्णित होने से वह भृगुवल्ली शब्द का वाच्य है।

इस तैत्तिरीयोपनिषत् में कल्याण का साधन जीवनोपयोगी विविध शिक्षाओं के उपदेश के अनन्तर **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**।(तै.उ.2.1.1) इस प्रकार उपास्य सविशेष ब्रह्म, उसकी प्राप्ति का साधन उपासनात्मक ज्ञान और प्राप्ति का प्रतिपादन करते हुए **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**।(तै.उ.2.1.1) इत्यादि वाक्यों के द्वारा चेतनाचेतनसकलेतर से विलक्षण ब्रह्मस्वरूप, उसका जगत्कारणत्व और सर्वान्तरत्व प्रतिपादित है। देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से भिन्न आत्मा है और उससे भी भिन्न परमात्मा। स्थूलारुन्धती न्याय से उस सूक्ष्म ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान कराने के लिए श्रुति अन्नमयादि का भी निरूपण करती है। वहाँ प्रतिपादित अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय का अन्तरात्मा आनन्दमय ही ब्रह्म है। **तस्माद् वा एतस्मात्....अन्योऽन्तर** इस प्रकार श्रुति अन्नमय से अन्य, प्राणमय, उससे अन्य मनोमय, उससे अन्य विज्ञानमय और उससे भी अन्य आनन्दमय का प्रतिपादन करती है। अन्नमयादि चार पर्यायों में उससे अन्य आत्मा को बताने के लिए **तस्माद् वा एतस्मात्....अन्योऽन्तर** यह वाक्य है किन्तु आनन्दमय पर्याय में यह वाक्य नहीं है। यदि आनन्दमय से अन्य किसी को ब्रह्म कहना श्रुति का अभीष्ट होता तो वहाँ भी वह वाक्य उपलब्ध होता,

वह उपलब्ध न होने से यह स्पष्ट है कि तैत्तिरीय का प्रतिपाद्य ब्रह्म आनन्दमय ही है। **अन्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्चकोशाः कल्प्यन्ते।**(शां.भा. 1.1.19) इस प्रकार शांकरभाष्य में आनन्दमय को कोश कहा गया है किन्तु वह कोश नहीं। वेदों का उपबृंहणभूत श्रीमद्भागवत महापुराण का **पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः।**(भा.10.87.17) यह वचन भी आनन्दमय को ही ब्रह्म कहता है। इन विषयों को विस्तार से जानने के लिए प्रस्तुत व्याख्या ग्रन्थ अवश्य पठनीय है।

असंख्येय कल्याणगुणगणनिलय, निखिलहेयप्रत्यनीक, परमानन्दचिन्मूर्ति भक्तवत्सल, शरणागतवत्सल श्रीसीतारामचन्द्र भगवान् की अहेतुकी कृपा से विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन तथा तत्त्वत्रयम्, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्योपनिषद् की तत्त्वविवेचनी तथा केन और माण्डूक्योपनिषत् के रङ्गरामानुजभाष्य की ज्ञानगङ्गा हिन्दीव्याख्या के प्रकाशन के पश्चात् अब तैत्तिरीयोपनिषत् की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित होने जा रही है। हमारे परमादरणीय, श्रद्धेय, तपःपूत, अप्रतिम दार्शनिक विद्वान्, श्रीस्वामी त्रिभुवनदासजी के द्वारा भगवान् श्रीसीतारामजी महाराज यह सनातन धर्म की सेवा करा रहे हैं। हमारे आराध्य श्रीसीतारामजी व्याख्याकार को अपने चरणों की विमल रति प्रदान करते हुए नैरुज्य एवं दीर्घायुष्य प्रदान कर ऐसी ही सत्साहित्यसृजन की सेवा कराते रहें।

आश्विनकृष्णपक्ष
प्रतिपदा, वि.सं.2073
सत्संगशिविर हनुमद्धाम
शुकताल

दासानुदास
राजेन्द्रदास देवाचार्य
व्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्य
मलूकपीठ, वृन्दावन

सम्पादकीय

तैत्तिरीयोपनिषद् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या आप जैसे प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। इसमें मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और हृदयग्राही व्याख्या सन्निविष्ट है। विषय वस्तु को अवगत कराने केलिए इसे समुचित शीर्षकों से अलंकृत किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटल पर अंकित होता चला जाता है, अध्येता महानुभाव इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार आचार्य स्वामी जी को इष्ट है फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की समालोचना हुई है, जो कि प्रासंगिक है। ग्रन्थ के अन्त में आवश्यक परिशिष्ट सन्निविष्ट हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं केलिए भी संग्राह्य है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी माध्यम से उपनिषदों के अध्येता इस ग्रन्थ रत्न का आदर करेंगे।

रुद्रनारायणदास

प्रस्तावना

इस जगत् में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो सुख की कामना न करता हो अपितु मुझे दुःख न हो, सुख ही हो, इस प्रकार बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त पामर और प्राज्ञ सभी दुःखों की निवृत्तिपूर्वक सुख की ही अभिलाषा करते हैं। यही सभी के जीवन का लक्ष्य है। सुख संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है और दुःख सबसे तुच्छ वस्तु। मनुष्य के ये दो ज्ञान अत्यन्त सहज होते हैं। सुख को सर्वोत्तम वस्तु समझने के कारण उसे प्राप्त करने की और दुःख को निकृष्ट समझने के कारण उसे दूर रखने की इच्छा भी स्वाभाविक रूप से सदैव होती है। इसके फलस्वरूप वह जिस वस्तु को सुख का साधन समझता है, उसे अपने अधीन करने की और जिसे दुःख का साधन समझता है, उसका निराकरण करने की इच्छा भी स्वभावतः ही होती है और इन इच्छाओं के अनुसार ही उसके सारे प्रयत्न और क्रियाकलाप सम्पादित होते हैं।

पुरुषार्थ

पुरुष अपने अभिलषित पदार्थ की कामना करता ही रहता है, वह जिसकी कामना करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं-**पुरुषेण अर्थ्यते प्रार्थयत इति पुरुषार्थः**। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भेद से चार प्रकार का होता है।

1.धर्म

वेद के विधिवाक्यों से ज्ञात होने वाला कर्म ही धर्म कहलाता है-**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**(जै.सू.1.1.2)। अग्निहोत्र, तप, सत्यभाषण, वेदों का रक्षण, अतिथिसत्कार और बलिवैश्वदेव ये कर्म इष्ट कहलाते हैं। बावली, कूप, तालाव और देवमन्दिर का निर्माण तथा अन्नदान और उद्यान लगाना ये कर्म पूर्त्त कहलाते हैं-**अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥**(अ.सं.43-44) इस प्रकार वर्णित इष्टापूर्त्त कर्मो को धर्म कहा जाता है।

2.अर्थ

सुवर्ण, रजत, रुपया आदि को तथा इनसे प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के भोग्य पदार्थों को अर्थ कहते हैं।

3.काम

सुख के भोग(अनुभव) को काम कहते हैं। सुख और आनन्द शब्द पर्याय हैं।

त्रिविध सुख

दु:ख के समान सांसारिक सुख भी तीन प्रकार के होते हैं-1. आध्यात्मिक सुख 2. आधिदैविक सुख 3. आधिभौतिक सुख।

आध्यात्मिक सुख

आध्यात्मिक सुख दो प्रकार के होते हैं- क. शारीरिक और मानसिक। वात, पित्त और कफ की समता के कारण शरीर के आरोग्य से होने वाले सुख शारीरिक सुख कहे जाते हैं तथा काम, क्रोध,लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं द्वेष आदि विकारों के न होने पर मन के आरोग्य(प्रसन्नता) से होने वाले सुख मानसिक सुख कहे जाते हैं।

आधिभौतिक सुख

स्त्री, पुत्र, सेवक और पशु आदि से प्राप्त होने वाले सुख आधिभौतिक सुख कहलाते हैं।

आधिदैविक सुख

सर्दी, गर्मी, वर्षा और वायु से होने वाले तथा देवता के अनुग्रह से होने वाले सुख आधिदैविक सुख कहलाते हैं।

उक्त त्रिविध सुख देहात्मबुद्धि वाले प्राणियों की विषयों में भोग्यत्व बुद्धि उत्पन्न कर, उनको आकर्षित करते हुए बन्धन के हेतु होते हैं।

4.मोक्ष

प्रकृति के बन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर निरतिशय आनन्दरूप परमात्मा का अनुभव करना ही मोक्ष कहलाता है।

उक्त चतुर्विध पुरुषार्थों में काम और मोक्ष सुखरूप होने से पुरुषार्थ(पुरुष की कामना के विषय) होते हैं। धर्म और अर्थ तो सुख के साधन होने से पुरुषार्थ होते हैं, स्वरूपतः पुरुषार्थ नहीं होते अतः धर्म और अर्थ से काम और मोक्ष श्रेष्ठ हैं। उन दोनों में भी मोक्ष अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि काम(भोग)रूप सुख दुःख से मिश्रित तथा विनाशी होता है और मोक्षरूप सुख दुःख के लेश से भी रहित तथा अविनाशी होता है। धर्म निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा मोक्ष का साधन होता है और सकाम भाव से अनुष्ठित होने पर भोग का साधन होता है। धर्म से अर्थ के द्वारा काम(वैषयिक सुख) प्राप्त होता है इसलिए काम से अर्थ निकट है अतः काम से पूर्व अर्थ का निर्देश करते हैं। धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है इसलिए अर्थ से भी पूर्व धर्म का निर्देश होता है। उसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर तीनों पुरुषार्थों की श्रेष्ठता होने पर भी उन सभी का मूल धर्म है अतः उसे प्रथम पुरुषार्थ माना जाता है और निरतिशय सुखरूप होने से मोक्ष को परम पुरुषार्थ।

मनुष्य मृत्युपर्यन्त अपना समस्त जीवन आनन्द(सुख) के अन्वेषण में ही व्यतीत कर देता है, वह भ्रम से पत्नी, पुत्र, सेवक, पद, प्रतिष्ठा, वाहन और धनसम्पत्ति आदि को आनन्ददायक मानता है किन्तु परिणाम इससे विपरीत ही होता है। वह सुखदायक समझकर जिस वस्तु को हाथ लगाता है, वही वस्तु अन्ततः उसे दुःख देती है, इस अनुभव से यह स्पष्ट है कि सांसारिक विषयों से शाश्वत सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

विषयों से प्राप्त होने वाले सुख के सात दोष होते हैं। वह अल्प होता है और अस्थिर भी। यह दुःखमूलक है क्योंकि बहुत प्रयास करने पर प्राप्त होता है। सांसारिकसुख दुःख से मिश्रित होता है क्योंकि इसे भोगते समय विविध प्रकार की चिन्ताओं के कारण दुःख भी बना रहता है। इस सुख का परिणाम दुःख होता है अर्थात् यह भोग के पश्चात् नाना प्रकार के दुःख देता है। इस सुख के हेतु सुकृत देहात्मबुद्धि होने से किये जाते हैं और इस कारण ही सुख अच्छा लगता है और वह इस विपरीतबुद्धि को बढ़ाता भी है। जीवात्मा को जो स्वभावतः ब्रह्मानुभव प्राप्त है, उसका विरोधी भी यह सुख है। इन दोषों के कारण ही विवेकी मनुष्य सांसारिक

सुखों की कामना नहीं करता। वह दु:खों की आत्यन्तिकनिवृत्तिपूर्वक आनन्द की ही कामना करता है। परमात्मा निरतिशय आनन्दरूप होने से उसका अनुभवात्मक मोक्ष भी निरतिशय आनन्दरूप होता है।

अब प्रसंगानुसार सभी प्रकार के आनन्दों का वर्णन किया जाता है-

ब्रह्म की आनन्दरूपता

ब्रह्म आनन्दरूप है-**आनन्दो ब्रह्म।** (तै.उ.3.6), **रसो वै स:।**(तै.उ.2.7.1), **कं ब्रह्म** (छां.उ.4.10.5), ब्रह्म स्वत: आनन्दरूप है इसलिए अनुभव करने वालों को स्वत: अनुकूल ज्ञात होता है। उसमें आनन्दरूपता स्थायी होती है एवं उत्कर्षता की चरम सीमा में पहुँची रहती है।

ब्रह्म ज्ञानानन्दैकस्वरूप है। उसका स्वरूपभूत ज्ञान सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है, कभी भी प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता इसलिए वह(ब्रह्मस्वरूप)आनन्द कहलाता है। अनुकूल(आनन्दरूप) ज्ञान के विषय जड भोग्य पदार्थ भी आनन्द कहे जाते हैं। केवल आनन्द कहने से उनका भी ग्रहण होता है, उनकी व्यावृत्ति के लिए ज्ञान कहा जाता है। वे पदार्थ ज्ञान नहीं हैं। उन्हें आनन्द कहने पर भी ज्ञान नहीं कहा जाता। ज्ञान तीन प्रकार का होता है-अनुकूल ज्ञान(आनन्द), प्रतिकूल ज्ञान(दु:ख) और उदासीन ज्ञान। केवल ज्ञान कहने से प्रतिकूल और उदासीन ज्ञान का भी ग्रहण होता है, उसकी व्यावृत्ति के लिए आनन्द कहा जाता है। व्यापक ब्रह्मस्वरूप में स्थान भेद से जडत्व हो, दु:खरूपत्व हो, इसके निराकरण के लिए एक पद का प्रयोग किया गया है। ज्ञानानन्दैकस्वरूपत्व का अर्थ है- आनन्दरूपज्ञानात्मकत्व(अर्थात् आनन्दरूप ज्ञान ही उसका स्वरूप है।) अर्थात् पूर्णत:(सब ओर से) आनन्दरूपता होते हुए पूर्णत: स्वयंप्रकाशता होना। जैसे सैन्धवघन(नमक का टुकडा) सब ओर से सैन्धव ही है। वैसे ही ब्रह्म सब ओर से आनन्दरूप ज्ञान ही है इसीलिए बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि आनन्दरूप ज्ञान ब्रह्म है-**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** (बृ.उ.3.9.28)। जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों ही आनन्दरूप हैं। परमात्मा निरतिशय आनन्दरूप है, जीवात्मा वैसा नहीं है। यह दोनों में भेद है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के समान श्रुतिसिद्ध उसके धर्मभूतज्ञान की भी निरतिशय आनन्दरूपता है।

जीवात्मा की आनन्दरूपता

यह आत्मा आनन्दरूप है-**निर्वाणमय एवायमात्मा।**(वि.पु.6.7.22) आत्मा ज्ञानरूप तथा आनन्दरूप है-**ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा।**(पां.सं.)इत्यादि शास्त्रवचन जीवात्मा की आनन्दरूपता का प्रतिपादन करते हैं। आत्मा का सुखरूप होना ही उसकी आनन्दरूपता है। अनुकूलरूप से अनुभव में आने वाला ज्ञान ही आनन्द कहलाता है। आत्मा ज्ञानरूप है, स्वयंप्रकाश है। अपनी आत्मा का अनुकूल ही अनुभव होता है, प्रतिकूल नहीं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है। इस अनुभव से आत्मा आनन्दरूप सिद्ध होती है। सदा अनुकूलत्वेन प्रकाशित होना आत्मा का स्वभाव है इसलिए अपनी आत्मा सर्वाधिक प्रिय होती है। 'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार स्वयंप्रकाश आत्मा के प्रकाशित होते समय उसकी सुखरूपता भी सदा प्रकाशित होती है। कभी क्रोधादि आवेश के समय जो दुःखरूपता प्रतीत होती है, उसका कारण कर्मरूप उपाधि है। कदाचित् प्रतीत होने वाली दुःखरूपता औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं। आत्मा की सुखरूपता ही स्वाभाविक है।

आत्मा का अनुभवरूप कैवल्य होता है। कैवल्यार्थी की उसके साधन में प्रवृत्ति होती है। इससे भी आत्मा की आनन्दरूपता सिद्ध होती है क्योंकि दुःखरूप वस्तु को कोई भी नहीं चाहता, सभी सुख को ही चाहते हैं। आत्मा सुखरूप होने से उसका अनुभवरूप कैवल्य भी सुखरूप होता है इसी कारण उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है।

व्यक्ति निद्रा के पश्चात् जागने पर 'मैं सुख से सोया' इस प्रकार सुख का स्मरण करता है। यह अनुभव के विना नहीं हो सकता। जिस विषय का अनुभव होता है, उसी का स्मरण होता है इसलिए सुख के स्मरण के बल पर सुख का अनुभव स्वीकार किया जाता है। सुख का अनुभव कब हुआ? यह अनुभव जाग्रत अवस्था का नहीं है किन्तु सुषुप्ति से जागने पर स्मरण अवश्य होता है। इससे स्वीकार करना पड़ता है कि सुषुप्ति के समय सुख का अनुभव हुआ था। यह सुख विषयजन्य सुख नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में मनसहित सभी इन्द्रियाँ अपने कार्यों से पूर्णतः उपरत होती हैं, उनका विषय के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। विषय-इन्द्रिय के सम्बन्ध से ही विषयजन्य सुख होता है। सुषुप्ति काल में विषय-इन्द्रिय का सम्बन्ध न

होने से उस समय अनुभव में आने वाला सुख विषयसुख नहीं हो सकता। वह सुख क्या है? वह आत्मा का स्वरूप ही है। सुषुप्ति में होने वाला सुख का अनुभव सुखरूप आत्मा का ही अनुभव है। यह अनुभव भी आत्मा का स्वरूप है, वृत्तिज्ञान नहीं। उस समय सभी इन्द्रियों के उपरत होने से कोई वृत्ति होती ही नहीं। सुषुप्ति में आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द के अनुभव से जाग्रतकाल में आनन्द का स्मरण होता है। इस स्मरण के बल से भी आत्मा आनन्दरूप सिद्ध होती है।

धर्मभूतज्ञान की आनन्दरूपता

श्रुति प्रमाण से ज्ञानरूप आत्मा ज्ञान का आश्रय(ज्ञाता) भी सिद्ध होती है। आत्मा के आश्रित रहने वाला यह धर्मभूतज्ञान भी स्वयं प्रकाश है। यह विषय का प्रकाश करते समय अपना भी प्रकाश करता है। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के अनुसार ज्ञानरूप आत्मा अपना ही प्रकाशक होती है किन्तु उसके आश्रित रहने वाला यह ज्ञान विषय का प्रकाशक होता है। इसे भी आनन्दरूप माना जाता है।

शंका–यदि ज्ञान आनन्दरूप है तो शत्रु के द्वारा हनन करने के लिए विष, शस्त्रादि प्रदर्शित करते समय विषादि का ज्ञान दु:खरूप क्यों होता है?

समाधान–ज्ञान आनन्दरूप होने पर भी शत्रु द्वारा विष और शस्त्रादि दिखाते समय विषादि का ज्ञान दु:खरूप होने में देहात्मभ्रम, कर्म और अब्रह्मात्मक ज्ञान कारण हैं। देह को आत्मा समझना भ्रम है। शत्रु विष और शस्त्रादि के द्वारा देह को मार सकता है, आत्मा को नहीं। देह के नाश से अपने आत्मस्वरूप का नाश मानने वाला भ्रमित मनुष्य का विषादिविषयक ज्ञान दु:खरूप होता है। इसका कारण देहात्मभ्रम है। आत्मज्ञानी जानता है कि विरोधी व्यक्ति शरीर का हनन कर सकता है, मेरा नहीं अत: उसका वह ज्ञान दु:खरूप नहीं होता। प्रतिबन्धक कर्मों के कारण देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं होता इसलिए देहात्मभ्रम होता है अत: विषादि का ज्ञान दु:खरूप होता है। इस प्रकार कर्म देहात्मबुद्धि के द्वारा ज्ञान की दु:खरूपता का कारण होता है। पदार्थों के ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञान का अभाव भी ज्ञान की दु:खरूपता का कारण है।

अनन्त, अपरिमिति दु:खों की जनक बद्धावस्था में ज्ञान के संकोच

का हेतु जो कर्म है, उसका नाश होने पर मुक्तावस्था में ज्ञान विभु रहता है। वह आनन्दरूप ब्रह्म का प्रकाश करने से तथा ब्रह्मात्मकत्वेन अन्य पदार्थों का प्रकाश करने से आनन्दरूप ही रहता है, इस प्रकार धर्मभूत ज्ञान की आनन्दरूपता सिद्ध होती है।

ब्रह्मात्मक जगत् की आनन्दरूपता

पृथिवी परमात्मा का शरीर है, वह पृथिवी के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है-**यस्य पृथिवी शरीरम्। य पृथिवीमन्तरो यमयति।**(बृ.उ. 3.7.7)। जल परमात्मा का शरीर है, वह जल के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है-**यस्य आपश्शरीरम्। योऽपोऽन्तरो यमयति।**(बृ.उ.3.7.8)। आत्मा परमात्मा का शरीर है, वह आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है-**यस्य आत्मा शरीरम्। य आत्मानमन्तरो यमयति।**(बृ.उ. मा.पा.3.7.26)। सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है-**जगत्सर्वं शरीरं ते।** (वा.रा.6.117.25)। सब कुछ हरि का ही शरीर है-**तत्सर्वं वै हरेस्तनुः** (वि.पु.1.22.38)। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएं, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र ये सभी भगवान् के शरीर हैं-**खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरम्।**(भा.11.2.41) इस प्रकार चेतनाचेतनात्मक जगत् परमात्मा का शरीर और वह जगत् की आत्मा सिद्ध होता है। ब्रह्म जिसकी आत्मा(नियन्ता) है, उसे ब्रह्मात्मक कहते हैं-**ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः ब्रह्मात्मकः।** ब्रह्म स्वशरीरभूत सम्पूर्ण जंगत् का आत्मा है इसलिए सब ब्रह्मात्मक है, उसका धर्म ब्रह्मात्मकत्व कहलाता है-**ब्रह्मात्मकस्य भावः ब्रह्मात्मकत्वम्।** सभी पदार्थों का ब्रह्मात्मकत्व है अर्थात् सभी पदार्थों में अन्तरात्मारूप से ब्रह्म है। इस कारण उसका स्वभाव अनुकूलता अर्थात् आनन्दरूपता है। पदार्थों की प्रतिकूलता(दु:खरूपता) आगन्तुक है। वह देहात्मभ्रम आदि निमित्त से होती है। उसके न होने पर नहीं होती। ब्रह्मवेत्ता सभी के आत्मारूप से ब्रह्म को जानता है तथा अन्य सभी पदार्थों को ब्रह्मात्मकरूप से जानता है।

अब्रह्मात्मक जगत् की औपाधिक आनन्दरूपता

जैसे पदार्थों का ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञान न होने पर(अर्थात् पदार्थों को

स्वतन्त्र समझने पर) जो ज्ञान की दु:खरूपता अनुभव में आती है, उसका कारण देहात्मभ्रम और कर्म हैं, वैसे ही ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञान के न होने पर ज्ञान की सुखरूपता के कारण भी वही देहात्मभ्रम और कर्म हैं, ऐसा जानना चाहिए। भ्रम से ही भोक्ता जीव शरीर के लिए हितकर चन्दन, कुसुम, भोजन तथा औषध आदि को आत्मा के लिए हितकर मानता है। इस कारण माला, चन्दनादि का ज्ञान आनन्दरूप होता है। प्रतिबन्धक कर्म के कारण जब ब्रह्मात्मकत्वेन पदार्थों का अनुभव नहीं होता, उनका स्वतन्त्र(अब्रह्मात्मक)रूप से अनुभव होता है तब वे स्वतन्त्र पदार्थ कर्म के कारण ही अनुकूल प्रतीत होते हैं। उनकी अनुकूलता कर्म निमित्त से होती है अत: वह अल्प और अस्थायी होती है। प्रबल कर्म होने पर वे अधिक अनुकूल प्रतीत होते हैं और दुर्बल कर्म होने पर कम अनुकूल प्रतीत होते हैं। कर्म नष्ट होने पर उनमें अनुकूलता भी नहीं प्रतीत होती।

सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक होने से ही उनकी अनुकूलता स्वाभाविक मानी जाती है। यदि इसके विना अनुकूलता को स्वाभाविक माना जाय तो किसी देश और किसी काल में किसी मनुष्य के लिए अनुकूल विषय अन्य देश और अन्य काल में उसके लिए ही प्रतिकूल नहीं होने चाहिए तथा जिस काल में एक व्यक्ति के अनुकूल जो विषय हैं, उसी काल में अन्य व्यक्ति के लिए वे प्रतिकूल नहीं होने चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता अपितु एक देश और एक काल में एक व्यक्ति के लिए अनुकूल चन्दन, कुसुमादि अन्य देश और अन्य काल में उसके लिए ही प्रतिकूल हो जाते हैं तथा वे विषय जिस काल में एक व्यक्ति के लिए अनुकूल होते हैं, उसी काल में अन्य व्यक्ति के लिए प्रतिकूल होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अज्ञानी के अनुभव में आने वाला अब्रह्मात्मक पदार्थ न तो अनुकूल है और न ही प्रतिकूल। अनुकूलता और प्रतिकूलता उसके कर्मों के कारण होती है। इसीलिए महर्षि पराशर ने कहा है कि क्योंकि एक ही वस्तु एक मनुष्य के दु:ख का कारण, दूसरे के सुख का कारण, तीसरे की ईर्ष्या का कारण और चौथे के क्रोध का कारण हो जाती है इसलिए कोई वस्तु एक निश्चित रूपवाली कैसे हो सकती है? अर्थात् वस्तु न तो सुखरूप है और न ही दु:खरूप-**वस्त्वेकमेव दु:खाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तु वस्त्वात्मकं कुत:॥**(वि.पु.2.6.47) वस्तु की सुखरूपता

और दुःखरूपता के कारण पुण्य-पाप कर्म हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्यों के प्रति सुख-दुःख का कारण बनना वस्तु का स्वरूप नहीं है। पुण्य कर्म से वस्तु सुख का कारण बनती है और पाप से दुःख का कारण अर्थात् एक ही वस्तु किसी को सुख देती है और किसी को दुःख, इस प्रकार अव्यवस्था का वर्णन करके महर्षि पुनः कहते हैं कि एक ही वस्तु किसी मनुष्य के प्रति सुख का कारण बनकर पुनः उसी के दुःख का कारण बन जाती है। वही वस्तु उसी मनुष्य के कोप का कारण बनकर पुनः प्रसन्नता का कारण बन जाती है, इससे सिद्ध होता हे कि कोई भी वस्तु सुखात्मक नहीं है और दुःखात्मक भी नहीं-**तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते॥ तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित् सुखात्मकम्।**(वि.पु.2.6.48-49) इस प्रकार विचार करने पर सिद्ध होता है कि एक वस्तु एक मनुष्य को सदा सुख ही देती हो या सदा दुःख ही देती हो, ऐसा नहीं है इसलिए एक मनुष्य के प्रति भी एक समान व्यवस्था नहीं होती। वस्तु पुण्यपापरूप कर्मात्मिका उपाधि से सुख, दुःख का कारण बनती है, स्वरूपतः नहीं।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अज्ञानी का अनुभाव्य, अब्रह्मात्मक जगत् न तो सुखरूप है और न ही दुःखरूप तथा कर्म उपाधि से प्राप्त होने वाला सुख भी विनाशी है। अपनी आत्मा और परमात्मा आनन्दरूप हैं। ब्रह्मात्मक जगत् भी आनन्दरूप है। ब्रह्मदर्शी इन सभी का अनुभव करता है। दुःख के अनुभव का कारण कर्म होता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से कर्म निवृत्त हो जाने पर दुःख होता ही नहीं तथा अल्प और अस्थिर सुख भी नहीं होता। उस समय अनुभव में आने वाला आनन्द ही निरतिशय आनन्द है। यही मुमुक्षु के जीवन का चरम लक्ष्य है, यही परम पुरुषार्थ है।

शांकरदर्शन में आनन्द

निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्त(शांकरसिद्धान्त) में सुख दो प्रकार का माना जाता है-सातिशय सुख और निरतिशय सुख-**सुखं द्विविधं सातिशयं निरतिशयं चेति।**(वे.प.प्र.) उनमें विषय के सम्बन्ध से जन्य अन्तःकरण की वृत्ति के तारतम्य से होने वाला आनन्द के लेश का आविर्भावविशेष सातिशय सुख कहलाता है-**सातिशयं सुखं विषयानुषङ्गज-नितान्तःकरणवृत्तितारतम्यकृतानन्दलेशाविर्भावविशेषः।**(वे.प.प्र.)। माला,

चन्दन और स्त्री आदि अनुकूल विषय एक जैसे नहीं होते, उनमें तारतम्य होता है अतः उनके सम्बन्ध से जन्य अन्तःकरण की वृत्ति में भी तारतम्य होता है। उस वृत्ति में आविर्भूत आनन्द का अंश सातिशय सुख कहलाता है। वृत्ति के तारतम्य के कारण सभी सुख एक जैसे नहीं होते, उनमें भी तारतम्य होता है। अनुकूल विषय के सम्बन्ध से अन्तःकरण की सात्त्विक वृत्ति में आविर्भूत आनन्द का अंश ही सुख है। आविर्भूत आनन्दांश वाली अन्तःकरण की वृत्ति भी सुख कही जाती है। यह सातिशय सुख अनित्य होता है, पुण्य कर्मों से प्राप्त होता है। निरतिशय सुख ब्रह्म ही है-**निरतिशयं सुखं च ब्रह्मैव।**(वे.प.प्र.) यह नित्य है। इस मत में सुख को आत्मा का धर्म नहीं माना जाता।

सांख्य और योग दर्शन में आनन्द

सांख्य और योग दर्शन में अन्तःकरण की सात्त्विक वृत्ति में होने वाला आत्मा का प्रतिबिम्ब सुख माना जाता है और ऐसी वृत्ति को भी सुख माना जाता है। यह अन्तःकरण का धर्म ही है, इस मत के अनुसार सुख न तो आत्मा का स्वरूप है और न ही आत्मा का गुण।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आनन्द

न्यायवैशेषिकदर्शन के अनुसार सभी के अनुकूल अनुभव के विषय को सुख कहते हैं-**सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्।**(त.सं.गु.)। सभी लोग अनुकूलरूप से उसी का अनुभव कर सकते हैं, जो सभी का काम्य हो। संसार में सुख ही एक ऐसी वस्तु है, जिसकी सभी कामना करते हैं, उसका ही सभी अनुकूलरूप से अनुभव करते हैं। सभी अनुभाव्य पदार्थ सभी के लिए अनुकूल नहीं होते। सुख ही ऐसा अनुभाव्य पदार्थ है, जो सभी के लिए अनुकूल ही होता है। प्रतिकूल किसी के लिए नहीं। यह सुख आत्मा का गुण है और पुण्य कर्मों से प्राप्त होता है। कर्म से जन्य नित्य वस्तु नहीं हो सकती इसलिए प्राचीन नैयायिक नित्य सुख स्वीकार नहीं करते किन्तु नव्य नैयायिकों के मत में **नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** इस श्रुति से परमात्मा में नित्य सुख माना जाता है-**नवीनमते तु नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इति श्रुत्या भगवति नित्यसुखसिद्धः।**(दि.गु.) यह परमात्मा का गुण है। न्यायवैशेषिकमत में सुख आत्मा का गुण ही है, वह

आत्मस्वरूप नहीं है।

न्यायवैशेषिकमत में सुख स्वयंप्रकाश नहीं है, ज्ञान से ही उसका प्रकाश होता है। सुख को प्रकाशित(विषय) करने वाला ज्ञान होता है। प्रकाशक ज्ञान और प्रकाश्य विषय के एककाल में विद्यमान होने पर ही ज्ञान से विषय का प्रकाश होता है। ज्ञान और सुख आत्मा के क्षणिक विशेष गुण हैं इस कारण युगपत् नहीं होते अतः ज्ञान उसे प्रकाशित नहीं कर सकता तो उसका प्रकाश कैसे होता है? इस प्रश्न का न्यायवैशेषिक दर्शन में समुचित उत्तर नहीं मिलता।

ऊपर प्रसंगानुसार आनन्द का वर्णन करके अब उसका प्रधानता से प्रतिपादन करने वाली तैत्तिरीयोपनिषत् का उपक्रम किया जाता है-

यजुर्वेद

नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज।(मुक्ति.उ.12) इस प्रकार मुक्तिकोपनिषत् में यजुर्वेद की 109 शाखाएँ कही गयी हैं। यह शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद भेद से दो भागों में विभक्त है। इनमें प्रथम में छन्दोबद्ध मन्त्र हैं और दूसरे में मन्त्रों के साथ ही गद्यात्मक भाग का मिश्रण है। मिश्रण से रहित होने के कारण प्रथम भाग को शुक्ल और उससे युक्त होने से द्वितीय को कृष्ण कहा जाता है। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन शाखाएँ उपलब्ध हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा है।

तैत्तिरीय शाखा

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के विषय में विष्णुपुराण(3.5) की एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। व्यासजी के शिष्य वैशम्पायन के अनेक शिष्य थे। उनमें ब्रह्मरात का पुत्र, परमधर्मज्ञ, गुरुसेवापरायण यांज्ञवल्क्य भी था। एक दिन ऋषियों ने यह निर्णय किया कि जो महामेरु पर्वत पर हमारी सभा में उपस्थित नहीं होगा, उसे एक सप्ताह के भीतर ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। वैशम्पायन उस कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो सके, इस कारण उनका भानजा प्रमादवशात् उनके पैर के आघात से मर गया। तब उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि तुम सभी मेरे ब्रह्महत्याजन्य पाप को दूर करने

के लिए प्रायश्चित करो। इसे सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि इस कार्य के लिये इन अल्प तेज वाले बालकों की क्या आवश्यकता? मैं अकेले ही प्रायश्चित्त करूँगा। इस पर क्रोधाविष्ट होकर आचार्य वैशम्पायन ने कहा कि तूने अपने सहाध्यायी ब्रह्मचारियों को निस्तेज बताकर मेरी आज्ञा भंग की है अतः तू मेरा शिष्य होने योग्य नहीं है इसलिए जो कुछ भी पढ़ा है, उसे त्याग दे। तब याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन से अधीत यजुर्वेद का रुधिरासक्त पदार्थ के रूप में वमन कर दिया। गुरु की आज्ञा से अन्य शिष्यों ने तित्तिर पक्षी बनकर उन वेद मन्त्रों को ग्रहण कर लिया। इसके पश्चात् उन शिष्यों के द्वारा प्रचारित वेद की शाखा तैत्तिरीय[1] कहलाई। तित्तिरि नामक किसी मन्त्रद्रष्टा ऋषि के द्वारा साक्षात्कृत वेद की शाखा तैत्तिरीय कही जाती है, ऐसा भी कुछ विद्वानों का कथन है। तैत्तिरीय आरण्यक के सप्तम, अष्टम और नवम प्रपाठक को **तैत्तिरीयोपनिषत्** कहा जाता है तथा दशम प्रपाठक को तैत्तिरीयनारायणोपनिषत्, महानारायणोप-निषत् और याज्ञिकी-उपनिषत् कहा जाता है।

आनन्दमयाधिकरण का विचार

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में आनन्दमयाधिकरण(ब्र.सू. 1.1.6) है। तैत्तिरीयोपनिषत् की आनन्दवल्ली में **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**।(तै. उ.2.1.1) इस प्रकार उपक्रम करके **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**।(तै.उ.2.1.1) इस वाक्य से सकलेतरविलक्षण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करके **तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**।(तै.उ.2.1.2) इत्यादि रीति से आकाशादि से लेकर शरीरपर्यन्त जगत् की सृष्टि का वर्णन करके जगत्कारण परमात्मा

---

1. तित्तिरि शब्द से **तेन प्रोक्तम्**(अ.सू.4.3.101) इस अर्थ में **तित्तिरिवरतन्तुखण्डिक-कोखाच्छण**(अ.सू.4.3.102) सूत्र से अण् प्रत्यय और उसे ईय आदेश करने पर तैत्तिरीय शब्द की सिद्धि होती है, इसका अर्थ है-तित्तिरि के द्वारा कही वेद की शाखा। **छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि**(अ.सू.4.2.66) इस नियम की **याज्ञवल्क्यादिभ्यः** इस भाष्यवार्तिक से निषेध होने से यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती। तैत्तिरीय शब्द से 'तमधीयते विदन्ति वा' इस अर्थ में अण् प्रत्यय और उसका **प्रोक्ताल्लुक्**(अ. सू.4.2.64) सूत्र से लुक् करने पर तैत्तिरीय शब्द की सिद्धि होती है। तित्तिरि ऋषि के द्वारा प्रोक्त वेद के अध्येता और ज्ञाता भी तैत्तिरीय कहलाते हैं-**तित्तिरिणा प्रोक्तम् अधीयते विदन्ति वा तैत्तिरीयाः**।

का विवेचनपूर्वक बोध कराने के लिए **स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।**(तै.उ.2.1.3) यहाँ से आरम्भ करके श्रुति **तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।**(तै.उ.2.5.2) पर्यन्त वर्णन करती है। ये वाक्य इस अधिकरण के विषय वाक्य हैं। यहाँ यह सन्देह होता है कि जगत्कारणत्वेन वर्णित आनन्दमय जीवात्मा है? या परमात्मा? पूर्वपक्षी के अनुसार आनन्दमय जीवात्मा ही है क्योंकि आगे **तस्यैष एव शारीर आत्मा।** (तै.उ.2.6.1) ऐसा कहा गया है। शारीर का अर्थ है-शरीर से सम्बन्ध रखने वाला। जीवात्मा ही शरीर से सम्बन्ध रखता है अतः यही आनन्दमय आत्मा है। वह चेतन होने से संकल्पपूर्वक सृष्टि कर सकता है अतः उसे ही जगत्कारण मानना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर **आनन्दमयोऽभ्यासात्**(ब्र.सू.1.1.13) यह सूत्र उपस्थित होता है। **आनन्दमयः**-आकाशादि के कारणरूप से कहा गया आनन्दमय ब्रह्म ही है। **अभ्यासात्**-क्योंकि आनन्दमीमांसा में आवृत्ति करके बताने से आनन्दमय का ही अपरिच्छिन्न आनन्द ज्ञात होता है, वैसा आनन्द जीवात्मा का असंभावित है। **सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति।**(तै.उ.2.8.1) से प्रारम्भ आनन्दमीमांसा इस प्रकार है-

मनुष्यों के 100 आनन्द=मनुष्यगन्धर्वों का 1 आनन्द
मनुष्यगन्धर्वों के 100 आनन्द=देवगन्धर्वों का 1 आनन्द
देवगन्धर्वों के 100 आनन्द=पितृदेवता का 1 आनन्द
पितृदेवता के 100 आनन्द=आजानज देवता का 1 आनन्द
आजानज देवता के 100 आनन्द=कर्मदेव का 1 आनन्द
कर्मदेव के 100 आनन्द=हविष्भोक्ता देवता का 1 आनन्द
हविष्भोक्ता देवताओं के 100 आनन्द=इन्द्र का 1 आनन्द
इन्द्र के 100 आनन्द=बृहस्पति का 1 आनन्द
बृहस्पति के 100 आनन्द=चतुर्मुख का 1 आनन्द
चतुर्मुख के 100 आनन्द=ब्रह्म का 1 आनन्द ।

उक्त रीति से ब्रह्मानन्द का सर्वातिशायीरूप से वर्णन करने पर उसकी सीमा को न पाकर श्रुति **यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।।**(तै.उ.2.9.1)

कहती है। ब्रह्मानन्द सभी आनन्दों से बड़ा है, उससे बढ़कर आनन्द अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। वह आनंद जीवात्मा का नहीं हो सकता अपितु परमात्मा का ही है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है। अब **तस्यैष शारीर आत्मा।**(तै.उ.2.6.1) का अर्थ प्रस्तुत है–

आनन्दमय का अनन्यात्मकत्व

तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥ यः-जो **पूर्वस्य**-पूर्व में प्रतिपादित विज्ञानमय का आत्मा है, **एषः**-यह **एव**-ही **तस्य**-आनन्दमय का **शारीरः**-शरीरसम्बन्धी **आत्मा**-आत्मा है। **तस्माद् वा एतस्माद् अन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।**(तै.उ.2.2.2), **तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।**(तै.उ.2.3.2), **तस्माद् वा एतस्माद् मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।**(तै.उ.2.4.2)**तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार पूर्व में अन्नमय से लेकर विज्ञानमय पर्यन्त सभी का आत्मा उनसे भिन्न और उनके अन्दर विद्यमान कहा था किन्तु विज्ञानमय का आत्मा आनन्दमय ही अपना(आनन्दमय का) आत्मा है अर्थात् वह अनन्यात्मक है, उससे भिन्न कोई उसका आत्मा नहीं।

शंका-इससे पूर्व **तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य** यह वाक्य तीन बार आ चुका है किन्तु वहाँ वह अनन्यात्मकत्व का प्रतिपादक नहीं है, तो यहाँ अनन्यात्मकत्व का प्रतिपादक कैसे हो सकता है?

समाधान-आनन्दमय का अन्य आत्मा संभव न होने से उक्त वाक्य को अनन्यात्मकत्व का प्रतिपादक माना जाता है। **तस्माद् वा एतस्मात्। ... .अन्योऽन्तर आत्मा** इस प्रकार चार बार निर्देश होने से अन्नमय का उससे भिन्न प्राणमय आत्मा, प्राणमय का उससे भिन्न मनोमय आत्मा, मनोमय का उससे भिन्न विज्ञानमय आत्मा और विज्ञानमय का उससे भिन्न आनन्दमय आत्मा ज्ञात होता है किन्तु आनन्दमय के प्रसंग में **तस्माद् वा एतस्मात्।...अन्योऽन्तर आत्मा** ऐसा निर्देश न होने से यह ज्ञात होता है कि आनन्दमय का उससे भिन्न कोई आत्मा नहीं अतः प्रस्तुत **तस्यैष एव शारीर आत्मा** इस वाक्य को आनन्दमय के अनन्यात्मकत्व का ही प्रतिपादक माना जाता है, इससे स्पष्ट है कि आनन्दमय ही सभी का

आत्मा ब्रह्म है।

इस विषय में पुनः पूर्वपक्ष उपस्थित होता है कि आनन्दमय जीवात्मा ही है, परमात्मा नहीं क्योंकि **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः**(अ.सू.4.3.144) इस सूत्र से आनन्द शब्द से विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है और अविकारी परमात्मा किसी का विकार नहीं हो सकता, ऐसी शंका होने पर ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यास ने **विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्**(ब्र.सू.1.1.14) इस सूत्र से बताया है कि आनन्दमय शब्द में विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय नहीं है अपितु प्रचुरता अर्थ में है। **मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः**(अ. सू.4.3.143)इस पूर्व सूत्र से **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** सूत्र में 'भाषायाम्' की अनुवृत्ति आने से विकार और अवयव अर्थ में मयट् प्रत्यय लोक में ही संभव है, वेद में नहीं। **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति** इस वैदिक वाक्य के अन्तर्गत पर्णमयी शब्द में **द्व्यच्छन्दसि**(अ.सू.4.3.150) इस विधान के बल से मयट् संभव है। आनन्द पद में दो अच् न होने से उससे विकार अर्थ में मयट् संभव नहीं इसलिए आनन्द की प्रचुरता वाला परमात्मा ही आनन्दमय है, ऐसा जानना चाहिए। आगे **तद्धेतुव्यपदेशाच्च**(ब्र.सू1.1.15) सूत्र से जीवात्मा को आनन्द प्रदान करने वाला परमात्मा कहा गया है। जैसे दूसरे को धन और विद्या देने वाला दूसरे से अधिक धनी और विद्वान् होता है, वैसे ही जीव को आनन्द देने वाला परमात्मा उससे अधिक आनन्दवान् है, इस विवरण से स्पष्ट है कि आनन्द की प्रचुरता वाला परमात्मा ही आनन्दमय कहा गया है।

शंका-जैसे ब्राह्मणों की प्रचुरता वाला ग्राम-ब्राह्मणप्रचुरो ग्रामः, ऐसा कहने पर उस ग्राम में अब्राह्मणों की अल्पता प्रतीत होती है, वैसे ही आनन्द की प्रचुरता वाला-आनन्दमय, ऐसा कथन होने पर उसमें दुःख की अल्पता प्रतीत होती है इसलिए दुःख के लेश से भी रहित ब्रह्म को आनन्दमय कहना संभव नहीं।

समाधान-सूर्य प्रचुर प्रकाश वाला है-प्रचुरप्रकाशः सविता, ऐसा कहने पर उसमें अन्धकार की अल्पता प्रतीत नहीं होती। उसमें अन्धकार का लेश भी संभव नहीं अतः जिस प्रकार चन्द्र के प्रकाश की अल्पता की अपेक्षा

सूर्य के प्रकाश की अधिकता कही जाती है, उसी प्रकार जीव के आनन्द की अल्पता की अपेक्षा ब्रह्म के आनन्द की अधिकता कही जाती है। ब्रह्म के दुःख की अपेक्षा आनन्द की अधिकता नहीं कही जाती, इस प्रकार ब्रह्म में आनन्द की प्रचुरता संभव होने से आनन्दमय ब्रह्म ही है। यह आनन्दमय परमात्मा ही आनन्दप्रदान करने वाला है-**एष ह्येवाऽऽनन्दयाति।**(तै. उ.2.7.1) यह श्रुति जीव का आनन्दप्रदाता परमात्मा को कहती है, इससे भी आनन्दमय परमात्मा ही सिद्ध होता है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**(तै.उ.2. 1.1) इस मन्त्रवर्ण में कहा गया ब्रह्म ही **आत्मन आकाशः सम्भूतः।**(तै. उ.2.1.2) इत्यादि रीति से आकाशादि का कारण और आनन्दमय कहा जाता है।

शंका-पूर्वोक्त मन्त्रवर्ण से प्रतिपाद्य जीवात्मा ही है, ब्रह्म नहीं।

समाधान-इस शंका के समाधान के लिये **नेतरोऽनुपपत्तेः**(ब्र.सू.1.1.17) यह सूत्र है इसका अर्थ है कि ब्रह्म से भिन्न मुक्तात्मा भी **सत्यं ज्ञानम्** इत्यादि मन्त्रवर्ण से प्रतिपाद्य नहीं है क्योंकि उसमें इस प्रकरण में प्रतिपादित निरुपाधिक विपश्चित्त्व(सर्वज्ञता), सकलजगत्कारणत्व, भयहेतुत्व और अभयहेतुत्व आदि धर्म संभव नहीं। वे परमात्मा में ही संभव होने से वही उससे प्रतिपाद्य है। **तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार विज्ञानमय शब्द से कहे गये बद्ध और मुक्त सभी जीवों से भिन्न आनन्दमय का प्रतिपादन होने से वह मुक्तात्मा भी नहीं हो सकता। **सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**(तै.उ.2. 6.2) इस प्रकार संकल्पमात्र से जगत् की सृष्टि कही जाती है, मुक्त उसे नहीं कर सकता, ब्रह्म ही कर सकता है। **रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**(तै.उ.2.7.1) इस प्रकार जिस आनन्दमय की प्राप्ति से मुक्तात्मा आनन्दी कहा जाता है, वह आनन्दमय उससे भिन्न ही है।

शंका-आनन्दमय को ब्रह्म कहना संभव नहीं क्योंकि पुच्छ के समान आधार होने से ब्रह्म पुच्छ है-**ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार आनन्दमय का आधार होने के कारण पुच्छ शब्द से ब्रह्म कहा गया है। आनन्दमय को ही प्रधान प्रतिपाद्य मानने पर **असन्नेव स भवति।** (तै.उ. 2.6.1)इस श्लोक को भी आनन्दमय का ही प्रतिपादक होना चाहिए

किन्तु उसमें आनन्दमय का निर्देश नहीं है क्योंकि उसमें ब्रह्म शब्द सुना जाता है अतः पुच्छ ही ब्रह्म है, आनन्दमय नहीं।

समाधान-आनन्दमय ब्रह्म के ही किसी भेद की विवक्षा से अवयव-अवयवी का विभाग करके वैसा निर्देश संभव है अन्यथा 'आनन्द मध्यभाग है'-**आनन्द आत्मा।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार मध्य अवयवरूप से निर्दिष्ट आत्मा का भी पुच्छरूप से निर्दिष्ट ब्रह्म से भेद प्राप्त होगा क्योंकि मध्य अवयव और पुच्छ का भेद अवश्यंभावी है, इसे इष्ट नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा भेद स्वीकार करने पर मध्य अवयव आत्मा आनन्दरूप होने पर पुच्छरूप से निर्दिष्ट ब्रह्म आनन्दरूप नहीं होगा। यदि किसी भेद की विवक्षा से एक ब्रह्म का ही पुच्छरूप से और मध्य अवयवरूप से निरूपण मानेंगे तो अभेद में भी अवयव-अवयवी के भेद की कल्पना संभव होती है इसलिए आनन्दमय और ब्रह्म का भेद हो ही नहीं सकता। आनन्दमयाधिकरण में आनन्दमय को ही ब्रह्म कहा गया है, उसे ब्रह्म स्वीकार न करने पर अधिकरण के असम्बद्ध प्रलाप होने का भी प्रसंग होता है। आनन्दमयसहित सभी कार्यों के कारणरूप से ब्रह्म कहा जाता है। यह जो कुछ है, उसने इस सभी की रचना की-**सर्वस्य हि विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किं च।**(ब्र.सू.शां.भा.1.1.19) इस प्रकार शांकरभाष्य में आनन्दमय को कार्य कहना अत्यन्त अनुचित है। अभी इसे विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है कि तैत्तिरीयोपनिषत् का प्रतिपाद्य सविशेष आनन्दमय ब्रह्म ही है, वही जगत्कारण है। **सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**(तै.उ.2.6.2) इस श्रुति में सर्वनाम पद से उसी का परामर्श होता है। श्रुतियों के तात्पर्य का निर्णय करने के लिए ही सर्वज्ञ महर्षि वेदव्यासद्वारा ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया गया है। **आनन्दमयोऽभ्यासात्**(ब्र.सू.1.1.13) इस सूत्र से तैत्तिरीयोपनिषत् की आनन्दमयविद्या का प्रतिपाद्य सविशेष ब्रह्म ही सिद्ध होता है, इस प्रकार ब्रह्मसूत्र से भी स्वाभीष्ट निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि न देखकर उक्त भाष्यवचन प्रवृत्त हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि अभ्यास लिंग से आनन्द ही ब्रह्म सिद्ध होता है, आनन्दमय नहीं। निर्विशेष में तात्पर्य द्योतित करने के लिए की जाने वाली यह कल्पना सूत्रविरुद्ध है। वस्तुतः इसका भी मूल श्रुतिसूत्रविरुद्ध निर्विशेष- सविशेष के भेद की कल्पना है। वैदिकों

के लिए श्रुति से बढ़कर कुछ नहीं, श्रुतियाँ हम सभी के समक्ष हैं और उसके निर्णायक सूत्र भी, तो तद्विरुद्ध कल्पना का अवकाश ही कहाँ ? श्रुतिसूत्रसमर्थित आनन्दमय के ब्रह्मत्व के विषय में यदि किसी को कुछ सन्देह हो तो, उसे सविशेषाद्वैती विद्वानों के भाष्य और प्रस्तुत व्याख्या से निराकरण कर लेना ही उचित है।

आनन्दमय का पर्याय आनन्द शब्द

आनन्दमय परब्रह्म ही है, ऐसा निश्चित होने पर **यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।**(तै.उ.2.7.1), **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।**(बृ.उ.3.9.28) इत्यादि स्थलों में आनन्द शब्द से आनन्दमय का ग्रहण होता है इसी कारण श्रुति **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्**(तै.उ.2.9.1) इस प्रकार धर्मी ब्रह्म और उसके आनन्द धर्म का व्यतिरेक(भेद) से निर्देश करती है अत: **आनन्दमयमात्मानम् उपसंक्रामति।**(तै.उ.2.8.5) इस प्रकार ब्रह्मविद्या के फल आनन्दमय की प्राप्ति का निर्देश किया जाता है। पूर्व अनुवाक में प्रोक्त अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय का उत्तर अनुवाक में **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।**(तै.उ.3.2.1), **प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्।**(तै.उ.3.3.1), **मनो ब्रह्मेति व्यजानात्।**(तै.उ.3.4.1) **विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्।** (तै.उ.3.5.1) इस प्रकार क्रमश: अन्न, प्राण, मन और विज्ञान शब्दों से प्रतिपादन किया जाता है, इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पूर्व अनुवाक में प्रोक्त आनन्दमय का ही उत्तर अनुवाक में **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।**(तै.उ.3.6.1) इस प्रकार आनन्द शब्द से प्रतिपादन किया जाता है और इस कारण ही आगे **एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य**(तै.उ.3.10.5) इस प्रकार प्रकरण का उपसंहार किया जाता है।

पूर्व में आवृत्ति करके कहा गया आनन्द **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्** इस प्रकार ब्रह्म का धर्म निर्दिष्ट होने से और **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** यहाँ आनन्द शब्द का वाच्य ब्रह्मस्वरूप होने से तथा उसके वाच्य के स्थान में **एतमानन्दमयात्मानमुपसंक्रम्य** यहाँ आनन्दमय शब्द का निर्देश होने के कारण आनन्द और आनन्दमय शब्द पर्याय होने से आनन्दमय परमात्मा ही ज्ञात होता है, यह उक्त कथन का अभिप्राय है। श्रुतिसिद्ध इस आनन्दमय

का परमात्मत्व ही **पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः**[1]।(भा.10.87.17) इस भागवतवचन से कहा जाता है।

आनन्द का आश्रय तथा आनन्दरूप ब्रह्म

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है-**आनन्दो ब्रह्म**।(तै.उ.3.6.1), आनन्दरूप विज्ञान ब्रह्म है-**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**।(बृ.उ.3.9.28), विज्ञान शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त स्वयंप्रकाशत्व तथा आनन्दशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अनुकूलत्व है। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त का भेद होने से श्रुति में दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग किया गया है। ज्ञानरूप परमात्मा के आश्रित जो धर्मभूत ज्ञान रहता है, वह भी सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है इसलिए आनन्द कहा जाता है। ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कभी भय को प्राप्त नहीं होता-**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति**।(तै.उ.2.9.1), वह ब्रह्म का एक आनन्द है-**स एको ब्रह्मण आनन्दः**।(तै.उ.2.8.4) इन श्रुतियों में ब्रह्म का

---

1. हे भगवन्! आपका आश्रय लेने योग्य दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर भी जो प्राणी आपसे विमुख होकर विषयभोग में आसक्त होते हैं, उनका जीवन व्यर्थ है, उनकी श्वांसों का चलना चमड़े की धौकनी में वायु के आने-जाने के समान है। जिसके अनुग्रहपूर्वक अनुप्रवेश से महद्, अहंकार आदि ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, जो अन्नमयादि में अन्वित पुरुषाकार है और जो उन(अन्नमयादि) में चरम(आनन्दमय) है, वह आप ही चेतनाचेतनात्मक जगत् से पर और इनमें शेष रहने वाले हैं तथा आप ही सत्य हैं-**दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः। पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्**॥ तैत्तिरीयोपनिषत् की आनन्दवल्ली में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचों का निरूपण किया गया है, इनमें पञ्चम ब्रह्म है। श्रुति जगत्कारण सर्वात्मा ब्रह्म का बोध कराने के लिए अन्नमयादि चारों का निरूपणे करती है। आनन्दमय उन सभी में अन्वित है।अज्ञानी मनुष्य अन्नरसमय स्थूल शरीर को ही आत्मा समझता है, उससे भिन्न किसी को आत्मा नहीं समझता। **तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः**।(तै.उ.) इस प्रकार श्रुति अन्नमय को ही आत्मा मानने वाले की स्थूलारुन्धतीन्याय से उसमें आत्मत्वबुद्धि को हटाकर उसके अन्दर विद्यमान प्राणमय में आत्मत्वबुद्धि कराती है। इसके पश्चात् पूर्वोक्त रीति से प्राणमय को ही आत्मा मानने वाले की उसमें आत्मत्वबुद्धि को हटाकर उसके अन्दर विद्यमान मनोमय में आत्मत्वबुद्धि करायी जाती है। इसके पश्चात् मनोमय में आत्मत्वबुद्धि को हटाकर उसके अन्दर विद्यमान विज्ञानमय में आत्मत्वबुद्धि करायी जाती है, फिर विज्ञानमय में आत्मत्वबुद्धि को हटाकर उसके अन्दर विद्यमान आनन्दमय में आत्मत्वबुद्धि करायी जाती है।

आनन्द गुण कहा गया है। परमात्मा का प्रधान गुण आनन्द है इसलिए **तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्**(ब्र.सू.2.3.29) इस न्याय से उसे आनन्द कहा जाता है तथा अनुकूलत्वेन अनुभूत होने के कारण भी आनन्द कहा जाता है। इस प्रकार परमात्मा आनन्दस्वरूप तथा आनन्दगुण वाला सिद्ध होता है, इस आनन्द धर्म का आश्रय होने से ही आनन्दस्वरूप परमात्मा को आनन्दमय कहा जाता है।

आनन्दमय कोश नहीं

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचों का प्रस्तुत उपनिषत् में वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में आनन्दमय के वाच्य का ही परमात्मत्वेन बोध कराने के लिए स्थूलारुन्धतीन्याय का आश्रय लिया जाता है। इनमें अन्नमयादि तीन अचेतन हैं, विज्ञानमय चेतन आत्मा है और आनन्दमय परमात्मा। निर्विशेषाद्वैती विद्वान् प्रस्तुत उपनिषत् में प्रतिपादित आनन्दमय को भी कोश मानते हैं, वह उचित नहीं क्योंकि आनन्दमय ब्रह्म ही है, इसका पूर्व में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है, वह कोश नहीं हो सकता अतः तैत्तिरीय में प्रतिपादित आनन्दमय के लिए कोश शब्द का प्रयोग आधुनिकों के मत से है, ऐसा जानना चाहिए वह श्रुतिसम्मत नहीं हो सकता। अन्नमय के अन्तर्गत प्राणमय है, उसके अन्तर्गत मनोमय, उसके अन्तर्गत विज्ञानमय और उसके भी अन्तर्गत आनन्दमय परमात्मा। वह ही सबका अन्तरात्मा है, उससे पर कोई वस्तु नहीं।

तैत्तिरीयोपनिषत् का तात्पर्य

अन्य उपनिषदों की भाँति प्रस्तुत तैत्तिरीयोपनिषत् में भी निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिकूल तथा सविशेषाद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल वचन प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं, उनमें से कुछ का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है-

आनन्दवल्ली के उपक्रम में ही **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**।(तै.उ.2.1.1) इस संग्रहवाक्य से ब्रह्म, उसकी वेदनरूप उपासना और उसकी प्राप्ति का प्रतिपादन किया जाता है और ग्रन्थ के उत्तरसन्दर्भ में इन तीनों का ही विस्तार से निरूपण किया जाता है। इस प्रसंग में प्राप्य(परब्रह्म) और प्रापक(ब्रह्मवेत्ता) का स्वाभाविक भेद स्पष्ट ज्ञात होता है और आगे इस

प्रकरण में इसका कोई निषेधक वचन उपलब्ध नहीं होता अपितु समर्थक वचन ही उपलब्ध होते हैं। **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ.2.1.2) इस वाक्य से प्राप्य के स्वरूप का वर्णन किया जाता है और प्राप्ति का भी। सम्पूर्णकल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्म प्राप्य है और उसका अनुभव प्राप्ति। **तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।** (तै.उ.2.1.2) इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के सर्वोपादानकारणत्व का और **तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।**(तै.उ.2.2.2) इत्यादि से सर्वान्तरत्व का विस्तार से प्रतिपादन किया जाता है तथा इस प्रसंग में भी पुनः **तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार जीव(विज्ञानमय) और ब्रह्म(आनन्दमय) के भेद का ही कथन किया जाता है, अभेद का नहीं।

इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।(तै.उ.2.6.2) इत्यादि वाक्यों के द्वारा चेतनाचेतनात्मक जगत् में ब्रह्म के अनुप्रवेश से ब्रह्म की जगत्रूपता और इसके(जगत्रूपता के) होने पर भी **सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्।**(तै.उ.2.6.2) इस प्रकार उसके निर्विकारत्व का प्रतिपादन किया जाता है।

प्रश्न-ब्रह्म से अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, इसलिए **इदं सर्वमसृजत** इत्यादि वचनों के द्वारा जगत् की सृष्टि, उसमें ब्रह्म का अनुप्रवेश और अनुप्रवेशमूलक ब्रह्म की जगत्रूपता कैसे कही जाती है?

उत्तर-श्रुति स्वयं इसका उत्तर कहती है-**यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते।** (तै.उ.2.6.3) अर्थात् प्रमाण से ज्ञात जो यह चेतनाचेतनात्मक जगत् है, वह सत्य1 ही है, मिथ्या नहीं क्योंकि ज्ञान से उसका बाध नहीं होता और शास्त्रों में उसका सत्यत्वेन ही प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा वेद, वेदान्त और उसके उपबृंहणभूत शास्त्रों के विद्वान् कहते हैं। इसके पश्चात् 'ब्रह्म ने स्वयं अपने को जगद्रूप से किया'-**तदात्मानं स्वयमकुरुत।**(तै.उ.2.7.1) इस प्रकार ब्रह्म की ही जगद्रूपता कही जाती है, जो कि निर्विशेषाद्वैत मत से पूर्णतः विरुद्ध है क्योंकि उस मत में ब्रह्म का जगत्रूप होना सम्भव नहीं, वह मिथ्या है। सत्यब्रह्म मिथ्या जगत्रूप से परिणत होता है, ऐसा शांकर मत में भी स्वीकार नहीं किया जाता अपितु माया ही जगत्रूप से परिणत होती है, ब्रह्म तो विवर्तोपादानकारण है, ऐसा ही स्वीकार किया

जाता है। इसके अनन्तर **सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति।**(तै.उ.2.8) इस प्रकार भगवती श्रुति स्वयं आनन्द की मीमांसा प्रस्तुत करते हुए **ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः।**(तै.उ.2.8.4) इस प्रकार प्रजापति के 100 आनन्द के समान ब्रह्म के 1 आनन्द को कहती हुई उक्त मीमांसा को समाप्त करती है, इससे ब्रह्म के स्वरूप के समान ही उसका धर्मभूत (गुण) आनन्दविशेष भी स्वाभाविक और सत्य है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार **अस्माल्लोकात्प्रेत्य**(तै.उ.2.8) ऐसा उपक्रम करके **एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।**(तै.उ.2.8.5) इस कथन से निर्विशेषाद्वैतसम्मत मुक्ति निरस्त हो जाती है, ऐसा जानना चाहिए क्योंकि यहाँ प्रारब्ध कर्म के अवसानकाल में देहत्याग कर इस लोक से जाकर ब्रह्मवेत्ता को आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति कही गयी है। निर्विशेषाद्वैतमत में ब्रह्मज्ञानी का कहीं जाना मान्य नहीं किन्तु तैत्तिरीय श्रुति ज्ञानी का भी इस लोक से जाने का वर्णन करती है, इससे स्पष्ट है कि निर्विशेषाद्वैतसम्मत मोक्ष का प्रतिपादन प्रस्तुत उपनिषत् में कहीं नहीं है।

प्रश्न-यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह।(तै.उ.2.9.1) यह श्रुति ब्रह्म से वाक् और मन की निवृत्ति का प्रतिपादन करते हुए उसके निर्विशेषत्व का भी प्रतिपादन करती है। यदि ब्रह्म सविशेष होता तो श्रुति उसे वाक् और मन का विषय कहती किन्तु श्रुति ऐसा नहीं कहती, अपितु उसे अविषय कहती है, इससे ब्रह्म निर्विशेष सिद्ध होता है।

उत्तर-निर्विशेषाद्वैतवादी का उक्त कथन श्रुतिसम्मत नहीं है क्योंकि **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्** (तै.उ.2.9.1) इस प्रकार वही श्रुति ब्रह्म के आनन्द धर्म और वेद्यत्व का प्रतिपादन करती है, इससे वह सविशेष ही सिद्ध होता है, निर्विशेष नहीं।

मन के सहित वाणी जिस ब्रह्मानन्द की इयत्ता(सीमा) को न पाकर जहाँ से लौट आती है, उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला व्यक्ति किसी से भी भय को प्राप्त नहीं होता-**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।।** 'यतो वाचो निवर्तन्ते' यहाँ पर 'यतः' शब्द से निर्दिष्ट अर्थ का 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस वाक्य में आनन्द शब्द से निर्देश करके वह ब्रह्म का गुण है, इसका निर्देश

'ब्रह्मणः' इस पद में व्यतिरेक षष्ठी से किया गया है। यदि इसे वाणी और मन का अविषय माना जाय, तो **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्** इस वाक्य का अर्थ होगा-'वाणी और मन के अविषय ब्रह्मानन्द को जानने वाला' इस प्रकार अविषय ब्रह्मानन्द को विषय कहने पर व्याघात दोष उपस्थित होगा और यह श्रुति अनर्थक होगी इसलिए सौ गुना उत्तरोत्तर ब्रह्मानन्द की अतिशय इयत्ता को कहने के लिए उद्यत होकर श्रुति उसकी इयत्ता का अभाव होने से ही इयत्ता को न पाकर वाणी और मन की वहाँ से निवृत्ति को कहती है। **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।**(क.उ.1.3.12), **मनसा तु विशुद्धेन।**(व्या.स्मृ.) ये वाक्य परमात्मा को विशुद्ध मन का विषय कहते हैं। अतः तैत्तिरीयश्रुति का अर्थ यह है-अनन्त(इयत्तारहित) ब्रह्मानन्द की इयत्ता न पाने के कारण मन के सहित वाणी जहाँ से लौट आती है। उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला व्यक्ति संसार भय को प्राप्त नहीं होता।

निर्विशेषाद्वैतियों के मत में **यतो वाचो निवर्तन्ते** यह वाक्य वाणी और मन की ब्रह्म से सर्वथा निवृत्ति को कहता है, वह उचित नहीं क्योंकि वैसा मानने पर निर्विशेष वस्तु का बोध नहीं होगा बल्कि वाणी(शास्त्र) और मन उसके विषय में प्रमाण नहीं हैं, ऐसा बोध होगा और ऐसा होने पर निर्विशेष के तुच्छत्व की सिद्धि होगी। **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ.2.1.1.) यहाँ से आरम्भ करके ब्रह्म का विपश्चित्त्व, जगत्कारणत्व, ज्ञानानन्दैकतानता, दूसरों को आनन्द प्रदान करना, संकल्प से ही सम्पूर्ण संसार का कर्तृत्व, रचित पदार्थों में अनुप्रवेश करके जगत्रूप होना, भय और अभय का कारणत्व, शतगुणित उत्तरोत्तर आनन्द के क्रम से निरतिशय आनन्दत्व तथा अन्य अनेक गुणों का कथन है। ऐसा होने पर भी 'वाक् और मन की ब्रह्म में प्रवृत्ति न होने से वह निर्विशेष है' यह कथन भ्रान्ति से सिद्ध है। इस विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्रह्म निर्विशेष होने से वाक् और मन का अविषय नहीं कहा गया है बल्कि उसके गुणों की इयत्ता न होने से इयत्ता को वाक्, मन का अविषय कहा गया है। अपरिच्छिन्न(इयत्ता रहित) रूप से ब्रह्मानन्द वाक् और मन का विषय होता ही है इसलिए **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्** ऐसा श्रुति कहती है।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति।(तै.उ.2.8.1) इस प्रकार सभी गुणों में प्रधान आनन्द गुण के कथन से मीमांसा का आरम्भ किया जाता है, इस कारण ही इस वल्ली का नाम आनन्दवल्ली है। **स एको ब्रह्मण आनन्दः।** (तै.उ.2.8.4) इस प्रकार विचार्यमाण ब्रह्म के आनन्द के स्वरूप का वर्णन किया जाता है। इसके अनन्तर **स य एवंवित्।**(तै.उ.2.8.5), **अस्माल्लोकात्प्रेत्य।**(तै.उ.2.8.5) और **आनन्दमयमात्मानमुप- संक्रामति।**(तै.उ.2.8.5) इस प्रकार पुनः ब्रह्मोपासक को पूर्वोक्त आनन्दादि गुणों से विशिष्ट ब्रह्म की प्राप्तिरूप फल का निर्देश किया गया है, इन सभी अर्थों का संग्राहक, प्रकृत उपक्रम का भी उपक्रम **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ. 2.1.1) यह वाक्य पूर्व में कहा गया है, इस प्रकार बाध के लेश से भी रहित अत्यन्त अनुकूल प्रकरण का अर्थ होने पर भी श्रीशंकराचार्य के द्वारा व्याख्यात अर्थ का कुछ विचार किया जाता है-

'अज्ञान की निवृत्ति के लिए सर्वोपाधिरूप विशेष से रहित आत्मा का साक्षात्कार कराने के लिए **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** इत्यादि मन्त्र आरम्भ किया जाता है'-**अज्ञानस्य निवृत्त्यर्थं विधूतसर्वोपाधिविशेषात्म-दर्शनार्थमिदमारभ्यते ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादि।**(तै.उ.शां.भा.2.1.1) इस प्रकार आचार्य शंकर ने आनन्दवल्ली की अवतरणिका में जो तात्पर्य प्रकट किया है, वह इस प्रकरण के किस वाक्य का अथवा किस पद का अर्थ है? इसका उत्तर देना चाहिए। वस्तुतः वह श्रुतिसम्मत नहीं है क्योंकि **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।** इस उपक्रमवाक्य में ही सविशेष ब्रह्म, उसकी प्राप्ति तथा प्राप्ति का साधन वेदन कहा गया है। उपक्रम और उपसंहार में एकरूपता न होने पर भी उपक्रम के अनुरूप उपसंहारवाक्य का तात्पर्य समझना चाहिए- **उपक्रमवदुपसंहारो कर्तव्यः**, ऐसा सभी विद्वानों का मत है किन्तु इस प्रकरण में उपक्रम-उपसंहार आदि सभी तात्पर्यनिर्णायक लिंग सविशेषाद्वैत सिद्धान्त के ही अनुकूल हैं। निर्विशेषाद्वैतमत में उपक्रम वाक्य का औपचारिक अर्थ किया जाता है, वह उचित नहीं क्योंकि श्रुति उपक्रम में ही औपचारिक प्रयोग नहीं कर सकती। यहाँ मुख्यार्थ को ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है और औपचारिक अर्थ को स्वीकार करने पर **सोऽश्नुते।**(तै.उ.2.1.2) इत्यादि सकलगुणविशिष्टब्रह्मानुभवरूप व्याख्यान वाक्य से भी विरोध होता है। परमार्थब्रह्मस्वरूप का अभावज्ञानरूप अविद्या

से अन्नमयादि बाह्य अनात्म पदार्थों को आत्मत्वेन समझने के कारण मैं अन्नमयादि अनात्म पदार्थों से अन्य नहीं हूँ, ऐसा अभिमान करता है, इस प्रकार ब्रह्म अपना आत्मा होने पर भी अविद्या से अप्राप्त है-**परमार्थब्रह्मस्वरूपाभावदर्शनलक्षणया- ऽविद्ययाऽन्नमयादीन् बाह्यान् अनात्मन आत्मत्वेन प्रतिपन्नत्वाद् अन्नमयाद्यनात्मभ्यो नान्योऽहमस्मीत्यभिमन्यते। एवमविद्ययाऽऽत्मभूतमपि ब्रह्मानाप्तं स्यात्।**(तै. उ.शां.भा.)। इस प्रकार शांकरभाष्य में देहादि अनात्म पदार्थों में आत्मत्वाभिमान को ही ब्रह्म की अप्राप्ति कहकर "श्रुति के द्वारा उपदिष्ट जो सर्वात्मभूत ब्रह्म है, उसका आत्मत्वज्ञानरूप विद्या से उसकी प्राप्ति होना उचित ही है"-**श्रुत्युपदिष्टस्य सर्वात्मब्रह्मण आत्मत्वदर्शनेन विद्यया तदाप्तिरुपपद्यत एव।**(तै.उ.शां.भा.) परमार्थतः सर्वात्मभूत ब्रह्म है, इस दर्शनरूप विद्या से मैं निर्विशेष ब्रह्म हूँ, इस प्रकार होने वाले ज्ञान को ही ब्रह्म की प्राप्ति माना जाता है, यह कथन उचित नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर प्राप्त होने वाले दोषों का परिहार नहीं किया जा सकता और प्रस्तुत व्याख्यान का सर्वशून्यत्व में पर्यवसान होता है। सूर्य के प्रकाश के समान नित्य तथा ब्रह्मस्वरूप से अभिन्न एक ही उपलब्धि के द्वारा एक ही क्षण में उपस्थित सम्पूर्ण भोगों को भोगता है, जिसका हमने **सत्यं ज्ञानमनन्तम्।**(तै.उ.2.1.1) यहाँ पर ज्ञानम् पद से कथन किया है। यही विषय **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ.2.1.2) इस वाक्य से कहा जाता है। ब्रह्मभूत विद्वान् ब्रह्मस्वरूप से ही सम्पूर्ण भोगों को एक साथ भोगता है-**सह युगपद् एकक्षणोपारूढानेव एकयोपलब्ध्या सवितृप्रकाशवत् नित्यया ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तया यामवोचाम सत्यं ज्ञानमनन्तमिति। एतत्तदुच्यते-ब्रह्मणा सहेति। ब्रह्मभूतो विद्वान् ब्रह्म- स्वरूपेणैव सर्वान् कामान् सह अश्नुते।**(तै.उ.शां.भा.)। प्रस्तुत श्रुति और उसका यह व्याख्यान भी निर्विशेषब्रह्मभावात्मिका मुक्ति का प्रतिपादन नहीं करता अपितु उससे विपरीत विषय का ही प्रतिपादन करता है। **ब्रह्मभूतो विद्वान् ब्रह्मस्वरूपेणैव** इस कथनमात्र से अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि 'सर्वान्= निरवशिष्टान्, कामान्= भोगान्' ऐसा भी कहा जाता है। 'सः विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् अश्नुते।' इस प्रकार श्रुति में ये सात पद सुने जाते हैं। क्या ये पद पृथक् पृथक् अर्थों के बोधक हैं? या नहीं? इनमें

प्रथम पक्ष में मुक्तात्मा सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सभी भोगों(कल्याण गुणों) का अनुभव करता है, यह अर्थ सम्भव होने से निर्विशेषाद्वैती की अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। द्वितीय पक्ष में पदों की व्यर्थता ही सिद्ध होती है, जब कि व्याख्याताओं के द्वारा सभी पदों की सार्थकता ही कही जाती है। निर्विशेषाद्वैतसम्मत मुक्ति को सिद्ध करने के लिये ' हिरण्यगर्भादि उपाधि यों में भोग्यत्वेन अभिमत जो सुखविशेष हैं, वे ब्रह्मानन्द से अभिन्न होने के कारण ब्रह्मभूत विद्वान् उन सभी आनन्दों का अनुभव करता है इसलिए सर्वान् कामान् यहाँ उपचार से बहुवचन प्रयुक्त हुआ है'-**ये सुखविशेषाः हिरण्यगर्भाद्युपाधिषु भोग्यत्वेनाभिमताः तेषां सर्वेषां ब्रह्मानन्दाव्यतिरेकाद् ब्रह्मभूतो विद्वान् सर्वानेवानन्दानश्नुत इत्युपचारेण बहुवचनमित्यर्थः**।(आ. व्या.) यह जो व्याख्या की जाती है, वह उचित नहीं क्योंकि **सर्वान् कामानश्नुते** इस वाक्य से 'एक अपरिच्छिन्न आनन्द का अनुभव करता है' इस अर्थ की सर्वथा प्रतीति नहीं होती। घट, मठ आदि उपाधियों से अवच्छिन्न आकाश के बहुत्व के अभिप्राय से 'सर्वाणि आकाशानि' ऐसा व्यवहार कहीं भी नहीं देखा जाता। सर्वान् पद में सर्व शब्द और उससे युक्त बहुवचन इन दोनों से काम का स्वाभाविक बहुत्व ज्ञात होता है, उसका अपलाप करना उचित नहीं। उक्त श्रुति के बल से विपश्चित्(सर्वज्ञ) ब्रह्म और उसके सर्व काम का अनुभव स्वीकार करना ही पड़ेगा। बहुत प्रयास से कर्ता, क्रिया और कर्म के मध्य में कर्मरूप आनन्द की अनुभविता(अनुभव कर्ता) से एकता मानने पर भी कर्ता और क्रिया का किसी भी युक्ति से निराकरण संभव न होने से ब्रह्म के अनुभविता को और उसके अनुभव को भी मोक्ष में मानना ही पड़ेगा। **ब्रह्मणा** का जो ब्रह्मभूत अर्थ किया गया, वह भी संगत नहीं क्योंकि मुक्तात्मा का भी ब्रह्म से भेद श्रुतिसिद्ध है और **सहयुक्तेऽप्रधाने**(अ.सू.2.3.19) सूत्र से हुई तृतीया विभक्ति भी भेद को सिद्ध करती है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म के साथ कामना के विषय उसके सभी गुणों का अनुभव करता है, इस यथाश्रुत अर्थ को स्वीकार करने पर सभी अनुभाव्य(कल्याण गुणों) से विशिष्ट ब्रह्म का अनुभव करता है, यह निर्दुष्ट अर्थ फलित होता है। निर्विशेषाद्वैती के द्वारा ब्रह्मणा पद का ब्रह्मभूत अर्थ स्वीकार करने पर भी उसकी अभीष्ट सिद्धि नहीं होती क्योंकि विपश्चिता पद ब्रह्म का विशेषण है, उससे

सर्वज्ञत्वरूप विपश्चितत्व ब्रह्म का धर्म सिद्ध होता है, इससे सविशेष ब्रह्म ही सिद्ध होता है, निर्विशेष नहीं।

यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते।(तै.उ.2.6.3)इस श्रुति का 'क्योंकि सत्-त्यत् आदि जो कुछ मूर्त-अमूर्त कार्यसमुदाय है, सामान्यरूप से वह सभी कार्यसमुदाय सत् शब्द का वाच्य एक ब्रह्म ही हुआ है, क्योंकि उससे भिन्न नामरूप विकार का अभाव है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता उसे सत्य ऐसा कहते हैं'-**यस्मात्सत्त्यदादिकं मूर्तामूर्तधर्मजातं यत्किञ्चेदं सर्वमविशिष्टं विकारजातमेकमेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्माभवत् तद्व्यतिरेकेणाभावात् नामरूपविकारस्य तस्मात्तद् ब्रह्म सत्यमित्याचक्षते ब्रह्मविदः।**(तै.उ.शां. भा.) यह ब्रह्म की सत्यतापरक व्याख्यान है। इसमें **यदिदं किञ्च** का पूर्वोक्त सत्, त्यत्, निरुक्त, अनिरुक्त आदि से अभेदान्वय स्वीकार करके **यदिदं किञ्च** इस वाक्य के अर्थ के अन्तर्गत पूर्वोक्त अर्थ को भी लिया जाता है, वह उचित नहीं क्योंकि 'सत्यमभवत्' पर्यन्त विद्यमान 'सच्च त्यच्चाभवत्' यह वाक्य निराकांक्ष है अतः 'यदिदं किञ्च' इसके साथ उसका अन्वय करके अर्थ करना संभव नहीं अपितु यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध होने के कारण **तत्सत्यमित्याचक्षते** यहाँ तत् शब्द को यत् शब्द की अपेक्षा होती है और पूर्व में **यदिदं किञ्च** इस प्रकार यत् शब्द सुना जाता है अतः उन दोनों का परस्पर में अन्वय अवश्य करना चाहिए। जैसे 'घटादि मृन्मय दिखाई देते हैं। जो यह है, उसे देवदत्त कहते हैं-घटादि मृन्मयो दृश्यते। योऽयं तं देवदत्तमाचक्षते' यहाँ योऽयम् का अन्वय पूर्व वाक्य के साथ नहीं होता, वैसे ही **यदिदं किञ्च** का पूर्व वाक्य के साथ अन्वय नहीं हो सकता अतः प्रमाण से ज्ञात जो यह चेतनाचेतनात्मक जगत् है, वह सत्य है क्योंकि उसका ज्ञान से बाध नहीं होता, ऐसा तत्ववेत्ता महापुरुष कहते हैं, इस प्रकार जगत की सत्यता ही प्रकृत वाक्य से प्रतिपादित है, इसे स्वीकार करना चाहिए। ब्रह्म की सत्यता तो पूर्व में **सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्।**(तै.उ.2.6.3) इस वाक्य में सत्यम् पद से कही गयी है।

ब्रह्मानन्दवल्ली के अष्टम अनुवाक में **आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।** (तै.उ.2.8.5)के व्याख्यान में प्रापक और प्राप्य की एकता मानकर

कर्मकर्तृभाव के विरोध की शंका उठाकर बड़े प्रयास से 'ब्रह्मविद्या के द्वारा जो अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपदेश किया जाता है। वह अविद्याकृत अन्नमयादि कोशरूप विशेष आत्मा की अर्थात् आत्मत्वेन आरोपित अनात्मा की निवृत्ति के लिए है-**या हि ब्रह्मविद्यया स्वात्मप्राप्तिरुपदिश्यते, साविद्याकृतस्यान्नादिविशेषात्मन आत्मत्वेन अध्यारोपितस्यात्मनोऽपोहार्था।** (तै.उ.शां.भा.) इस प्रकार जो अन्नमयादि अनात्म पदार्थों में आत्मत्वभ्रम की निवृत्तिरूप उपसंक्रान्तिपरक व्याख्यान किया है, उसकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि उक्त व्याख्यान करने के लिए प्रापक जीवात्मा और प्राप्य परमात्मा की एकता की जो शंका उठायी गयी है, वह उचित नहीं क्योंकि उन दोनों का भेद सैकड़ों श्रुतियों से सिद्ध[1] है अत: एकता मानने पर उन सभी श्रुतियों से विरोध होता है। उसी अनुवाक में उपसंक्रान्ति के वर्णन के पूर्व **स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य** यह पाठ है। निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्मवेत्ता का उत्क्रमण मान्य न होने से **अस्माल्लोकात्प्रेत्य** यह श्रुति वाक्य व्यर्थ होता है। उपसंक्रन्ति के वर्णन के पूर्व विस्तार से गुणभूत आनन्द की मीमांसा किये जाने से, **स एको ब्रह्मण आनन्दः।**(तै.उ.2.8.4) **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्** इस प्रकार अनन्यथासिद्ध व्यतिरेक निर्देश होने से तथा **आनन्दमयमात्मानमुपसंक्राति।**(तै.उ.2.8.5) और **आनन्दमयमात्मानम् उपसंक्रम्य।**(तै.उ.3.10.5) यहाँ प्रचुरता अर्थ में मयट् प्रत्यय सुने जाने से स्पष्ट है कि इस प्रकरण में आनन्द से उपलक्षित ब्रह्म के समस्त कल्याण गुणों का प्रधानता से वर्णन किया गया है, श्रुतिसिद्ध इन गुणों का किसी भी स्थिति में अपलाप नहीं किया जा सकता इसलिए सकलकल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करने वाली आत्मा शरीर से निकलकर इस लोक से जाकर तादृशगुणविशिष्ट ब्रह्म को प्राप्त करता है, यह अकाट्य अर्थ ही यहाँ प्रतिपादन करने के लिए इष्ट है।

इससे अतिरिक्त निम्न तात्पर्यनिर्णयक लिङ्गों के द्वारा भी तैत्तिरीयोपनिषत् का तात्पर्य सविशेष अद्वय ब्रह्म में निश्चित होता है-

तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग

---

1. इसका व्याख्यान विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में देखना चाहिए।

उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छः लिङ्गों के द्वारा प्रकरण के तात्पर्य का निर्णय किया जाता है- **उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥**

1.उपक्रम-उपसंहार

जिस अर्थ के प्रतिपादन में प्रकरण का तात्पर्य होता है, उसी से प्रकरण का उपक्रम(आरम्भ) करते हैं और उसी अर्थ में प्रकरण का उपसंहार(समाप्ति) अतः उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता प्रकरण के तात्पर्यनिर्णय में हेतु मानी जाती है। जैसे **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ.2.1.1) यह उपक्रम वाक्य प्राप्ति का साधन व प्रापक के साथ ही वेद्य और प्राप्य सविशेष ब्रह्म का वर्णन करता है तथा **स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।**(तै.उ.3.10.4) यह उपसंहार वाक्य आदित्यमण्डल में स्थित और मनुष्य की हृदयगुहा में स्थित सविशेष आनन्दमय ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करता है।

2.अभ्यास

जिस अर्थ में प्रकरण का तात्पर्य होता है, उसकी बार-बार आवृत्ति ही अभ्यास नामक लिङ्ग कहा जाता है। **तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।**(तै.उ.2.1.2), **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽना- त्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने** (तै.उ.2.7.2), **भीषास्माद् वातः पवते।**(तै.उ.2.8.1) इत्यादि रीति से विभिन्न वाक्यों के द्वारा सविशेष ब्रह्म की ही आवृत्ति की गयी है। इससे भी विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म में ही तैत्तिरीयोपनिषत् का तात्पर्य निश्चित होता है।

3.अपूर्वता

प्रकरण के प्रतिपाद्यविषय की शास्त्र से अतिरिक्त प्रमाण के द्वारा सिद्धि न होना ही अपूर्वता लिङ्ग कहा जाता है। **यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।**(तै.उ.2.9.1) इस प्रकार प्रस्तुत आनन्दमयविद्या में वर्णित मन-वाणी का अविषय जो विशिष्ट ब्रह्म की अपरिच्छिन्नता है, वह अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं। इस प्रकार अपूर्वता लिङ्ग के द्वारा भी तैत्तिरीय के प्रतिपाद्य सविशेष अद्वैत ब्रह्म की ही सिद्धि होती है।

4.फल

प्रतिपाद्य वस्तु को विषय करने वाला फल भी तात्पर्य के निर्णय में हेतु माना जाता है। **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ. 2.1.2) इस प्रकार सविशेष ब्रह्म के ज्ञान का फल सकलकल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्म का अनुभव कहा गया है। इससे भी सविशेष ब्रह्म में ही तैत्तिरीयप्रकरण के तात्पर्य का निश्चय होता है।

5.अर्थवाद

प्रशंसाबोधक अथवा निन्दाबोधक वाक्य को अर्थवाद कहा जाता है। यह भी प्रतिपाद्य अर्थ के निर्णय में हेतु होता है। **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।** (तै.उ.2.7.2) इस वाक्य से सविशेष ब्रह्म की निरन्तरस्मृति की प्रशंसा और स्मृतिविच्छेद की निन्दा की गयी है, इनसे भी सविशेष ब्रह्म में ही प्रकरण के तात्पर्य का निश्चय होता है।

6.उपपत्ति

तात्पर्य अर्थ की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किये गये तर्क को उपपत्ति कहते हैं। **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**(तै.उ.2.6.2) **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।**(तै.उ.3.1.1) इत्यादि अन्तरात्मारूप से प्रवेश के बोधक वाक्य तथा कार्य-कारण के अभेदबोधक सृष्टिवाक्य विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि में उपपत्ति हैं।

तैत्तिरीयोपनिषत् का सार

प्रस्तुत उपनिषत् तीन वल्लियों में विभाजित है। प्रथम शीक्षावल्ली में विभिन्न शिक्षाओं और उपासनाओं का उपदेश करके तालु के दो भागों के मध्य में लटकती हुई एक स्तनाकार मांसग्रन्थि का शरीरविज्ञान की दृष्टि से वर्णन है। जिसमें स्थित सुषुम्ना नाडी परमात्मा की प्राप्ति का साधन कही गयी है। इसके आगे शिष्य के समावर्तन संस्कार के अवसर पर आचार्य सत्यभाषण एवं धर्माचरणादि का उपदेश करते हुए तत्परता से गार्हस्थोचित देवकर्म, पितृकर्म और अतिथिसत्कार आदि कर्म करने को

कहते हैं। वेदों के स्वाध्याय और अध्यापन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। महापुरुषों के शास्त्रसम्मत आचरण का ही अनुसरण करना चाहिए, अन्य का नहीं इत्यादि कल्याणकारक शिक्षाएँ दी गयीं हैं तथा विविध प्रकार की उपासनाओं का भी निरूपण किया गया है, जिनका आश्रय लेने से मुमुक्षु के लिए औपनिषत् सिद्धान्त सुबोध हो जाता है।

द्वितीय ब्रह्मानन्दवल्ली का सूत्रात्मक वाक्य **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।** (तै.उ.2.1.1) है, इसमें ब्रह्म, उसकी प्राप्ति का साधन वेदन और प्राप्ति वर्णित है। आगे के वाक्य इसी के व्याख्यानस्वरूप हैं, उनमें **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।** (तै.उ.2.1.1)इस प्रकार ब्रह्म का लक्षण कहा गया है। उसे सभी का उपादान और सभी का अन्तर् आत्मा कहते हुए आनन्दमय कहा गया है। इस सूक्ष्म तत्त्व को समझाने के लिए स्थूलारुन्धती न्याय से अन्नमयादि चारों का उससे पूर्व में वर्णन किया गया है। फिर **सोऽकामयत। बहु स्याम्।** (तै.उ.2.6.2) इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादान कारणत्व का वर्णन करते हुए उसकी सर्वरूपता कही गयी है। यहीं पर जगत्कारण को असत् अर्थात् अव्याकृत कहा गया है। ब्रह्म रस अर्थात् आनन्दरूप है, उसे पाकर ज़ीव आनन्द वाला हो जाता है। वह रस ही जीव को लौकिक और मोक्षरूप आनन्द प्रदान करने वाला है। जब इस परमात्मा में निरन्तर स्मृतिरूप स्थिति होती है, तब ब्रह्मवेत्ता अभय को प्राप्त करता है और जो उसका थोड़ा भी विच्छेद करता है, उसे भय प्राप्त होता है, इस प्रकार श्रुति परमात्मस्मृति के विच्छेद को ही भय का हेतु कहती है। इसके पश्चात् मनुष्यादि के उत्तरोत्तर शत गुणात्मक आनन्द का और परमात्मा के निरतिशय आनन्द का वर्णन करते हुए यह भी कहा गया है कि वह निष्काम ब्रह्मवेत्ता को अनायास प्राप्त है। अगाध सागर के तुल्य निरतिशय आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त कर लेने पर बिन्दुतुल्य तुच्छ सांसारिक सुख क्या अप्राप्त रह सकते हैं? इसके पश्चात् आदित्यमण्डलस्थ और हृदयस्थ परमात्मा का अभेद बताते हुए उस अभिन्न आनन्दमय को जानने का फल अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय का अन्तरात्मा आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति कही गयी है। इसे प्राप्त करने पर कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता। इसी में जीवन की कृतार्थता है और यही जीवन का परम लक्ष्य है।

इस प्रकार ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या का निरूपण कर उसकी निष्पत्ति का हेतु अन्तःकरण की निर्मलता का साधन तप को प्रदर्शित करने के लिए भृगुवल्ली में एक आख्यायिका प्रस्तुत की गयी है। ब्रह्मजिज्ञासु भृगु अपने पिता वरुण ऋषि के पास जाकर ब्रह्म को जानने की प्रार्थना करता है। इस पर आचार्य ने ब्रह्मज्ञान के अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी इन छः साधनों का उपदेश करके यह भी कहा कि जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है, उसे जानो, वह ब्रह्म है। भृगु ने इन्द्रियनिग्रहरूप तप करके सर्व प्रथम अन्न को ही ब्रह्म जाना। उसमें सन्देह होने पर पिता के उपदेश से प्राण को ब्रह्म जाना, इसी प्रकार पुनः पुनः सन्देह उपस्थित होने पर पिता के पुनः पुनः आदेश से तप करके आनन्दवल्ली में आनन्दमय शब्द से कहे गये आनन्द के ही ब्रह्मत्व का निश्चय किया। इससे उपदेशप्राप्ति के अनन्तर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये तप की अनिवार्यता भी सूचित होती है। इसके पश्चात् अन्नदानादि का वर्णन करके अन्त में मुक्तात्मा का सर्वात्मा आनन्दमय ब्रह्म के अनुभव से जन्य आनन्दातिरेक से होने वाला सामगानरूप उद्गार प्रस्तुत किया गया है। वह लोकोत्तर आनन्द से उन्मत्त होकर गा उठता है- **हा 3 वु हा 3 वु हा 3 वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहं श्लोककृदहं श्लोककृद् अहं श्लोककृत्।**(तै.उ.2.10.5-6)मुक्त के इस कृतकृत्यतासूचक सामगान से यह भी निश्चय होता है कि मुक्तात्मा सकलविभूतिविशिष्ट सविशेष ब्रह्म का आनन्दात्मक अनुभव करता है।

माण्डूक्योपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्य की ज्ञानगङ्गाव्याख्या तथा माण्डूक्योपनिषत् की तत्त्वविवेचनीव्याख्या लेखन के पश्चात् पूज्य गुरुदेव, भगवती भागीरथी गङ्गामाता, पराम्बा श्रीसीतामाता और भगवान् श्रीमद्रामचन्द्र के अहेतुक अनुग्रह से प्रस्तुत तैत्तिरीयोपनिषत् का व्याख्यालेखन सम्पन्न हुआ। इस कार्य में मुझे विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के सभी सम्मान्य पूर्वाचार्यों की संस्कृत व्याख्याओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिये मैं इनका चिरकृतज्ञ हूँ।

इस उपनिषत् की शीक्षावल्ली के अन्तर्गत प्रत्येक अनुवाक के अन्त में कुछ शब्द उपलब्ध होते हैं। जैसे प्रथम के अन्त में **सत्यं वदिष्यामि पञ्च**

च, द्वितीय के अन्त में **शीक्षां पञ्च** इत्यादि। प्रत्येक अनुवाक में दस-दस वाक्यों का एक विभाग मानकर अनुवाक की समाप्ति पर प्रत्येक विभाग के दशम वाक्य का प्रतीक लेकर ये शब्दसमूह बनते हैं। पाठ को स्मरण करने की सुविधा के लिए ऐसी व्यवस्था की गयी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में उभयवेदान्तग्रन्थमाला चेन्नई(सन1973) से तथा संस्कृत संशोधनसंसत् मेलुकोटे, कर्नाटक(सन2005) से प्रकाशित तैत्तिरीयोपनिषत् के अनुसार मूलपाठ प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत उपनिषत् की मन्त्रसंख्या का निर्देश करने के लिए पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम्, पूर्णप्रज्ञसंस्कृत विद्यापीठ बेंगलूर से प्रकाशित 'उपनिषद्भाष्यम्'(सन 1997) और मोतीलाल बनारसीदास लाहौर(सन1937) से प्रकाशित 'एकादशोपनिषदः' का प्रधानता से सहयोग प्राप्त हुआ है, एतदर्थ मैं इन प्रकाशनों के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम् कुटीरम्, गंगालाइन
स्वर्गाश्रम(ऋषीकेश)
उत्तराखण्ड,पिन-249304
चलवाणी-8057825137(रात्रि 8-9)

सरस्वती जयन्ती
माघ शुक्ल पञ्चमी
वि.सं.2073

विषयानुक्रमणिका

तैत्तिरीयोपनिषत्

शिक्षावल्ली

प्रथमोऽनुवाकः

शान्तिपाठः

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।। (सत्यं वदिष्यामि पञ्च च।।)

।। इति प्रथमोऽनुवाकः।।

द्वितीयोऽनुवाकः

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।।1।। (शीक्षां पञ्च)।।2।।

।। इति द्वितीयोऽनुवाकः।।

तृतीयोऽनुवाकः

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातस्सँहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यम् अधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासँहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्।।1।।

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः।। वैद्युतस्संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्।।2।।

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं संधानम्। इत्यधिविद्यम्।।3।।

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः। प्रजननं सन्धानम्। इत्यधिप्रजम्।।4।।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्॥5॥

इतीमा महासँहिताः। य एवमेता महासँहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥6॥ (सन्धिराचार्यः पूर्वरूपमित्यधिप्रजं लोकेन)॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

चतुर्थोऽनुवाकः

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्॥ शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥1॥

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासाँसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा॥2॥

आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा॥3॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा॥4॥

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा पाहि प्र मा पद्यस्व॥5॥ (वितन्वाना, विशस्वाहा सप्त च॥)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

पञ्चमोऽनुवाकः

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते॥1॥

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूँषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।।2।।

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।।3।। (असौ लोको यजूँषि वेद द्वे च।)

।। इति पञ्चमोऽनुवाक ।।

षष्ठोऽनुवाकः

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।।1।।

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि।।2।।

आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत् ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मप्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनयोग्योपास्व।।3।। (वायावमृतमेकं च।)

सप्तमोऽनुवाकः

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानस्समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माँसँस्नावास्थि मज्जा। एतदधि विधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदँ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तँ स्पृणोतीति।।1।। (सर्वमेकञ्च।)

।। इति सप्तमोऽनुवाकः ।।

अष्टमोऽनुवाकः

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदँ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो

श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओ ँ शोमिति शस्त्राणि शँसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति॥1॥ (ओं दश।)

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

नवमोऽनुवाकः

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥1॥ (प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च षट् च।)

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

दशमोऽनुवाकः

अहंवृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणँ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोऽक्षितः। इति त्रिशङ्को-र्वेदानुवचनम्॥1॥(अहँ षट्।)

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

एकादशोऽनुवाकः

वेदमनूच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्॥1॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥2॥

ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।।3।।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणास्संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणास्संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।।4।। (स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं तानि त्वयोपास्यानि स्यात् तेषु वर्तेरन सप्त च)

।। इति एकादशोऽनुवाकः ।।

द्वादशोऽनुवाकः

शान्तिपाठः

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद् वक्तारम् आवीत्। आवीन्माम्। आवीद् वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।। (सत्यमवादिषं पञ्च च।)

।। इति द्वादशोऽनुवाकः ।।

ब्रह्मानन्दवल्ली

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

प्रथमोऽनुवाकः

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।।1।।

तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्

पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

।। इति प्रथमोऽनुवाकः ।।

द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपियन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधम् उच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।।1।।

तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

तृतीयोऽनुवाकः

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।।1।।

तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

।। इति तृतीयोऽनुवाकः ।।

चतुर्थोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।।1।।

तस्माद् वा एतस्माद् मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।

तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

पञ्चमोऽनुवाकः

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान् समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।।1।

तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

।। इति पञ्चमोऽनुवाकः।।

षष्ठोऽनुवाकः

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।।
तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।।

अथातोऽनुप्रश्नाः। उता विद्वान् अमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित् समश्नुता 3 उ।।1।।

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च। निलयनञ्चानिलयनञ्च। विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च। सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। तत् सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

सप्तमोऽनुवाकः

असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति।।

यद् वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष

ह्येवाऽऽनन्दयाति।।1।।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

अष्टमोऽनुवाकः

भीषाऽस्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।।

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधु युवाध्यायकः आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।।1।।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्ध र्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानाम् आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।।2।

ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।।3।।

ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।।4।। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयम् आत्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयम् आत्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।।5।।

।। इति अष्टमोऽनुवाकः ।।

नवमोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति।।

एतं ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम्। किमहं पापम् अकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।।1।।

।। इति नवमोऽनुवाकः ।।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

।। इति ब्रह्मानन्दवल्ली ।।

भृगुवल्ली

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

प्रथमोऽनुवाकः

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत् प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।।1।।

द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।।1।।

।। इति द्वितीयोऽनुवाकः ।।

तृतीयोऽनुवाकः

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म

विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

चतुर्थोऽनुवाकः

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

पञ्चमोऽनुवाकः

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

षष्ठोऽनुवाकः

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥1॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

सप्तमोऽनुवाकः

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरम् अन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥1॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अष्टमोऽनुवाकः

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।।1।।

।। इति अष्टमोऽनुवाकः ।।

नवमोऽनुवाकः

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।।1।।

।। इति नवमोऽनुवाकः ।।

दशमोऽनुवाकः

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद् वै मुखतोऽन्नं राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद् वै मध्यतोऽन्नं राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद् वा अन्ततोऽन्नं राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते। य एवं वेद।।1।।

क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीस्समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे।।2।।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति।।3।।

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः।।4।।

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्।

अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानम् उपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमय- मात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन्। एतत् साम गायन् आस्ते।।

हा 3 वु हा 3 वु हा 3 वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहम् अन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता 3 स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना 3 भा इ । यो मा ददाति स इदेव मा 3 वाः।। अहमन्नमन्नमदन्तमा 3द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा 3म्।। सुवर्णज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।।8।।

।। इति भृगुवल्ली।।

।। इति तैत्तिरीयोपनिषत् ।।

तैत्तिरीयोपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित

येन व्याप्तमिदं सर्वं चेतनाऽचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्गुणौघं तं सीतारामं नमाम्यहम्।।1।।
सूत्रवृत्तिकृतौ नत्वा व्यासबोधायनौ मुनी।
भाष्यकर्तारमाचार्यं प्रणमामि पुनः पुनः।।2।।
विद्याचार्यान् हनूमन्तं गङ्गां च श्रीगुरुं भजे।
तैत्तिरीयकमन्त्राणां कुर्वे व्याख्यां यथामति।।3।।

शिक्षावल्ली

प्रथमोऽनुवाकः

शान्तिपाठः

ॐ शं नो मित्रः शं[1] वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।। (सत्यं वदिष्यामि पञ्च च[2]।।)

।। इति प्रथमोऽनुवाकः।।

अन्वय

मित्रः नः शम्। वरुणः शम्। अर्यमा नः शं भवतु। इन्द्रः बृहस्पतिः नः शम्। उरुक्रमः विष्णुः नः शम्। ब्रह्मणे नमः। वायो ते नमः। त्वम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि। त्वाम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तत् माम् अवतु। तत् वक्तारम् अवतु। माम् अवतु। वक्तारम् अवतु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

---

1. **मित्रश्शं वरुणः** इत्यपि पाठो दृश्यते।
2. **सत्यं वदिष्यामि पञ्च च**-'शं नो मित्रः शं वरुणः' से लेकर 'सत्यं वदिष्यामि' पर्यन्त 10 वाक्य और इसके आगे के 5 वाक्य मिलाकर 15 वाक्य होते हैं।

अर्थ

मित्रः-मित्र देवता **नः**-हमारे लिए **शम्**-सुखप्रद हो। **वरुणः**-वरुण देवता (हमारे लिए) **शम्**-सुखप्रद हो। **अर्यमा**-अर्यमा देवता **नः**-हमारे लिए **शम्**-सुखप्रद **भवतु**-हो। **इन्द्रः**-इन्द्र (और) **बृहस्पतिः**-बृहस्पति देवता **नः**-हमारे लिए **शम्**-सुखप्रद हों। **उरुक्रमः**-विस्तृत पैरों वाला (वामनरूप- धारी) **विष्णुः**-भगवान् विष्णु **नः**-हमारे लिए **शम्**-सुखप्रद हो। **ब्रह्मणे**-वेद को **नमः**-नमस्कार है। **वायो**-हे वायु! **ते**-तुम्हें **नमः**-नमस्कार है। **त्वम्**-तुम **एव**-ही **प्रत्यक्षम्**-प्रत्यक्ष **ब्रह्म**-वेद **असि**-हो। मैं **त्वाम्**-तुमको **एव**-ही **प्रत्यक्षम्**-प्रत्यक्ष **ब्रह्म**-वेद **वदिष्यामि**-कहूँगा। मैं **ऋतम्**-ऋत **वदिष्यामि**-बोलूँगा। मैं **सत्यम्**-सत्य **वदिष्यामि**-बोलूँगा। **तद्**-वह ब्रह्म **माम्**-मेरी(मुझ अध्येता की) **अवतु**-रक्षा करे। **तद्**-वह ब्रह्म **वक्तारम्**-आचार्य की **अवतु**-रक्षा करे। वह ब्रह्म **माम्**-मेरी **अवतु**-रक्षा करे। **वक्तारम्**-आचार्य की **अवतु**-रक्षा करे। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**-सभी विघ्नों की शान्ति हो।

व्याख्या

प्रस्तुत **शं नो मित्रः** इत्यादि मन्त्र शिक्षावल्ली का शान्तिपाठ है। प्राण और दिन का अभिमानी देवता मित्र है। प्राण सबका अत्यन्त प्रिय है क्योंकि इसके विना कोई जीवित नहीं रहता अतः इसका पोषक देवता सूर्य सबका मित्र कहलाता है। कुछ विद्वानों के मत में यहाँ मित्र का अर्थ सूर्य नहीं है क्योंकि आगे अर्यमा शब्द से सूर्य का कथन किया जायेगा। अन्य विद्वानों के अनुसार मित्र का अर्थ सूर्य ही है क्योंकि अर्यमा शब्द पितृदेवताविशेष का वाचक है। सुख का वाचक 'शम्' यह अव्यय पद सुखप्रद का भी वाचक है[1]। मित्र देवता हमारे आचार्य और हम सभी सतीर्थ्यों को सुखप्रदान करें। अपान वायु तथा रात्रि का अधिष्ठाता देवता वरुण है, वह देवता भी हम सभी को सुखप्रद हो। यहाँ प्राण के अभिमानी मित्र के साहचर्य से अपान के अभिमानी वरुण को ग्रहण करना चाहिए। चक्षु और सूर्यमण्डल का अधिष्ठाता देवता अर्यमा है। मित्र, वरुण और

1. शमित्यव्ययं सुखवाचीव सुखकरवाच्यपि, अत एव 'शन्तमेन' इति विशेषणतयाऽपि निर्देशः श्रुतौ।(भा.प.)।

अर्यमा ये आदित्यविशेष हैं। शास्त्रों में द्वादश आदित्य कहे गये हैं, उनमें मित्रादि 3 यहाँ उल्लिखित हैं। भुजाओं, बल और वर्षा का अभिमानी देवता इन्द्र है। वाणी और बुद्धि का अभिमानी देवता बृहस्पति है, ये भी हम सभी को सुखप्रदान करने वाले हों। यहाँ विष्णु पद से पैरों का अधिष्ठाता देवता कहा गया है, ऐसा वेदभाष्यकार सायणाचार्य का कथन है किन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार साक्षात् परमात्मा का ही कथन है। उरुक्रमः का अर्थ है-विस्तृत पादविन्यास वाला अर्थात् बड़े बड़े कदम रखने वाला। सात्त्विक प्रकृति वाले देवताओं का हित करने में तत्पर वामनरूपधारी भगवान् विष्णु ने एक पग में पूरी पृथ्वी को नाप लिया था। मित्रादि देवताओं से प्रार्थना करने के उपरान्त अध्येय वेद को नमस्कार किया जाता है। 'नमो ब्रह्मणे[1]' यहाँ ब्रह्म का अर्थ वेद है। 'नमस्ते वायो!' इस प्रकार शब्दोच्चारण का कारण[2] वायु देवता को नमस्कार किया जाता है। **त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि** यहाँ भी ब्रह्म का अर्थ वेद है। वेद का उच्चारण वायु के अधीन है, वह ही कण्ठ, तालु आदि विभिन्न उच्चारण स्थानों से अभिहत होकर विविध अक्षरराशिरूप वेदाख्य ब्रह्म का रूप धारण करती है इसलिए उस वायु को ब्रह्म(वेद) कहा जाता है और सबके द्वारा अनुभूयमान होने से उसे ही प्रत्यक्ष कहा जाता है अथवा त्वगिन्द्रियग्राह्य होने से वायु प्रत्यक्ष होती है और श्रोत्र-इन्द्रियग्राह्य होने से वेदाख्य ब्रह्म प्रत्यक्ष होता है, इस प्रकार प्रत्यक्षत्व की समानता के कारण वायु को ब्रह्म कहा जाता है।

ऋत और सत्य शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, ऐसी लोक में प्रसिद्धि है। अबाधित अर्थ का बोधक वचन सत्य कहलाता है और वही

---

1. वेदभाष्यकार भास्कर और सायण के अनुसार ब्रह्म का अर्थ परब्रह्म है-**ब्रह्मणे परब्रह्मणे**।(भा.भा., सा.भा.)। अन्य विद्वान् ब्रह्म का अर्थ वेद करते हैं, इनके अनुसार ब्रह्म अर्थ होने पर वह चेतन होने से 'नमस्ते ब्रह्मन्' ऐसा कथन होना चाहिए। वेद नमस्कार्य होने पर भी चेतन न होने से उसे सम्बोधित करना सम्भव न होने से 'नमस्ते ब्रह्मन्' न कहकर 'नमो ब्रह्मणे' कहा गया है।
2. वायु ही प्राण, अपान आदि रूपों में परिणत होकर देह को धारण करती है, बाह्य वायु की जीवनधारकता प्रसिद्ध ही है, इस कारण भी वायु को नमस्कार किया जाता है।

ऋत कहलाता है किन्तु प्रस्तुत वैदिक शान्तिपाठ में दोनों शब्दों का साथ प्रयोग होने से पुनरुक्ति दोष प्रसक्त होता है, इसकी निवृत्ति के लिए ऋत का अर्थ अपभ्रंश का अभावरूप शब्द की सत्यता और सत्य का अर्थ यथावस्थित अर्थ का कथनरूप अर्थ की सत्यता किया जाता है-**ऋतत्वम् अपभ्रंशराहित्यलक्षणं शब्दसत्यत्वम्। सत्यत्वञ्च यथावस्थितार्थकथनरूपमर्थसत्यत्वमिति न पौनरुक्त्यम्।**(रं.भा.)। अपभ्रंश का अर्थ है-अशुद्धि, यह भी दोष है। इसका अभावरूप होती है-शब्द की सत्यता। अशुद्ध शब्द को बोलना भी असत्य बोलना है और अशुद्धि से रहित शब्द को बोलना ऋत बोलना कहलाता है। ब्राह्मण को अपभाषण नहीं करना चाहिए। जो अशुद्ध शब्द का प्रयोग है, वह अपभाषण ही है-**ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।**(म.भा.प.) इस प्रकार महाभाष्यकार ने भी अशुद्धभाषण करने का निषेध किया है। जिससे ऋतभाषण की कर्तव्यता सिद्ध होती है। जो पदार्थ प्रमाण से जैसा ज्ञात होता है, उसे विना परिवर्तन के वैसा ही बोलना सत्य बोलना है। मैं ऋत(सत्य संस्कृत) शब्द को बोलूँगा और सत्य अर्थ को प्रकट करूँगा, यह **ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि** का तात्पर्य है। प्रस्तुत वल्ली में आगे वर्ण, स्वर और मात्रा आदि का उपदेश अपभ्रंश से भिन्न शुद्ध संस्कृत शब्द बोलने के लिए किया गया है, इसके पश्चात् उपनिषत् के प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन किया गया है, इससे ऋत और सत्य शब्दों के पूर्वोक्त अर्थों के औचित्य की पुष्टि होती है। अब अध्येय वेद के प्रतिपाद्य ब्रह्म से प्रार्थना की जाती है। ब्रह्म विघ्नों से मेरी रक्षा करे और मेरे आचार्य की रक्षा करे, इस विषय में अत्यन्त आदर होने के कारण इसी को भिन्न वाक्यों से भी कहा जाता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि भौतिक इन सभी विघ्नों की शान्ति के लिए तीन बार शान्ति कही जाती है।

'वदिष्यामि' इस कथन से **शं नो मित्रः** यह मन्त्र वेदाध्ययन का अङ्ग ज्ञात होता है, ब्रह्मविद्या का नहीं[1]। यह विषय उत्तरमीमांसा के **वेधाद्यर्थभेदात्**(ब्र.सू.3.3.25) इस सूत्र में कहा गया है।

---

1. **ऋतं वदिष्यामि**,.....इत्यादिमन्त्रसामर्थ्यादेव स्वाध्यायशेषत्वं **शं नो मित्रः** इत्यादिमन्त्राणामवगम्यते अतो न तेषां विद्याङ्गत्वमिति।(श्रीभा.3.3.25)।

द्वितीयोऽनुवाकः

शीक्षां[1] व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः[2]॥1॥ (शीक्षां पञ्च[3])॥2॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः॥

अन्वय

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इति शीक्षाध्यायः उक्तः।

अर्थ

अब हम वेद के उपकारक **शीक्षाम्**-शिक्षाशास्त्र का **व्याख्यास्यामः**-वर्णन करेंगे। **वर्णः**-अकारादि वर्ण हैं। **स्वरः**-उदात्त आदि स्वर हैं। **मात्रा**-ह्रस्वादि मात्राएँ हैं। वर्णोच्चारण में किया जाने वाला **बलम्**-आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न बल है। वर्णोच्चारण की **साम**-समता साम है। **संतानः**-संहिता संतान है। **इति**-इस प्रकार **शीक्षाध्यायः**-शिक्षाशास्त्र से सम्बन्धित अध्याय(संक्षेप में) **उक्तः**-कहा गया।

व्याख्या

छन्दशास्त्र वेद भगवान् के पैर कहलाते हैं और कल्पसूत्र उनके हाथ कहलाते हैं। ज्योतिष्शास्त्र नेत्र और निरुक्त कान कहलाते हैं। शिक्षाशास्त्र को वेद की नासिका और व्याकरण को मुख कहा जाता है इसलिए इन छः अङ्गों के सहित वेदों का अध्ययन करके ही मनुष्य ब्रह्मलोक में पूजित होता है-**छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥ शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥**(पा.शि.41-42), इन छः अंगों में शिक्षाशास्त्र वेदाध्ययन का अत्यन्त उपकारक है इसलिए तैत्तिरीयश्रुति उसका वर्णन करती है-

---

1. 'शीक्षाम्' इति दीर्घश्छान्दसः।
2. शीक्षाऽधीयतेऽवगम्यतेऽनेनेति शीक्षाध्यायः।(तै.दी.)।
3. इस अनुवाक् में **शीक्षाम्**-'शिक्षां व्याख्यास्यामः' से आरम्भ करके **पञ्च**-पाँच वाक्य होते हैं।

शिक्षा

जिससे वर्ण सीखे जाते हैं और वर्णों के उच्चारण की विधि सीखी जाती है, उसे शिक्षाशास्त्र कहते हैं-**शिक्ष्यन्ते वर्णाः शिक्ष्यते च वर्णोच्चारणविधिः यया सा शिक्षा।** आधुनिक विद्वान् जिसे ध्वनिविज्ञान कहते हैं, प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में उसे शिक्षा कहा गया है। प्रस्तुत उपनिषत् में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान ये छः शिक्षा के अंग कहे गये हैं।

वर्ण

जो वर्णित होते हैं अर्थात् स्पष्टरूप से ध्वनित(उच्चरित) होते हैं, वे अकारादि वर्ण कहलाते हैं-**वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णा अकारादयः।** भगवान् महेश्वर के मत में 63 या 64 वर्ण माने जाते हैं-**त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।**(पा.शि.3), उनमें 21 स्वर, 25 स्पर्शसंज्ञक, 8 यादि, चार यम, अनुस्वार, विसर्ग, दूसरे के आश्रित रहने वाले जिह्वामूलीय और उपध्मानीय, दुःस्पृष्ट और प्लुत लृकार जानना चाहिए-**स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥ अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵ क ᳶ प चापि पराश्रितौ। दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥**(पा.शि. 4-5) इनमें प्लुत लृकार को छोड़ने पर वर्णों की संख्या 63 होती है।

ह्रस्व-अ ह्रस्व-इ ह्रस्व-उ ह्रस्व-ऋ
दीर्घ-आ दीर्घ-ई दीर्घ-ऊ दीर्घ-ॠ
प्लुत-अ3 प्लुत-ई3 प्लुत-ऊ3 प्लुत-ऋ3
3 + 3 + 3 + 3+ 1 ह्रस्व लृ= 13 स्वर
दीर्घ-ए दीर्घ-ओ दीर्घ-ऐ दीर्घ-औ
प्लुत-ए3 प्लुत-ओ3 प्लुत-ऐ3 प्लुत-औ3
2 + 2 + 2 + 2 = 8 स्वर
....
= 21.स्वर

क - ख - ग - घ - ङ.

च - छ - ज - झ - ञ

ट - ठ - ड - ढ - ण

त - थ - द - ध - न

प - फ - ब - भ - म

5 + 5 + 5 + 5 + 5 = 25 स्पर्श

यण्= य - व - र् - ल = 4

शल्= श - स - ष - ह = 4

4 यण् + 4 शल् = 8 यादि

21 स्वर + 25 स्पर्श + 8 यादि + 4 यम[1]+ 1 अनुस्वार + 1 विसर्ग + 1 जिह्वामूलीय[2]+ 1 उपध्मामूलीय[3]+ 1 दु:स्पृष्ट ळ[4]+1 प्लुत लृकार= 64 वर्ण।

स्वर

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर होते हैं-**उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रय:।**(पा.शि.11)। तालु आदि उच्चारण स्थानों के उर्ध्व भाग से उच्चारण किया गया स्वर उदात्त कहलाता है- **उच्चैरुदात्त:**(अ. सू.1.2.29), निम्न भाग से उच्चारण किया गया स्वर अनुदात्त कहलाता है- **नीचैरनुदात्त:**(अ.सू.1.2.30)और मध्य भाग से उच्चारण किया गया स्वर स्वरित कहलाता है- **समाहार: स्वरित:**(अ.सू.1.2.31)। महाभाष्य के अनुसार उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित के पूर्व में स्थित उदात्त और एकश्रुति(प्रचय) ये सात स्वर होते हैं-**सप्त स्वरा: भवन्ति, उदात्त:, उदात्ततर:, अनुदात्त:, अनुदात्ततर:, स्वरित:, स्वरिते य उदात्त: सोऽन्येन विशिष्ट:, एकश्रुति: सप्तम:।**(म. भा.1.2.33)। इनमें भिन्नत्वेन कहे गये चार स्वर तीन के ही अन्तर्गत हैं।

---

1. वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्ण: प्रातिशाख्ये प्रसिद्ध:।(सि.कौ.सं)।
2. ≍क ≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीय:।(ल.कौ.सं.)।
3. ≍प ≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश: उपध्मानीय:।(ल.कौ.सं.)।
4. दु:स्पृष्टो डकारस्थानिको ळकार:।

मात्रा

प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में कुछ समय अपेक्षित होता है। किसी वर्ण के उच्चारण में अल्प समय लगता है और किसी वर्ण के उच्चारण मे अधिक। वर्णोच्चारण में लगने वाले समय के परिमाण को मात्रा कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं-ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। एकमात्रा वाले वर्ण को ह्रस्व और दो मात्रा वाले वर्ण को दीर्घ कहा जाता है। तीन मात्रा वाले वर्ण को प्लुत और अर्धमात्रा वाले वर्ण को व्यञ्जन जानना चाहिए-**एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते। त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम्॥**(या.शि.15)।

बल

वर्णोच्चारण में किये जाने वाले प्रयत्न को बल कहते हैं, वह दो प्रकार का होता है-आभ्यन्तर और और बाह्य।

आभ्यन्तरप्रयत्न

वर्ण की उत्पत्ति के पूर्व में किया जाने वाला प्रयत्न आभ्यन्तर प्रयत्न कहलाता है, इसके 5 भेद होते हैं-स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत।

बाह्यप्रयत्न

वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात् किया जाने वाला प्रयत्न बाह्यप्रयत्न कहलाता है, इसके 8 भेद होते हैं-विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण।

साम

वर्णों का मध्यम वृत्ति से उच्चारण साम कहलाता है, इसका अर्थ समता है-**साम समता वर्णानामुच्चारणे समवृत्तिरूपा।**(आ.भा.)। अतिशीघ्रता और अतिविलम्ब को छोड़कर वर्णों के उच्चारण में जो समय अपेक्षित होता है, उतने ही समय में किया गया उच्चारण साम कहलाता है अथवा गान करके कहे जाने वाले वेद के मन्त्रविशेष साम कहलाते हैं, उसके रथन्तरादि भेद प्रसिद्ध हैं-**सामानि गीतयो रथन्तरादयः।**(तै.भा.)।

संतान

अव्यवधान को संहिता या संतान कहा जाता है, उसके वर्णसंहिता, अक्षरसंहिता और पदसंहिता ये भेद होते हैं।

ऊपर शिक्षा नामक ग्रन्थविशेष का संक्षेप से कथन करके अब विद्या के फल की प्राप्ति के लिए गुरु और शिष्य दोनों के द्वारा की जाने वाली प्रार्थना कही जाती है–

तृतीयोऽनुवाकः

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातस्सँहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यम् अधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासँहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्॥1॥

अन्वय

नौ यशः सह। नौ ब्रह्मवर्चसम् सह। अथ अतः पञ्चसु अधिकरणेषु संहितायाः उपनिषदं व्याख्यास्यामः। अधिलोकम् अधिज्यौतिषम् अधिविद्यम् अधिप्रजम् अध्यात्मम्। ताः महासंहिताः इति आचक्षते। अथ अधिलोकम्। पूर्वरूपम् पृथिवी। उत्तररूपम् द्यौः। सन्धिः आकाशः। संधानम् वायुः। अधिलोकम् इति।

अर्थ

नौ–हम दोनों का **यशः**–यश **सह**–साथ साथ हो। **नौ**–हम दोनों का **ब्रह्मवर्चसम्**–ब्रह्मतेज **सह**–साथ साथ हो। **अथ**–शिक्षा के व्याख्यान के पश्चात् **अतः**–चित्त की एकाग्रता होने के कारण **पञ्चसु**–पाँच **अधिकरणेषु**– स्थानों में विद्यमान **संहितायाः**–संहिता के **उपनिषदम्**–रहस्य(उपासना) का **व्याख्यास्यामः**–वर्णन करेंगे। **अधिलोकम्**–लोक में **अधिज्यौतिषम्**–ज्योति में **अधिविद्यम्**–विद्या में **अधिप्रजम्**–प्रजा में (और) **अध्यात्मम्**–शरीर में जो विद्यमान हैं, **ताः**–वे **महासंहिताः**–महासंहिताएँ

हैं, **इति**-ऐसा **आचक्षते**-कहा जाता है। **अथ**[1]-अब **अधिलोकम्**-लोक में विद्यमान संहिता के रहस्य का उपदेश किया जाता है।(संहिता होने पर सन्धि होती है, उसमें) **पूर्वरूपम्**-पूर्व वर्ण **पृथिवी**-पृथिवी है। **उत्तररूपम्**-उत्तर वर्ण **द्यौः**-स्वर्ग है। **सन्धिः**-सन्धि **आकाशः**-अन्तरिक्ष है। दोनों को **संधानम्**-मिलाने वाली **वायुः**-वायु है। इस प्रकार **अधि लोकम्**- लोकसम्बन्धी संहितोपासना का उपदेश **इति**-सम्पन्न होता है।

व्याख्या

शं नो मित्रः.....इस प्रकार उपनिषत् के आरम्भ में मंगलाचरण किया ही गया है, तो यहाँ पुनः **सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्** इस मंगलाचरण की क्या आवश्यकता है? यह शंका उचित नहीं क्योंकि विद्याएँ अनेक हैं इसलिए प्रत्येक विद्या के आरम्भ में मंगलाचरण करना चाहिए, इस अभिप्राय से **अथातस्सँहितायाः** इत्यादि प्रकार से वक्ष्यमाण विद्या का मंगल किया जाता है।

यश

प्रस्तुत संहितोपनिषत् के अध्ययन-अध्यापन से इस लोक में होने वाली कीर्ति को यश कहा जाता है-**संहितोपनिषदध्ययनाध्यापनजन्यं यशो लोके ख्यातिः**।(आ.भा.)। क्या आज की भाँति वैदिकयुग के ऋषि भी यश के भूखे थे? कदापि नहीं इसलिए अध्ययन-अध्यापन में व्यापृत शिष्य और आचार्य के दुष्कर्म से होने वाले अपयश का अभाव-**दुष्कर्मजन्यापयशोऽभावः** ही यहाँ यश शब्द से विवक्षित है, ऐसा समझना चाहिए। दुष्कर्म से अपयश अवश्यम्भावी है अतः हम सभी की सत्कर्म में ही प्रवृत्ति हो, दुष्कर्म में न हो, यह तात्पर्य है।

ब्रह्मवर्चस

वेद के अध्ययन और अध्यापन से जन्य तेज ब्रह्मवर्चस कहलाता है-**वेदाध्ययनाध्यापनजन्यं तेजो ब्रह्मवर्चसम्**। यह सामर्थ्यविशेष है, त्वचा की दीप्ति नहीं है। नियमपूर्वक अध्ययन-अध्यापन से प्राप्त होने वाले इस सामर्थ्यविशेष के कारण मनुष्य प्राणसंकट उपस्थित होने पर भी

1. अथशब्दो वाक्योपक्रमे।(प्र.)

दुर्जनों के द्वारा किये गये अन्याय व अत्याचार के सामने घुटने नहीं टेक सकता- **तेजः दुर्जनैरनभिभवनीयत्वम्।**(गी.रा.भा.16.3)। दुर्जनों के द्वारा पीडित किये जाने पर सामान्य मनुष्य विवश होकर स्वधर्म का परित्याग कर देता है किन्तु ब्रह्मतेजसम्पन्न व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, उसे ब्रह्मवर्चस आत्मबल प्रदान करता है, जिससे वह प्रत्येक परिस्थिति में निर्भीक रहकर स्वधर्म का पालन करने में तत्पर रहता है।

संहितोपनिषत्

अथातस्सँहिताया उपनिषदम्...इस वाक्य में अथ शब्द अनन्तर अर्थ में है। मंगलाचरण करने पर भी शिष्य के मन की एकाग्रता न होने से वह उपदेश से लाभान्वित नहीं हो सकता इसलिए **अथ**-वर्ण, स्वरादि के उच्चारण के अभ्यास के अनन्तर **अतः**-एकाग्रता सम्पन्न होने के कारण अब 5 अधिकरणों में विद्यमान संहिता के रहस्य का उपदेश किया जाएगा। एकान्त में उपदिश्यमान गोपनीय विषय को रहस्य कहा जाता है, वह रहस्य उपासना ही है अथवा अतः का अर्थ 'फलजनक होने के कारण' है, इस उपासना[1] का फल आगे वर्णित है। "शिक्षाशास्त्र के उपदेश के अनन्तर संहितोपासना फलजनक होने से उसकी प्राप्ति के इच्छुक जन के लिए उसका उपदेश किया जाएगा" यह **अथातस्सँहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः** का अर्थ है अथवा वक्ष्यमाण संहिता के रहस्य को समझने के लिए **अतः**-शिक्षाशास्त्र के उपदेश की अपेक्षा होने के कारण **अथ**-उपदेश के पश्चात् रहस्य का उपदेश किया जायेगा, यह अर्थ है।

अधिकरण

लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और शरीर ये पाँच अधिकरण ही अधिलोकम्, अधिज्यौतिषम्, अधिविद्यम्, अधिप्रजम् और अध्यात्मम् इन शब्दों से कहे गये हैं।

---

1. यहाँ प्रतिपादित उपासना मोक्ष की साधन ब्रह्मोपासना नहीं है, अपितु वह दृष्टिरूप(आरोप) है, दृष्टि के विवरण के लिए माण्डूक्योपनिषद् रङ्गरामानुजभाष्य की ज्ञानगङ्गा व्याख्या का अवलोकन करना चाहिए।

महासंहिता

परः सन्निकर्षः संहिता(अ.सू.1.4.109) इस पाणिनीय सूत्र से वर्णों के अतिशय सन्निधि की संहिता संज्ञा होती है। उक्त लोकादि अधिकरणों में आरोपित संहिताएं महासंहिताएं कही जाती हैं, यहाँ पर महत् शब्द पूज्य का बोधक है, महासंहिता का 'पूज्या संहिता' अर्थ है-**लोकादिषु पञ्चस्वधिकरणेषु अध्यस्यमानाः संहिताः महासंहिताः। महच्छब्दः पूज्यवचनः। पूज्या इत्यर्थः।**(रं.भा.)।

अधिलोकम्

अथाधिलोकम् इस वाक्य में अथ शब्द अधिकार अर्थ में है। लोकसम्बन्धी रहस्य का वर्णन आरम्भ किया जाता है, यह उक्त वाक्य का अर्थ है। इसी प्रकार आगे **इत्यधिलोकम्** में इति शब्द समाप्ति अर्थ में है। लोकसम्बन्धी रहस्य का उपदेश समाप्त होता है, यह उस वाक्य का अर्थ है, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए।

अब संहिता के पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि और संधान इन चार अवयवों की लोक अधिकरण में दृष्टि कही जाती है-

पृथिवी पूर्वरूपम् इस वाक्य में पूर्वरूप का अर्थ पूर्ववर्ण है और **द्यौरुत्तररूपम्** इस वाक्य में उत्तररूप का अर्थ उत्तरवर्ण है। वेदपाठ में भी पद के घटक वर्णों का अव्यवधान से उच्चारण किया जाता है, पढ़े जाने वाले वर्णो के अतिशय सन्निधिरूप संहिता में पूर्व वर्ण पृथ्वी है और उत्तर वर्ण स्वर्ग है, ऐसा चिन्तन(दृष्टि) करना चाहिए। पूर्ववर्ण पूर्वस्थान में (नीचे) विद्यमान होता है और पृथ्वी भी नीचे विद्यमान होती है, इस प्रकार दोनों में समता है अतः पूर्व वर्ण को पृथ्वी कहा जाता है। उत्तर वर्ण ऊपर विद्यमान होता है और स्वर्ग भी ऊपर विद्यमान होता है इसलिए दोनों में समानता है अतः उत्तर वर्ण को स्वर्ग कहा जाता है। वैसा क्यों कहा जाता है? उपासना के लिए क्योंकि वह फल का जनक है। आकाश सन्धि है। पूर्व और उत्तर वर्ण जिसमें सम्बद्ध(एकत्रित) किये जाते हैं, उसे सन्धि कहते हैं-**सन्धिः सन्धीयेते सम्बध्येते पूर्वोत्तररूपे यस्मिन् सः सन्धिः।** (म.प्र.) इसका अर्थ है-अन्तराल या मध्य भाग। उक्त दोनों वर्णो का अन्तराल आकाश अर्थात् अन्तरिक्षलोक है। वर्णो के अन्तराल में

आकाशदृष्टि करनी चाहिए, यह अभिप्राय है।

सन्धि शब्द का उक्त अर्थ कूरनारायणभाष्य और मिताक्षरा व्याख्या का अनुसरण करता है।[1]। संहिता संज्ञा होने पर सन्धि होती है। रङ्गरामानुजभाष्य, आनन्दभाष्य और सुबोधिनी के अनुसार संहिता संज्ञा के अनन्तर होने वाला सन्धि कार्य ही यहाँ सन्धि शब्द से विवक्षित है, उनके अनुसार अ+उ=ओ इत्यादि सन्धिस्थल उदाहरण हैं। संयुक्त अक्षर 'ओ' में पूर्व अवयव अकार है, उत्तर अवयव उकार है और ओकार स्वयं आकाश है अर्थात् पूर्व वर्ण अकार में पृथ्वीदृष्टि करनी चाहिए, उत्तर वर्ण उकार में स्वर्गदृष्टि और ओकार में आकाशदृष्टि करनी चाहिए, यह अभिप्राय है। पूर्व और उत्तर वर्णों के साथ उच्चारण का हेतु जो यत्न है, वह संधान कहलाता है अथवा उक्त दोनों वर्णों की सन्धि का हेतु जो यत्न है, वह संधान है। दोनों लोकों में संचरण करके उनको मिलाने वाली वायु संधान है अर्थात् संधान में वायुदृष्टि करनी चाहिए, यह तात्पर्य है। इस प्रकार वक्ष्यमाण फल की प्राप्ति के लिए लोकविषयक संहितोपासना का कथन किया जाता है।

पूर्व में लोक में विद्यमान संहिता के रहस्य का उपदेश किया गया और अब ज्योति में विद्यमान उसी का उपदेश किया जाता है–

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः॥ वैद्युतस्संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्॥2॥

अन्वय

अथ अधिज्यौतिषम्। पूर्वरूपम् अग्निः। उत्तररूपम् आदित्यः। सन्धिः आपः। संधानं वैद्युतः। अधिज्यौतिषम् इति।

अर्थ

अथ-अब **अधिज्यौतिषम्**-ज्योतिर्विषयक संहिता के रहस्य का उपदेश किया जाता है। **पूर्वरूपम्**-पूर्व वर्ण **अग्निः**-अग्नि है। **उत्तररूपम्**-उत्तर वर्ण **आदित्यः**-सूर्य है। **सन्धिः**-सन्धि **आपः**-जल है। **संधानम्**-संधान **वैद्युतः**-विद्युत् है, इस प्रकार **अधिज्यौतिषम्**-ज्योतिर्विषयक

1. शांकरभाष्य में भी ऐसा ही अर्थ है।

संहिता के रहस्य का उपदेश **इति**-सम्पन्न होता है।

व्याख्या

अधिज्यौतिषम्-वर्णों के अतिशय संन्निधिरूप संहिता में पूर्व वर्ण अग्नि है और उत्तर वर्ण आदित्य है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। पूर्ववर्ण पूर्वस्थान में (नीचे) विद्यमान होता है और विख्यात अग्नि भी नीचे (भूलोक में)विद्यमान होती है इसलिए पूर्ववर्ण और अग्नि इन दोनों में समानता है अतः पूर्व वर्ण को अग्नि उपासना के लिए कहा जाता है। उत्तर वर्ण ऊपर विद्यमान होता है और आदित्य भी ऊपर विद्यमान होता है इसलिए उत्तर वर्ण और आदित्य में समानता है अतः उत्तर वर्ण को आदित्य कहा जाता है। उत्तर वर्ण में आदित्यदृष्टि करनी चाहिए, यह 'आदित्यः उत्तररूपम्' का अभिप्राय है। जैसे दो वर्णों के मध्य में सन्धि (अन्तराल) होती है वैसे ही अग्नि और आदित्य के मध्यवर्ती मेघ में तथा मध्यवर्ती अन्य स्थान में भी जल सूक्ष्मरूप से (जलीयकण) होता है, इस प्रकार सन्धि तथा जल में समानता होने से पूर्व और उत्तर वर्णो की सन्धि को जल समझना चाहिए।

रङ्गरामानुजभाष्य में कहा है कि अग्नि में विधिपूर्वक समर्पित की गयी आहुति आदित्य में पहुँच जाती है, इस प्रकार कही रीति से आहुति का सम्बन्ध होने पर अग्नि का पूर्वरूपत्व और आदित्य का उत्तररूपत्व होता है-**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।**(म.स्मृ.3.76, म.भा. शां.263.12, अ.पु.216.11, भ.पु.1.54.5) **इत्युक्तरीत्या आहुतिसम्बन्धे अग्न्यादित्ययोः पूर्वोत्तरत्वम्।**(रं.भा.)। जैसे पूर्व और उत्तर वर्ण का सम्बन्ध होने पर सन्धि होती है वैसे ही आहुति के द्वारा अग्नि और आदित्य का सम्बन्ध होने पर वर्षाजल होता है, इस प्रकार सन्धि और जल में समानता होती है अतः सन्धि को जल कहा जाता है, दो वर्णों की सन्धि में जलदृष्टि करनी चाहिए, यह 'आपः सन्धिः' का अभिप्राय है। जैसे दो वर्णों की सन्धि का हेतु संधान(यत्न) होता है, वैसे ही जल का हेतु आकाश में स्थित विद्युत्[1](विद्युतरूप अग्नि) होती है, इस प्रकार

1. आकाशस्थ विद्युत को दिव्य तेज कहा जाता है, इसकी जल के प्रति हेतुता **अपां संघातो विलयनञ्च तेजस्संयोगात्**(वै.सू.5.2.8) इस सूत्र से कही गयी है, इसे विस्तार से समझने के लिए प्रशस्तपादभाष्य की न्यायकन्दली व्याख्या द्रष्टव्य है।

संधान और आकाशस्थ विद्युत् में समानता होने के कारण संधान में विद्युत्दृष्टि का विधान किया जाता है।

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं संधानम्। इत्यधिविद्यम्।।3।।

अन्वय

अथ अधिविद्यम्। पूर्वरूपम् आचार्यः। उत्तररूपम् अन्तेवासी सन्धिः विद्या। संधानं प्रवचनम्। अधिविद्यम् इति।

अर्थ

अथ-ज्योतिर्विषयक संहितारहस्योपदेश के अनन्तर **अधिविद्यम्**-विद्याविषयक संहितारहस्योपदेश किया जाता है। **पूर्वरूपम्**-पूर्व वर्ण **आचार्यः**-आचार्य है। **उत्तररूपम्**-उत्तर वर्ण **अन्तेवासी**-शिष्य है। **सन्धिः**-सन्धि **विद्या**-विद्या है। **संधानम्**-संधान **प्रवचनम्**-अध्यापन है। इस प्रकार **अधिविद्यम्**[1]-विद्याविषयक संहितोपासना का उपदेश **इति**-संपन्न होता है।

व्याख्या

अधिविद्यम्-सेवा करके प्राप्त की गयी विद्या जीवन में काम आती है, अन्यथा नहीं इसलिए सेवा करके विद्या प्राप्त करने के लिए 'गुरु के समीप रहने का स्वभाव जिसका है, उसे अन्तेवासी कहते हैं'-**अन्ते समीपे वसितुं शीलमस्येति अन्तेवासी**, इसका अर्थ है-शिष्य। पूर्ववर्ण पूर्व में और उत्तरवर्ण उत्तर में विद्यमान होता है, इसी प्रकार विद्या की परम्परा में आचार्य पूर्व में और अन्तेवासी उत्तर में विद्यमान होता है, इस प्रकार समानता होने के कारण पूर्ववर्ण को आचार्य और उत्तर वर्ण को अन्तेवासी कहा जाता है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध होने पर गुरु के द्वारा शिष्य को विद्या अधिगत होती हैं, सन्धि वह विद्या है। सन्धि का जनक संधान होता है। वह(संधान) आचार्य का प्रवचन है। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र से पूर्ववर्ण में आचार्यदृष्टि, उत्तर वर्ण में अन्तेवासीदृष्टि, सन्धि में विद्यादृष्टि और संधान में प्रवचनदृष्टि का विधान किया जाता है।

---

1. विद्यापदेन विद्यासम्बन्धिनो गुरुशिष्यादयः अप्युच्यन्ते।(आ.भा.)।

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः। प्रजननं सन्धानम्। इत्यधिप्रजम्[1]।।4।।

अन्वय

अथ अधिप्रजम्। पूर्वरूपम् माता। उत्तररूपं पिता। सन्धिः प्रजा। संधानं प्रजननम्। अधिप्रजम् इति।

अर्थ

अथ-विद्याविषयक संहितोपासना के उपदेश के पश्चात् **अधिप्रजम्**-पुत्रपौत्रादिसंतानविषयक संहिता की उपासना का उपदेश किया जाता है। **पूर्वरूपम्**-पूर्ववर्ण **माता**-माता है। **उत्तररूपम्**-उत्तर वर्ण **पिता**-पिता है। **सन्धिः**-सन्धि **प्रजा**-संतान है। **संधानम्**-संधान **प्रजननम्**-पुत्र की उत्पत्ति है। इस प्रकार **अधिप्रजम्**-प्रजाविषयक संहितोपासना का उपदेश **इति**-सम्पन्न होता है।

व्याख्या

अधिप्रजम्-माता पुत्र को गर्भ में धारण करती है, उसे जन्म देती है और उसका पालन पोषण करती है, इस प्रकार पुत्र का सर्वाधिक उपकार करने के कारण संहिता के पूर्ववर्ण को माता कहा जाता है। माता के पश्चात् जन्मदाता पिता पुत्र का उपकारक होता है इसलिए उत्तर वर्ण को पिता कहा जाता है। माता-पिता स्नेहवशात् अपनी सन्धि(मध्यवर्ती स्थान)में प्रजा(संतान) को बैठाते हैं इसलिए सन्धि को प्रजा कहा जाता है अथवा जैसे दो वर्णों के संयोग से सन्धि होती है, वैसे ही माता-पिता के संयोग से प्रजा उत्पन्न होती है, इस प्रकार सादृश्य होने से सन्धि को प्रजा कहा जाता है। वर्णों के संयोग का जनक संधान होता है और दम्पती के संयोग का जनक प्रजनन(पुत्र की उत्पत्ति) होता है अर्थात् प्रजनन के निमित्त से दोनों संयोग करते हैं। इस प्रकार संधान और प्रजनन में समानता होने से संधान को प्रजनन कहा जाता है। इस मन्त्र से पूर्ववर्ण में मातृदृष्टि, उत्तर वर्ण में पितृदृष्टि, सन्धि में संतानदृष्टि और संधान में प्रजननदृष्टि का विधान किया जाता है।

---

1. प्रजापदेन प्रजासम्बन्धिनो जननीप्रभृतयो गृह्यन्ते।(आ.भा.)।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्॥5॥

अन्वय

अथ अध्यात्मम्। पूर्वरूपम् अधरा हनुः। उत्तररूपम् उत्तरा हनुः। सन्धिः वाक्। संधानं जिह्वा। अध्यात्मम् इति।

अर्थ

अथ-प्रजासम्बन्धी संहितोपासना के उपदेश के पश्चात् **अध्यात्मम्**-शरीरसम्बन्धी संहितोपासना का उपदेश किया जाता है। **पूर्वरूपम्**-पूर्व वर्ण **अधरा**-नीचे का **हनुः**-हनु है। **उत्तररूपम्**-उत्तर वर्ण **उत्तरा**-ऊपर का **हनुः**-हनु है। **सन्धिः**-सन्धि **वाक्**-शब्द है। **संधानम्**-संधान **जिह्वा**- जीभ है। इस प्रकार **अध्यात्मम्**-शरीरसम्बन्धी संहितोपासना का उपदेश **इति**-सम्पन्न होता है।

व्याख्या

अध्यात्म-पूर्ववर्ण पूर्व में(नीचे) विद्यमान होता है और नीचे का हनु(निम्न जबड़े से लेकर ठोढ़ी तक का भाग) भी पूर्व में(नीचे) विद्यमान होता है, इस प्रकार दोनों में परस्पर समानता होने से पूर्ववर्ण में निम्नहनुदृष्टि करनी चाहिए तथा उत्तर वर्ण पर में विद्यमान होता है और ऊर्ध्व हनु(ऊर्ध्व जबड़े से लेकर ऊपरी भाग) भी पर में (ऊपर) विद्यमान होता है, इस प्रकार दोनों में साम्य होने से उत्तर वर्ण में उर्ध्वहनुदृष्टि करनी चाहिए। जैसे दो वर्णों के बीच में सन्धि(अन्तराल)होती है, वैसे ही दो ओष्ठों के बीच में शब्द होता है अथवा जैसे दो वर्णों के मिलने से सन्धि कार्य होता है, वैसे ही दो ओष्ठों के मिलने से वाक्(शब्द) का उच्चारण होता है, इस प्रकार सन्धि और वाक् में समत्व होने से सन्धि में वाक्दृष्टि करनी चाहिए। शब्दोच्चारण के लिए दोनों ओष्ठों का संधान(मिलाने का हेतु)जिह्वा है, इसलिए संधान में जिह्वादृष्टि करनी चाहिए।

इतीमा महासँहिताः। य एवमेता महासँहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥6॥ (सन्धिराचार्यः पूर्वरूपमित्यधिप्रजं लोकेन)॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अन्वय

इति इमाः महासंहिताः। यः एवं व्याख्याताः एताः महासंहिताः वेद। प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, अन्नाद्येन, सुवर्ग्येण लोकेन संधीयते।

अर्थ

इति-इस प्रकार पूर्व में कही गयी **इमाः**-ये 5 **महासंहिताः**- महासंहिताएँ हैं। **यः**-जो पुरुष **एवम्**- इस प्रकार **व्याख्याताः**-वर्णन की गयी **एताः**-इन **महासंहिताः**-महासंहिताओं की **वेद**-उपासना करता है, वह **प्रजया**-प्रजा से **पशुभिः**-पशुओं से **ब्रह्मवर्चसेन**-ब्रह्मतेज से **अन्नाद्येन**[1]-अन्नादि भोग्य पदार्थो से(और) **सुवर्ग्येण**-स्वर्ग **लोकेन**-लोक से **संधीयते**-युक्त होता है।

व्याख्या

संहितोपासना का फल-पूर्व में 5 प्रकार की महासंहिताओं का वर्णन किया गया। जो पुरुष उनकी उपासना करता है, वह अपने अभीष्ट पुत्र-पौत्रादि संतान, गो, हस्ति आदि पशु, अध्ययन और तप से जन्य तेज तथा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

अब ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए प्रणव से प्रार्थना की जाती है-

चतुर्थोऽनुवाकः

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्॥ शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥1॥

अन्वय

यः छन्दसाम् ऋषभः विश्वरूपः। अमृतात् छन्दोभ्यः अधि संबभूव। सः इन्द्रः मेधया मा स्पृणोतु। देव अमृतस्य धारणः भूयासम्। मे शरीरं विचर्षणम्। मे जिह्वा मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशः असि। मेधया पिहितः। मे श्रुतं गोपाय।

---

1. अदनीयान्नेन(म.प्र.)।

अर्थ

यः-जो (प्रणव)**छन्दसाम्**-वेदों में **ऋषभः**-श्रेष्ठ (और) **विश्वरूपः**-विष्णुरूप है (तथा जो) **अमृतात्**-परमात्मा के द्वारा **छन्दोभ्यः**-सभी वेदों से (उनके) **अधि**-साररूप से **संबभूव**-प्रादुर्भूत हुआ, **सः**-वह **इन्द्रः**-परम ऐश्वर्यशाली प्रणव **मेधया**-ब्रह्मविद्या के द्वारा **मा**-मुझे **स्पृणोतु**[1]-उत्तम जीवन प्रदान करे। **देव**-हे देव प्रणव!(मैं हृदय में) **अमृतस्य**-परमात्मा को **धारणः**-धारण करने वाला **भूयासम्**-हो जाऊँ। **मे**-मेरा **शरीरम्**-शरीर **विचर्षणम्**- रोगरहित हो जाय। **मे**-मेरी **जिह्वा**-जीभ **मधुमत्तमा**-मधुर वचन बोलने वाली हो। मैं **कर्णाभ्याम्**-कानों से **भूरि**-वारम्वार(ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्र को) **विश्रुवम्**-सुनूँ। तुम **ब्रह्मणः**-ब्रह्म की **कोशः**-निधि **असि**-हो (और) **मेधया**-लौकिक बुद्धि से **पिहितः**- आच्छादित हो। **मे**-मेरे **श्रुतम्**-श्रुत विद्या की **गोपाय**-रक्षा करो।

व्याख्या

ब्रह्मविद्या की प्रार्थना-विश्व का अर्थ विष्णु है-**विश्वं विष्णुः**।(वि.स.ना. 1)। विश्व(विष्णु) का प्रतीक होने से और उसके ध्यान का साधन होने से ओंकार को विश्वरूप कहा जाता है-**विश्वं विष्णुः, तत्प्रतीकत्वात् तद्ध्यानसाधनत्वाच्च तद्रूपत्वम्**।(रं.भा.) अथवा विश्व का अर्थ है-सभी शब्द। सम्पूर्ण शब्दों की प्रकृति[2] प्रणव होने के कारण प्रणव विश्वरूप[3] कहा जाता है-**सर्वशब्दप्रकृतित्वाद् वा सर्वरूपत्वम्**।(रं.भा.) अथवा वाच्य विष्णु विश्वरूप होने से उसके वाचक प्रणव को भी विश्वरूप कहा जाता है। परमात्मा के द्वारा सभी वेदों के सारभूत प्रणव का उन वेदों से ही प्रादुर्भाव हुआ[4] अथवा प्रणव **अमृतात्**[5]-नित्य **छन्दोभ्यः**-वेदों से(उनके) **अधि**-साररूप से **संबभूव**- प्रादुर्भूत हुआ। ब्रह्मविद्या के होने पर ही

1. स्पृणोतु उज्जीवयतु। 'स्पृ' प्रीतिरक्षणप्राणनेषु इति हि धातुः।(रं.भा.)।
2. इस विषय को विस्तार से समझने के लिए माण्डूक्योपनिषद् रङ्गरामानुजभाष्य की ज्ञानगङ्गा व्याख्या में 'जगत् की ओंकाररूपता' प्रसङ्ग का अवलोकन करना चाहिए।
3. विश्वं शब्दजातमनेन रूप्यते विस्तीर्यते इति विश्वरूपत्वं प्रसिद्धम्।(कू.भा.)।
4. इसका विशद विवेचन माण्डूक्योपनिषद्रङ्गरामानुजभाष्य की ज्ञानगङ्गा व्याख्या में 'जगत् की ओंकाररूपता' के प्रसङ्ग में किया जा चुका है।
5. 'अमृतात्' अत्र आर्षत्वादेकवचनम्।

उत्तम आनन्दमय जीवन होता है, उसके विना पशुतुल्य दुःखमय अधम जीवन होता है, इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाती है अथवा ब्रह्मविद्या प्रदान कर मुझ पर **स्पृणोतु**[1]-प्रसन्न हों। हृदय में ब्रह्म को धारण करने का अर्थ है-हृदय में ब्रह्म का ध्यान करना। वेदान्तसिद्धान्त में ध्यान, उपासना और विद्या ये सभी पर्याय हैं। 'अमृतस्य देवो धारणो भूयासम्' इस प्रकार ब्रह्मविद्या की अनुवृत्ति की प्रार्थना की जा रही है, अथवा **अमृतस्य**- अमृतत्वसाधकब्रह्मज्ञानस्य(आ.भा.) अर्थात् मोक्ष के साधक ब्रह्मज्ञान को हृदय में धारण करने वाला हो जाऊँ। आपके अनुग्रह से मुझे ब्रह्मज्ञान हो, यह प्रार्थना का तात्पर्य है। रोगी शरीर से ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति नहीं हो सकती, उसके लिए बल और आरोग्य अपेक्षित होते हैं, वे रोगरहित स्वस्थ शरीर में ही होते हैं इसलिए 'शरीरं मे विचर्षणम्' इस प्रकार रोगरहित होने की प्रार्थना की जाती है। कटुवचन बोलने से जिज्ञासु ब्रह्मवेत्ताओं से ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, उनका आशीर्वाद नहीं ले सकता और भगवान् की स्तुति भी नहीं कर सकते अतः 'जिह्वा मे मधुमत्तमा' इस प्रकार मधुर वाणी को प्राप्त करने की प्रार्थना की जा रही है। जिस विषय का पुनः पुनः श्रवण किया जाता है, उसी का मनन होता है। सांसारिक विषयों का पुनः पुनः श्रवण करने पर उनका ही मनन होगा, तो मोक्ष के साधन ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति कैसे होगी? इसलिए कानों से ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्रों के पुनः पुनः श्रवण की प्रार्थना की जा रही है, उनसे ब्रह्म का ही श्रवण होने पर उसका ही मनन और निदिध्यासनरूप विद्या निष्पन्न होगी। मेरा शरीर तथा वाक् और श्रोत्रादि इन्द्रियाँ ब्रह्मविद्या का अर्जन करने में समर्थ हों, यह प्रार्थना का अभिप्राय है। जिसमें कोई वस्तु गुप्तरूप से रखी जाती है, उस आश्रय स्थान को कोश कहा जाता है। ब्रह्म वाच्य है, उसका वाचक(बोधक)प्रणव है इसलिए वह प्रणव में वाचकता सम्बन्ध से रहता है। कोश का आश्रय लेने पर उसमें तिरोहित रत्न की उपलब्धि होती है। प्रणवरूप कोश में ब्रह्म तिरोहित है, उसका आश्रय लेने पर(प्रणव शब्द की उपासना और ब्रह्म का श्रवणादि करने पर) ब्रह्म की

1. स्पृणोतु प्रीणयतु, 'स्पृ' प्रीतिपावनयोः। स्वोपासकस्य मे प्रीतये मेधां दिशत्वित्यर्थः। (तै.भा.)।

अपरोक्ष उपलब्धि होती है। हे प्रणव! तुम विषयविषयिणी लौकिक बुद्धि से आच्छादित हो, इसलिए वैसी बुद्धि वाले सामान्य जन परमात्मप्राप्ति के साधनरूप से तुमको नहीं जानते। गुरु के उपदेश से मुझे प्राप्त ब्रह्मज्ञान की कभी विस्मृति न हो, अपितु मननादि करके ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाऊँ, ऐसा अनुग्रह कीजिए।

पूर्व में ब्रह्मविद्या के लिए प्रणव से प्रार्थना करके अब ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए किये जाने वाले होम के साधनभूत मन्त्र कहे जाते हैं-

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासाँसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा॥2॥

अन्वय

सर्वदा चीरं मम आत्मनः वासांसि च गावः च अन्नपाने कुर्वाणा आवहन्ती वितन्वाना। श्रियं ततः मे लोमशां पशुभिः सह आवह। स्वाहा।

अर्थ

हे देव प्रणव! जो लक्ष्मी देवी **सर्वदा**-सदा **चीरम्**-शीघ्र ही **मम**-मुझ **आत्मनः**-जीवात्मा के लिए **वासांसि**-विभिन्न प्रकार के वस्त्र **च**-और **गावः**-गायें **च**-तथा **अन्नपाने**-खाद्य और पेय पदार्थों को **कुर्वाणा**-उत्पन्न करने वाली **आवहन्ती**-प्राप्त कराने वाली(और प्राप्त वस्तुओं का) **वितन्वाना**-विस्तार करने वाली हैं, उन **श्रियम्**-श्रीदेवी को **ततः**-मेधा प्राप्ति के अनन्तर **मे**-मेरे लिए **लोमशाम्**-रोम वाले भेड़, बकरी आदि के सहित(तथा अन्य उपयोगी) **पशुभिः**-पशुओं के **सह**-सहित **आवह**-ले आओ। इस निमित्त से **स्वाहा**-आहुति देता हूँ।

व्याख्या

जीवनोपयोगी पदार्थों की प्रार्थना-शीतादि के निवारण के लिए वस्त्र अपेक्षित होते हैं। श्रौत-स्मार्त कर्मों के लिए उपयोगी दुग्ध, दधि और घृतादि पदार्थ गायों से प्राप्त होते हैं। अन्नादि पदार्थों का देवाराधन में उपयोग होता है। ऊनी वस्त्रों के लिए रोम वाले पशुओं की आवश्यकता होती है। अश्वादि पशु यात्रा के लिए उपयुक्त होते हैं। श्रीलक्ष्मी देवी इन

सभी अभीष्ट पदार्थों को प्रदान करने वाली हैं, वे कामधेनु और कल्पवृक्ष से भी बढ़कर हैं। यजमान के घर में उनका आगमन होने पर सभी अभीष्ट वस्तुएँ अनायास ही सुलभ हो जाती हैं, इसलिए उनके आगमन की कामना की जाती है। इन सभी पदार्थों का देवाराधनभूत यागादि कर्मों में उपयोग होता है, वे कर्म ब्रह्मविद्या के अङ्ग होते हैं। ब्रह्मविद्या में सभी आश्रमियों का अधिकार है। गृहस्थ व्यक्ति को आचार्य से ब्रह्मविद्याप्राप्ति के पश्चात् उनके साधनभूत कर्मानुष्ठान के लिए वे पदार्थ अपेक्षित होते हैं, विद्याप्राप्त होने पर उनके दुरुपयोग की संभावना नहीं रहती अतः उसके पश्चात् इनकी कामना की जाती है, यही भाव होम के साधनभूत प्रस्तुत मन्त्र में विद्यमान है।

जीवननिर्वाह के लिये उपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति को कहकर अब ब्रह्मविद्या के इच्छुक शिष्यों की प्राप्ति के साधन होम के लिये उपयोगी मन्त्र कहे जाते हैं-

आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।3॥

अन्वय

ब्रह्मचारिणः मा आयन्तु स्वाहा। ब्रह्मचारिणः विमायन्तु स्वाहा। ब्रह्मचारिणः प्रमायन्तु स्वाहा। ब्रह्मचारिणः दमायन्तु स्वाहा। ब्रह्मचारिणः शमायन्तु स्वाहा।

अर्थ

ब्रह्मविद्या को चाहने वाले **ब्रह्मचारिणः**-ब्रह्मचर्य व्रत से सम्पन्न शिष्य **मा**-मेरे पास **आयन्तु**-आयें, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। मुझसे पढ़ने वाले **ब्रह्मचारिणः**-ब्रह्मचारी **विमायन्तु**[1]-निष्कपट होवें, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। मेरे **ब्रह्मचारिणः**-ब्रह्मचारी **प्रमायन्तु**- यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करें, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। मेरे **ब्रह्मचारिणः**-ब्रह्मचारी **दमायन्तु**-अन्तर्इन्द्रिय मन का निग्रह

1. 'ब्रह्मचारी अध्ययनसम्पन्न होने से पूर्व मुझसे **वियन्तु**-वियुक्त **मा**-नहीं हों', ऐसा भी उक्त वाक्य का अर्थ होता है।

करने वाले हों, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। मेरे **ब्रह्मचारिणः**-ब्रह्मचारी **शमायन्तु**-चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करने वाले हों, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ।

व्याख्या

योग्य शिष्य की प्रार्थना-दमायन्तु का अर्थ है-दम से युक्त हों और शमायन्तुका अर्थ है-शम से युक्त हों। शम और दम शब्दों का निग्रह अर्थ में ही प्रयोग होता है, उनमें शम का अर्थ चक्षु आदि इन्द्रियों का निग्रह होता है और दम का अर्थ मन का निग्रह-**शमः बाह्येन्द्रियनियमनम्। दमः अन्तःकरणनियमनम्।**(गी.रा.भा.18.42)प्रस्तुत मन्त्र से की गयी प्रार्थना त्रिताप से संतप्त सांसारिक प्राणियों को देखकर उदारचेता आचार्य की उमड़ती करुणा से आर्द्र हुए हृदय का सूचक है, वह दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति के लिए ब्रह्मविद्या प्रदान करके उनका सर्वविध मंगल चाहता है और इसी के लिए वह भगवान् से प्रार्थना करते हुए होम का अनुष्ठान करता है।

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा॥4॥

अन्वय

जने यशः असानि स्वाहा। वस्यसः श्रेयान् असानि स्वाहा। भग तं त्वा प्रविशानि स्वाहा। भग सः मा प्रविश स्वाहा। भग सहस्रशाखे तस्मिन् त्वयि अहं निमृजे स्वाहा।

अर्थ

हे प्रणव! मैं **जने**-जनसमूह के मध्य में **यशः**-यशस्वी **असानि**-हो जाऊँ, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। मैं **वस्यसः**-अत्यन्त धनी लोगों के मध्य में **श्रेयान्**-श्रेष्ठ **असानि**-हो जाऊँ, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। **भग**-हे षड् ऐश्वर्यसम्पन्न प्रणव! मैं **तम्**-उस (षड् ऐश्वर्यसम्पन्न) **त्वा**-तेरे में **प्रविशानि**-प्रवेश करूँ, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। **भग**-हे षड् ऐश्वर्यसम्पन्न

प्रणव! **सः**-वह तुम **मा**-मेरे में **प्रविश**-प्रवेश करो, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। **भग**-हे षड् ऐश्वर्यसम्पन्न प्रणव! **सहस्रशाखे**-हजार शाखा वाले वेदों के मूल **तस्मिन्**-तुझ **त्वयि**-प्रणव में प्रविष्ट होकर **अहम्**-मैं **निमृजे**-निरन्तर शुद्ध होऊँ, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ।

व्याख्या

कीर्ति और निर्मलता की प्रार्थना-दो वाक्यों के द्वारा कीर्तिमान् और धनी होने की आशा व्यक्त करके ओंकार में प्रविष्ट होने की प्रार्थना की जा रही है। पूर्व में **ब्रह्मणः कोशोऽसि**।(तै.उ.4.1) इस प्रकार ओंकार को परमात्मा का कोश कहा था, उसमें प्रविष्ट होने से परमात्मा अवश्य प्राप्त हो जायेगा, यह प्रार्थना का अभिप्राय है। यहाँ प्रवेश करने का अर्थ है-प्राप्त करना। प्रणव मुझे प्राप्त हो और मैं प्रणव को प्राप्त होऊँ अर्थात् मैं उससे कभी च्युत न होऊँ, ऐसा होने पर अन्तःकरण की निर्मलता अवश्यम्भावी है। कीर्ति आदि फल अनित्य हैं, इस अभिप्राय से नित्य फल मोक्ष का साधन चित्त की निर्मलता की अभ्यर्थना की जाती है।

यथाऽऽपः प्रवता[1] यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा पाहि[2] प्र मा पद्यस्व।।5।।
(वितन्वाना, विशस्वाहा सप्त च।।)

।। इति चतुर्थोऽनुवाकः ।।

अन्वय

यथा आपः प्रवताः यन्ति। यथा मासाः अहर्जरम्। धातः एवं ब्रह्मचारिणः सर्वतः माम् आयन्तु स्वाहा। प्रतिवेशः असि। मा प्र पाहि। मा प्रपद्यस्व।

अर्थ

यथा-जैसे **आपः**-जलप्रवाह **प्रवताः**-निम्न दिशाओं में **यन्ति**-चले

---

1. प्रवताः प्रवणाः दिशः।(रं.भा.), प्रवता प्रवणेन निम्नेन(भा.भा., तै.भा.)
2. अत्र 'भाहि' इति पाठान्तरः। भाहि प्रकाशय स्वस्वरूपम्।

जाते हैं (और) **यथा**-जैसे **मासाः**-महीने **अहर्जरम्**[1]-संवत्सर में चले जाते हैं, **धातः**-हे धाता! **एवम्**-इसी प्रकार **ब्रह्मचारिणः**-ब्रह्मचारी **सर्वतः**-सब ओर से **माम्**-मेरे पास **आयन्तु**-चलें आयें, इस निमित्त से **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ। हे धाता! तुम **प्रतिवेशः**-समीपवर्ती गृह **असि**-हो। **मा**-मेरी **प्र**-प्रकर्षता से **पाहि**-रक्षा करो, इसके लिए **मा**-मुझे(अपनी) **प्रपद्यस्व**[2]-शरण में लीजिए।

व्याख्या

रक्षा की प्रार्थना-पूर्व में योग्य ब्रह्मचारियों के विद्याग्रहणार्थ आने की प्रार्थना की गयी थी, अब आने में दृष्टान्त को कहते हैं-जैसे जल ढाल में स्वयं चला जाता है और जैसे मास वर्ष में चले जाते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मचारी सभी दिशाओं से मेरे पास चले आयें, इसे कहकर ओंकार को निकटवर्ती घर कहा जाता है। जैसे परिश्रम के कारण थका हुआ व्यक्ति विश्राम के लिए निकटवर्ती घर का आश्रय लेता है, इसी प्रकार अनादिकाल से संसार सागर में परिभ्रमण करके थका हुआ मुमुक्षु मनुष्य विश्राम के लिए भगवन्नाम ओंकार का ही आश्रय लेता है, वही इसकी रक्षा करता है अतः उससे शरण में स्वीकार करने की प्रार्थना की जाती है।

अब वक्ष्यमाण परविद्या के अङ्ग व्याहृतियों की उपासना का उपदेश किया जाता है- ***वक्ष्यमाणपरविद्याङ्गभूतव्याहृत्युपासनम् उपदिश्यते।*** *(रं. भा.)-*

पञ्चमोऽनुवाकः

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते॥1॥

अन्वय

भूः भुवः सुवः इति एताः तिस्रः वै व्याहृतयः। तासाम् महः इति ह

---

1. अहानि जीर्यन्ति यत्रेति अहर्जरः संवत्सरः।(रं.भा.)
2. अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं पदिः। प्रपन्नं मां कुर्वित्यर्थः।(रं.भा.)।

एतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते उ स्म। तद् ब्रह्म। सः आत्मा। अन्याः देवताः अङ्गानि। भूः इति वै अयं लोकः। भुवः इति अन्तरिक्षम्। सुवः इति असौ लोकः। महः इति आदित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोकाः महीयन्ते।

अर्थ

भूः-भूः **भुवः**-भुवः (और) **सुवः**-सुवः **इति**-इस प्रकार कही जाने वाली **एताः**-ये **तिस्रः**-तीन **वै**-प्रसिद्ध **व्याहृतयः**-व्याहृतियाँ हैं। **तासाम्**-उनकी अपेक्षा **महः**-महः **इति**-इस नाम से **ह**-प्रसिद्ध **एताम्**-इस **चतुर्थी**-चतुर्थ व्याहृति को **माहाचमस्य**[1]**:**-माहाचमस्य ऋषि(सबसे पहले) **प्रवेदयते**-जानता **उ**-ही **स्म**-था। जो महः शब्द से कहा जाता है, **तद्**-वह(निरतिशय महत् होने से)**ब्रह्म**-है। **सः**-वह **आत्मा**-आत्मा है। **अन्याः**-अन्य **देवताः**- देवता (ब्रह्म के)**अङ्गानि**-शरीर हैं। **भूः**-'भूः' **इति**-यह व्याहृति **वै**-ही **अयम्**-पृथ्वी **लोकः**-लोक है। **भुवः**-भुवः **इति**-यह व्याहृति **अन्तरिक्षम्**-अन्तरिक्ष लोक है। **सुवः**-सुवः **इति**-यह व्याहृति **असौ**-स्वर्ग **लोकः**-लोक है। **महः**-महः **इति**-यह व्याहृति **आदित्यः**-आदित्य है। **आदित्येन**-आदित्य से **वाव**-ही **सर्वे**-सभी **लोकाः**-लोक **महीयन्ते**-महत्त्व को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

व्याहृति की उपासना-भूः, भुवः और सुवः ये तीन व्याहृतियाँ प्रसिद्ध हैं। व्याहरण का अर्थ होता है-उच्चारण, उसका विषय होने से भूः, भुवः आदि शब्द व्याहृति कहे जाते हैं, इनका सन्ध्याकाल में ओम् के पश्चात् उच्चारण किया जाता है। इस पृथ्वी में सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं इसलिए इसे 'भूः' कहते हैं-**भवन्ति अस्मिन् सर्वाणि भूतानि इति भूः।** अन्तरिक्ष अवकाश प्रदान करके सभी पदार्थों का संरक्षण करता है, इसलिए उसे 'भुवः' कहते हैं-**अवकाशप्रदानेन सर्वं पदार्थजातं भावयतीति भुवः।** उत्तम प्राप्त करने योग्य स्थान स्वर्ग को सुवः कहा जाता है-**सुष्ठु शोभनं वरणीयं प्रापणीयं स्थानं सुवः।** महर्षि महाचमस के पुत्र ने सबसे पहले चतुर्थ व्याहृति महः को जाना। निरतिशय महत्(बृहत्) वस्तु ही सबकी

---

1. महाचमसः कश्चिद् ऋषिः तस्यापत्यम् माहाचमस्यः। गर्गादित्वाद् यञ्।

आत्मा और ब्रह्म कही जाती है। महः शब्द का वाच्य निरतिशय महत् है इसलिए श्रुति उसे आत्मा और ब्रह्म शब्दों से कहती है, वह सभी का शरीरी आत्मा है। अन्य देवता उसके शरीर हैं, वे निरतिशय महत् न होने से महत् शब्द से नहीं कहे जाते-**यत् महश्शब्दितं तदेवनिरतिशयमहत्त्वात् आत्मब्रह्मशब्दितम्। इतरदेवतास्तु तदङ्गभूताः तस्यात्मनः शरीरभूताः। अतो निरतिशयमहत्त्वाभावात् न महश्शब्दवाच्यत्वम् इत्यर्थः।**(रं.भा.)इस प्रकार महत् शब्द के वास्तविक अर्थ[1] का वर्णन करके उक्त चारों व्याहृतियों में चार प्रकार की दृष्टि का विधान क्रम से किया जाता है। **भूरिति वा अयं लोकः** इस वाक्य से भूः व्याहृति में भूलोकदृष्टि का विधान किया जाता है, **भुव इत्यन्तरिक्षम्** इस वाक्य से भुवः व्याहृति में अन्तरिक्षलोकदृष्टि का विधान किया जाता है, **सुवरित्यसौ लोकः** इससे सुवः व्याहृति में स्वर्गलोकदृष्टि का विधान किया जाता है और **मह इत्यादित्यः** इस वाक्य से महः व्याहृति में आदित्यदृष्टि का विधान किया जाता है। आदित्य के प्रकाश न करने पर उक्त भू आदि लोकों का कोई महत्त्व नहीं रहता। जैसे आदित्य से सभी लोक महत्त्व को प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार परमात्मा से ही सभी देवता महत्त्व को प्राप्त करते हैं।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योती ँषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूँषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते॥2॥

अन्वय

भूः इति वै अग्निः। भुवः इति वायुः। सुवः इति आदित्यः। महः इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूः इति वै ऋचः। भुवः इति सामानि। सुवः इति यजूंषि। महः इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदाः महीयन्ते।

---

1. **भूरिति वा....**इत्यादि वाक्यों के समान **तद् ब्रह्म** इत्यादि वाक्यों में इति शब्द का प्रयोग न होने से दृष्टिविधि स्वीकार नहीं की जा सकती इसलिए वास्तविक अर्थ का कथन माना गया है अतः **अङ्गान्यन्याः...**इस वाक्य में अन्य व्याहृतियों में अङ्गदेवतादृष्टि के विधान की शंका नहीं करनी चाहिए।

अर्थ

भूः-'भूः' **इति**-यह व्याहृति **वै**-ही **अग्निः**-अग्नि है। **भुवः**-'भुवः' **इति**-यह व्याहृति **वायुः**-वायु है। **सुवः**-'सुवः' **इति**-यह व्याहृति **आदित्यः**-आदित्य है। **महः**-'महः' **इति**-यह व्याहृति **चन्द्रमाः**-चन्द्रमा है। **चन्द्रमसा**-चन्द्रमा से **वाव**-ही **सर्वाणि**-सभी **ज्योतींषि**-तारागण **महीयन्ते**-उपकृत होते हैं। **भूः**-'भूः' **इति**-यह व्याहृति **वै**-ही **ऋचः**-ऋग्वेद है। **भुवः**-भुवः **इति**-यह व्याहृति **सामानि**-सामवेद है। **सुवः**-'सुवः' **इति**-यह व्याहृति **यजूंषि**-यजुर्वेद है। **महः**-'महः' **इति**-यह व्याहृति **ब्रह्म**-प्रणव है। **ब्रह्मणा**-प्रणव से **वाव**-ही **सर्वे**-सभी **वेदाः**-वेद **महीयन्ते**-महत्त्व को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

यहाँ भू आदि व्याहृतियों में अग्न्यादिदृष्टि का विधान किया जाता है। तारों का राजा चन्द्रमा है, इसी अभिप्राय से श्रुति चन्द्रमा के द्वारा तारों का उपकार कहती है। इस कथन के पश्चात् उन्हीं व्याहृतियों में ऋग्वेदादिदृष्टि का विधान करके प्रणव की महिमा सूचित की गयी है। प्रणव से ही वेदों की महिमा सर्वातिशायी है।

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति॥3॥ (असौ लोको यजूंषि वेद द्वे च।)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाक ॥

अन्वय

भूः इति वै प्राणः। भुव इति अपानः। सुवः इति व्यानः। महः इति अन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणाः महीयन्ते। ताः एताः चतस्रः वा चतुर्धा। चतस्रः व्याहृतयः चतस्रः। यः ताः वेद। सः ब्रह्म वेद। अस्मै सर्वे देवाः बलिम् आवहन्ति।

अर्थ

भूः-'भूः' **इति**-यह व्याहृति **वै**-ही **प्राणः**-प्राण है। **भुव**-भुवः **इति**-

यह व्याहृति **अपानः**-अपान है। **सुवः**-'सुवः' **इति**-यह व्याहृति **व्यानः**-व्यान है। **महः**-महः **इति**-यह व्याहृति **अन्नम्**-अन्न है। **अन्नेन**-अन्न से **वाव**-ही **सर्वे**-सभी **प्राणाः**-प्राण **महीयन्ते**-महिमा को प्राप्त होते हैं। **ताः**-पूर्वोक्त **एताः**-भूः आदि **चतस्रः**-चार व्याहृतियाँ **वा**-ही **चतुर्धा**-चार प्रकार की उपासना में उपयोगी हैं । जो **चतस्रः**-चार **व्याहृतयः**-व्याहृतियाँ हैं, उनमें प्रत्येक के **चतस्रः**-चार भेद होते हैं। **यः**-जो उपासक **ताः**-उन व्याहृतियों की **वेद**-उपासना करता है, **सः**-वह **ब्रह्म**-ब्रह्म को **वेद**-जानता है (और) **अस्मै**-इस व्याहृति के उपासक को **सर्वे**-सभी **देवाः**-देवता **बलिम्**-उपहार **आवहन्ति**-अर्पित करते हैं।

व्याख्या

प्रस्तुत मन्त्र में भूः आदि में प्राणादिदृष्टि का विधान किया जाता है। प्राण हृदयस्थान में रहता है, उच्छ्वास और निःश्वास इसके कार्य हैं। अपानवायु गुदा, उपस्थ आदि स्थानों में रहती है, मल-मूत्र और स्वेद का उत्सर्जन इसका कार्य है। व्यानवायु देह की सम्पूर्ण नाड़ियों में व्याप्त होकर देह को संचालित करती रहती है। अन्नभक्षण के अधीन देह की स्थिति है, उसके विद्यमान होने पर ही प्राणादि उसमें रहकर अपना कार्य करते हैं, इस प्रकार अन्न के अधीन प्राणों का महत्त्व सिद्ध होता है।

व्याहृति-उपासना का फल

प्रस्तुत अनुवाक में भूः, भुवः, सुवः और महः ये चार व्याहृतियाँ कही गयीं हैं। **भूरिति वा अयं लोकः**।(तै.उ.5.1), **भूरिति वा अग्निः**। (तै.उ. 5.2), **भूरिति वा ऋचः**।(तै.उ.5.2)और **भूरिति वै प्राणः**। (तै.उ.5. 3)इत्यादि रीति से चार प्रकार की उपासनाएँ कही गयी हैं, उनमें उन व्याहृतियों का उपयोग होता है। प्रत्येक व्याहृति में लोकादि चार-चार दृष्टियाँ की जाती है, इस प्रकार दृष्टि के भेद से 16 प्रकार की व्याहृतियाँ सम्भव होती हैं। जो व्यक्ति उक्त व्याहृतियों की उपासना करता है, वह आचार्य से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है। केवल इतना ही नहीं अपितु उसे इन्द्रादि सभी देवता खाद्य, पेयादि विविध प्रकार के उपहार अर्पित करते हैं, जिससे वह योगक्षेम की चिन्ता से विनिर्मुक्त रहकर ब्रह्मोपासना कर सकता है।

ब्रह्मविद्या के अङ्ग व्याहृति-उपासना को कहकर अब अङ्गी ब्रह्मविद्या को कहते हैं-

षष्ठोऽनुवाकः

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः॥1॥

अन्वय

हृदये अन्तः यः एषः आकाशः। तस्मिन् सः अयं मनोमयः हिरण्मयः अमृतः पुरुषः।

अर्थ

हृदये-हृदय में **अन्तः**-अन्दर **यः**-जो **एषः**-यह **आकाशः**-आकाश है, **तस्मिन्**-उसमें **सः**-वह (पूर्व अनुवाक में महः शब्द से कहा गया) **अयम्**-यह **मनोमयः**-विशुद्ध मन से ग्राह्य **हिरण्मयः**-कमनीय विग्रह वाला **अमृतः**-असंसारी अथवा निरतिशय भोग्य **पुरुषः**-परमात्मा विद्यमान है, उसकी उपासना करनी चाहिए।

व्याख्या

ब्रह्मविद्या-ध्यानकाल में मुमुक्षुओं का ध्येय बनने के लिये और ध्यान में रुचि उत्पन्न करके संसारभय से रक्षा करने के लिये सर्वव्यापक ब्रह्म शरीर के अन्तर्गत हृदय में भी रहता है, वह मनोमय अर्थात् विशुद्ध मन से ग्राह्य है, उसका दूषित मन से साक्षात्कार नहीं होता, विशुद्ध मन से ही साक्षात्कार होता है, इस विषय को **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या।**(क.उ.1.3.12) यह मुण्डकश्रुति भी कहती है। श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्म सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं, वह जैसे अनन्त कल्याणगुणगण से विशिष्ट है, वैसे ही दिव्यमङ्गलविग्रह से भी विशिष्ट है। मुमुक्षु को मोक्ष की प्राप्ति के लिए उसकी उपासना करनी चाहिए। प्रस्तुत श्रुति का व्याख्यान श्रीभाष्यकार ने **सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्**(ब्र.सू.1.2.1)इस सूत्र के भाष्य में किया है।

हृदय में ब्रह्म की स्थिति

गले से नीचे तथा नाभि से एक वित्ता ऊपर जो अधोमुख कमलाकार

हृदय स्थित है, वह कुछ खिले कमल के समान नाडियों से व्याप्त होकर लटकता है, उस हृदय को विश्वात्मक भगवान् का श्रेष्ठ निवासस्थान जानना चाहिए-**पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयञ्चाप्यधोमुखम्॥ अधो निष्ट्या वितस्त्यां तु नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं तद् विजानीयाद् विश्वस्याऽऽयतनं महत्॥ संततं सिराभिस्तु लम्बत्याकोशसंनिभम्।**(तै. ना.उ.95-96), अपरिच्छिन्न ज्ञान, शक्ति आदि गुणों से युक्त परमात्मा चेतन और अचेतन सम्पूर्ण जगत् को सब प्रकार से व्याप्त करके उपास्य बनने के लिये नाभि से दश अङ्गुल ऊपर हृदय में स्थित है-**स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।**(य.सं.31.1)। हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है-**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**(गी. 18.61)इन प्रमाणों से नाभि के ऊपर तथा कण्ठ से नीचे हृदय की स्थिति और उसी में ब्रह्म की स्थिति ज्ञात होती है।

दिव्यमङ्गलविग्रह

परमात्मा का श्रीविग्रह दिव्य(अप्राकृत) तथा मङ्गलकारक होने से दिव्यमङ्गलविग्रह कहलाता है। जो पदार्थ सुगमता से चित्त का आश्रय बन सके तथा शुभ(मङ्गलकारक) भी हो, वह शुभाश्रय कहलाता है। ऐसा शुभाश्रय एकमात्र श्रीभगवान् का दिव्यमङ्गलविग्रह ही है। कान्तिमण्डल से युक्त श्रीविग्रह से प्रवाहरूप में तेजोमयी रश्मियाँ निकलती रहती हैं। उन सौम्य रश्मियों के मध्य में परमात्मा के निखिलभुवनमोहक, कन्दर्पकोटि लावण्य-सौन्दर्यमय श्रीविग्रह के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार मणिमयपात्र अपने अन्दर स्थित सुवर्ण और उसकी कान्ति का प्रकाशक ही होता है, आच्छादक नहीं होता, उसी प्रकार दिव्यमङ्गलविग्रह परमात्मस्वरूप और उसके गुणों का प्रकाशक ही होता है, आच्छादक नहीं होता। वह सर्वाधिक तेजस्स्वरूप है, निरतिशय उज्जवलता, सुन्दरता, सुकुमारता, लावण्य, यौवन आदि दिव्य गुणों का आश्रय है। परमात्मा शरीररहित है-**अकायम्** (ई.उ.8), परमात्मा हस्तपाद से रहित है-**अपाणिपादः**(श्वे. उ.3.19)इत्यादि वचन भगवान् के श्रीविग्रह का निषेध करते हैं। कर्माधीन जन्म न लेनेवाला परमात्मा बहुत रूपों में अवतरित होता है-**अजायमानो बहुधा विजायते।**(य.सं.31.19) आपका जो अत्यन्त कल्याणकारक दिव्यमङ्गल विग्रह है-**यत्ते रूपं कल्याणतमम्।**(ई.उ.16)। आदित्यमण्डल

के मध्य में कमनीय कान्तिवाला, आकर्षक श्मश्रु वाला, रमणीय केशों वाला, नख से लेकर शिरपर्यन्त आकर्षक अङ्गों वाला पुरुष दिखायी देता है। वह गम्भीर जल से उत्पन्न, पुष्टनाल से युक्त तथा सूर्य की किरणों से विकसित कमलदल के समान विशाल नेत्रों वाला है-**अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकम् एवमक्षिणी।**(छां.उ.1.6.6-7), परमात्मा का श्रीविग्रह ऐसा है, जैसा कुसुम्भ से रंगा वस्त्र-**तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासः।**(बृ.उ. 2.3.6)इत्यादि वचन श्रीविग्रह का प्रतिपादन करते हैं। निषेध करने वाले वाक्य उत्सर्ग(सामान्य) वाक्य हैं और प्रतिपादन करने वाले वाक्य अपवाद(विशेष) वाक्य हैं। अतः उत्सर्गापवादन्याय से उत्सर्ग वाक्य कर्मजन्य हेय शरीर का निषेध करते हैं और अपवादवाक्य अप्राकृत शरीर (दिव्यमङ्गलविग्रह)का प्रतिपादन करते हैं। परब्रह्म का दिव्यमङ्गलविग्रह शुद्धसत्त्वमय है। इस विषय को विस्तार से समझने के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ देखना चाहिए।

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि।।2।।

अन्वय

तालुके अन्तरेण यः एषः स्तनः इव अवलम्बते। यत्र असौ केशान्तः विवर्तते। सा इन्द्रयोनिः। शीर्षकपाले व्यपोह्य। भूः इति अग्नौ प्रतितिष्ठति। भुवः इति वायौ। सुवः इति आदित्ये। महः इति ब्रह्मणि।

अर्थ

तालुके-तालु के दो भागों के **अन्तरेण**-मध्य में **यः**-जो **एषः**-यह (गाय के) **स्तनः**-स्तन **इव**-जैसा (माँसखण्ड) **अवलम्बते**-लटकता है, **यत्र**-जहाँ (स्तन जैसे अङ्ग के मध्य में) विद्यमान **असौ**-वह **केशान्तः**[1]-केशों का मूल कारण (ऊपर शिर में) **विवर्तते**[2]-केशरूप विचित्र परिणाम

1. केशान्तः केशानामन्तः अवधिः मूलस्थानम्।(भा.प.),
2. विवर्तते केशरूपविचित्रपरिणामवान् भवति।(भा.प.),

वाला होता है, वहाँ (स्तन जैसे अंग के मध्य में) स्थित **सा**-सुषुम्ना नाडी **इन्द्रयोनिः**-परमात्मा की प्राप्ति का साधन है। अन्तकाल में अर्चिरादिमार्ग[1] को प्राप्त करने वाला उपासक हृदय से सुषुम्ना के द्वारा ऊपर ब्रह्म-रन्ध्र में जाकर **शीर्षकपाले**[2]-शिर के कपालों को **व्यपोह्य**-फोड़कर (देह से बाहर निकलकर) **भूः**-भूः **इति**-इस प्रकार उपासित व्याहृति से **अग्नौ**- अग्निलोक में **प्रतितिष्ठति**-प्रतिष्ठित होता है। **भुवः**-भुवः **इति**-इस प्रकार उपासित व्याहृति से **वायौ**-वायुलोक में प्रतिष्ठित होता है। **सुवः**-सुवः **इति**-इस प्रकार उपासित व्याहृति से **आदित्ये**-आदित्यलोक में प्रतिष्ठित होता है और **महः**-महः **इति**- इस प्रकार उपासित व्याहृति से **ब्रह्मणि**-ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है।

व्याख्या

पाणिनीयशिक्षा में **अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्**...(पा.शि.13) इत्यादि प्रकार से वर्णों के 8 उच्चारणस्थान कहे गये हैं, उनमें इ, चवर्ग, यकार और शकार का उच्चारणस्थान तालु कहा गया है-**इचुयशानां तालु**(सि. कौ.सं), वह एक ही है तो श्रुति में दो तालु का वाचक 'तालुके' इस द्विवचनान्त पद का प्रयोग क्यों किया? इस मन्त्र में तालुके का अर्थ है-तालु का भाग। उसके वाम और दक्षिण दो भाग होने से तालुके यह द्विवचनान्त प्रयोग संभव होता है। मुखरूप बिल के अन्दर जिह्वा के मूल के ऊपर स्थित तालु के वाम और दक्षिण भाग दो तालु कहे जाते हैं-**मुखबिलस्य अन्तर्जिह्वामूलस्योपरि स्थितौ वामदक्षिणभागौ तालुके इत्युच्येते**।(शं.दी., म.प्र.)।

मनुष्यों के मुख के अन्तर्गत तालुओं के मध्य में जो स्तन के आकार का मांसपिण्ड लटकता है, जिसे लोकभाषा में घांटी कहते हैं, उसमें केशों का उपादान द्रव्य रहता है, जो कि ऊपर शिर में केशरूप में परिणत होता है, वहीं पर सुषुम्ना नाडी रहती है, इसका कठश्रुति इस

---

1. इसे विस्तार से समझने के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ अवलोकनीय है।
2. कपाल एक होने पर भी उसके दो भागों के अभिप्राय से यहाँ द्विवचन प्रयुक्त हुआ है।

प्रकार वर्णन करती है कि हृदय की एक सौ एक नाडियाँ होती हैं, उनमें से एक नाडी मूर्धा की ओर निकलती है। ब्रह्मवेत्ता उस नाडी से निकलकर ब्रह्मलोक जाकर मोक्ष को प्राप्त करता है-**शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति।**(क. उ.2.3.16) यह नाडी ब्रह्म की प्रप्ति का द्वार है।

पूर्वोक्त व्याहृत्युपासना का **ता यो वेद। स वेद ब्रह्म।**(तै.उ.1.5.3) इस प्रकार ब्रह्मविद्या की प्राप्ति फल कहा था। पूर्व में व्याहृत्युपासना को निष्पन्न कर चुका व्यक्ति आचार्य से ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर मनन और दर्शन करके हृदय से सुषुम्ना के द्वारा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में जाकर शिर के कपालों को फोड़कर देह से बाहर निकलकर ब्रह्म को कैसे प्राप्त करता है? अब उसे कहते हैं-वह ब्रह्मदर्शी व्यक्ति भूः इस प्रकार उपासित व्याहृति के द्वारा अग्निलोक को प्राप्त करता है अर्थात् वह व्याहृति उसे अग्निलोक की प्राप्ति कराती है। भुवः इस प्रकार उपासित व्याहृति उसे वायुलोक की प्राप्ति कराती है और सुवः इस प्रकार उपासित व्याहृति आदित्यलोक की प्राप्ति कराती है। यद्यपि अर्चिरादि मार्ग से जाकर ब्रह्म को प्राप्त करने वाला अग्निलोकादि से होकर ही जाता है, तथापि भूः आदि व्याहृतियों की उपासना की महिमा से कुछ काल उन लोकों में विश्राम करता है, यह अभिप्राय है। आदित्यलोक में जाने के पश्चात् ब्रह्मवेत्ता त्रिपादविभूति में जाकर महः व्याहृति के वाच्य ब्रह्म को प्राप्त करता है, यही मोक्ष है और यही मुमुक्षु के जीवन का चरम लक्ष्य है।

ब्रह्म को प्राप्त किया मुक्तात्मा कैसा होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत् ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मप्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनयोग्योपास्स्व॥3॥ (वायावमृतमेकं च।)

अन्वय

स्वाराज्यम् आप्नोति। मनसः पतिम् आप्नोति। वाक्पतिः। चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिः विज्ञानपतिः। ततः एतत् भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म।

सत्यात्मप्राणारामम्। मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धम्। अमृतम् इति प्राचीनयोग्य उपास्स्व।

अर्थ

मुक्तात्मा **स्वाराज्यम्**-अकर्मवश्यता को **आप्नोति**-प्राप्त करता है। **मनसः**-मन के **पतिम्**[1]-स्वामित्व को **आप्नोति**-प्राप्त करता है। **वाक्पतिः**[2]- रसना इन्द्रिय के स्वामित्व को प्राप्त करता है। **चक्षुष्पतिः**-चक्षु के स्वामित्व को प्राप्त करता है। **श्रोत्रपतिः**-श्रोत्र के स्वामित्व को प्राप्त करता है। **विज्ञानपतिः**[3]-घ्राण और त्वचा इन्द्रिय के स्वामित्व को प्राप्त करता है। मुक्तात्मा की **ततः**-ब्रह्मप्राप्ति होने से **एतत्**-यह **भवति**-होता है, वह (मुक्तात्मा) **आ**-सब ओर से **काशशरीरम्**-प्रकाशमान दिव्य विग्रह से युक्त (और) **ब्रह्म**-आविर्भूत ब्राह्मरूप होता है। **सत्यात्मप्राणारामम्**-नित्य और मुक्त आत्माओं का प्राण के समान परम प्रिय परमात्मा का सब प्रकार से अनुभव करने वाला होता है। **मनआनन्दम्**-संकल्पमात्र से आनन्द को प्राप्त करता है। **शान्तिसमृद्धम्**-आत्यन्तिक शान्ति से युक्त होता है और **अमृतम्**-असंसारी होता है। **इति**-इस प्रकार वर्णित मुक्त के प्राप्य ब्रह्म की **प्राचीनयोग्य**-हे प्राचीनयोग्य! तुम **उपास्स्व**-उपासना करो।

व्याख्या

स्वाराज्य-स्वाराज्य का अर्थ अकर्मवश्य होता है। पुण्यपापात्मक कर्मों के कारण ही संसार में जन्म प्राप्त होता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से कर्म नष्ट हो जाने पर मुक्त कर्म से रहित होता है इसलिए कर्म के वश में न होने से संसार में नहीं आता।

सर्वज्ञता

प्रस्तुत मन्त्र में **आप्नोति मनसस्पतिम्** इत्यादि वाक्यों से सभी इन्द्रियों के स्वामित्व की प्राप्ति कही है, इसका अर्थ है-सभी विषयों के

---

1. अत्र भावप्रधानो निर्देशः।(तै.भा.), एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्।
2. अत्र वाक्शब्देन रसनेन्द्रियम् उच्यते।(तै.भा.),
3. विज्ञायते अनेन इति करणव्युत्पत्त्या विज्ञानशब्देन परिशेषात् घ्राणत्वचौ गृह्यते। (तै.भा.)।

प्रकाशक ज्ञान वाला होना। सभी इन्द्रियों वाला होना या सभी इन्द्रियों से जन्य ज्ञान वाला होना अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। संसारी जीव का धर्मभूतज्ञान कर्मात्मिका अविद्या से संकुचित होने के कारण उसे विषय का प्रकाश करने के लिए इन्द्रियों की अपेक्षा होती है किन्तु मुक्त के ज्ञान का कोई आवरण न होने से वह सर्वज्ञ होता है। उसकी इन्द्रियाँ नहीं होतीं, उसका ज्ञान इन्द्रियनिरपेक्ष होता है। मुक्त पुरुष सर्वशरीरक ब्रह्म का अनुभव करता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छांउ.7.26.2), वह जगत् के अन्तरात्मारूप से ब्रह्म को देखता है और जगत् को ब्रह्मात्मक देखता है, इस प्रकार मुक्तात्मा की सर्वज्ञता का निरूपण किया गया। ब्रह्मप्रप्ति के अनन्तर उसे और क्या प्राप्त होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

दिव्यविग्रह

श्रुति **आकाशशरीरम्** पद से मुक्तात्मा के दिव्य विग्रह का निरूपण करती है। मुक्त पुरुष (त्रिपादविभूति में ब्रह्म को प्राप्त करके) सब ओर से प्रकाशमान दिव्यशरीर को प्राप्त करता है-**आकाशशरीरं ब्रह्म आ समन्तात् प्रकाशमानदिव्यविग्रहयुक्तम्।**(रं.भा.) त्रिपादविभूति में जैसे ब्रह्म के शरीर अप्राकृत होते हैं, ऐसे ही मुक्तों के शरीर भी अप्राकृत होते हैं, ये सुखदु:ख के हेतु नहीं होते। कर्मकृत शरीर ही सुखदु:ख के हेतु होते हैं।

ब्रह्म

यहाँ ब्रह्म शब्द का आविर्भूत ब्राह्मरूप अर्थ है-**ब्रह्म आविर्भूत-ब्राह्मरूपम्।**(रं.भा.)। मुक्तात्मा ब्रह्म को प्राप्त कर ब्राह्मरूप होता है। **एष आत्माऽपहतपाप्मा।**(छां.उ.8.1.5) इस प्रकार दहरविद्या में अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्म (ब्रह्म के) गुण कहे गये हैं और **य आत्माऽपहतपाप्मा**(छां.उ.8.7.1) इस प्रकार प्रजापतिविद्या में वही आत्मा के गुण कहे गये हैं। परमात्मा के ये गुण सदा आविर्भूत रहते हैं किन्तु प्रकृतिसंसर्ग के कारण जीवात्मा के गुण बद्धावस्था में तिरोहित हो जाते हैं। **परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।**(छां.उ.8.12.2) यह श्रुति मुक्तावस्था में आत्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणों के आविर्भाव को कहती है।

अविद्या के पूर्णतः निवृत्त होने से मुक्तात्मा का धर्मभूत ज्ञान भी असंकुचित होता है। इस प्रकार मुक्तात्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्म गुणों का आविर्भाव होने से तथा असंकुचित धर्मभूतज्ञान होने से उसकी परमात्मा से परम समता होती है। अपहतपाप्मत्वादि गुणों का आविर्भावरूप तथा असंकुचित धर्मभूतज्ञानवत्त्वरूप परम समता है। ज्ञानरूपत्वेन सभी जीवात्मा परमात्मा के समान हैं किन्तु आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि गुणवत्त्वेन तथा असंकुचित धर्मभूतज्ञानवत्त्वेन मुक्तात्मा परमात्मा के अत्यन्त समान है। इसलिए आविर्भूत ब्राह्म गुण(गुणाष्टक) वाले मुक्तात्मा के लिए **आकाश शरीरं ब्रह्म** इस तैत्तिरीय श्रुति में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् आविर्भूत ब्राह्म गुणों वाला होने से मुक्त को ब्रह्म कहा जाता है, इसी अभिप्राय से 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है'-**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।** (मु.उ.3.2.9)यह मुण्डकश्रुति प्रवृत्त होती है। ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला मुक्तात्मा आविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्म गुणों वाला होता है। स्वरूपतः और गुणतः निरतिशय बृहत्त्व ही ब्रह्मशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, इसलिए स्वरूपतः तथा गुणतः निरतिशय बृहत् परमात्मा को ब्रह्म कहा जाता है। प्रवृत्तिनिमित्त का एकदेश गुणतः बृहत्त्व प्रत्यगात्मा में है, अतः गुणतः निरतिशय बृहत् प्रत्यगात्मा भी है, इसलिए इसे भी ब्रह्म कहा जाता है। इस विषय को विस्तार से समझने के लिए मुण्डकोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या का अवलोकन करना चाहिए।

मुक्तात्मा का ब्रह्मानुभव

प्रत्यगात्मा का प्रकृति के बन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर और आविर्भूत गुणाष्टक से युक्त होकर सतत ब्रह्मानुभव करना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष दशा में ब्रह्मानुभव का वर्णन करने के लिए यह वाक्य प्रवृत्त होता है-**सत्यात्मप्राणारामम्।** परमात्मा स्वरूपतः और गुणतः सदा निर्विकार है, इसी प्रकार नित्य भी सदा निर्विकार हैं। जो आत्माएँ कभी भी संसारबन्धन में नहीं आती हैं, वे नित्य कहलाती हैं। परमात्मा के समान इनके ज्ञानगुण का कभी संकोच नहीं होता। संसारी आत्मा स्वरूपतः निर्विकार होने पर भी अनादि कर्मरूप अज्ञान के कारण उसके धर्मभूत ज्ञान का विविध वृत्तिरूप से परिणाम होता रहता है, इसलिए वह

गुणतः विकार वाली कही जाती है। परमात्मा और नित्यों के समान मुक्तात्मा भी स्वरूपतः और गुणतः अविकारी है। प्रस्तुत व्याख्येय मन्त्र में सत्य पद से अविकारी नित्य और मुक्त आत्माओं का ग्रहण होता है। प्राणों के समान उनकी परम प्रीति का आश्रय जो परमात्मा है, वह ही (इस लोक से जाकर परमात्मा को प्राप्त किए जिस) मुक्त पुरुष का सब प्रकार से अनुभाव्य होता है, वह अनुभविता सत्यात्मप्राणाराम (निर्विकार ब्रह्मविषयक आनन्द वाला) कहलाता है-**सततैकरूपतया सत्यानां**[1] **नित्यमुक्तानामात्मनां प्राणवत् परमप्रेमास्पदभूतो यः परमात्मा, स एव आरामः सर्वविधभोग्यभूतो यस्य, तत् तथोक्तम्।**(रं.भा.), अभी रङ्गरामानुजभाष्य के अनुसार 'सत्यात्मप्राणारामम्' का उक्त अर्थ प्रस्तुत किया गया, अब आनन्दभाष्य के अनुसार उसका अर्थ किया जाता है- सत्य अर्थात् सर्वविकारों से रहित (जो) आत्मा सर्वात्मा है, सभी प्राणियों के प्राणन (जीवनधारण) का हेतु उस परमात्मा में मुक्तपुरुष अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करता है इसलिए वह मुंक्त सत्यात्मप्राणाराम होता है-**सत्ये सर्वविकाररहिते आत्मनि सर्वात्मभूते प्राणे सर्वप्राणनहेतुभूते परमात्मनि आ समन्ताद् रमत इति सत्यात्मप्राणारामं भवति।** (आ.भा.)।

मुक्तात्मा सदा आनन्दरूप ब्रह्म का अनुभव करने वाला होता है। उसका स्वतन्त्र संकल्प नहीं होता। ब्रह्म के संकल्प के अधीन ही उसके संकल्प जगत् के कल्याण के लिए होते हैं। यदि वह किसी आनन्द को प्राप्त करना चाहे तो संकल्प मात्र से उसे प्राप्त कर लेता है, यह मनआनन्दम् का तात्पर्य है। **मनसा संकल्पमात्रेण सिद्धः आनन्दो यस्य, तत् मनआनन्दम्।**(रं.भा.)। मुक्तात्मा आत्यन्तिक शान्ति से युक्त होता है और सर्वथा संस्कारबन्धन से रहित होता है। अब आचार्य प्राचीनयोग्य नाम वाले अपने शिष्य को 'तुम पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिपादित मुक्तात्मा के प्राप्य ब्रह्म की उपासना करो' इस प्रकार मोक्ष के उपाय का उपदेश करते हैं।

सप्तमोऽनुवाकः

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा

1. सत्यानां सत्यपदवाच्यानाम्।

नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानस्समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माँसँस्नावास्थि मज्जा। एतदधि विधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदँ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तँ स्पृणोतीति।।1।। (सर्वमेकञ्च।)

।। इति सप्तमोऽनुवाकः ।।

अन्वय

पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौः दिशः अवान्तरदिशाः। अग्निः वायुः आदित्यः चन्द्रमाः नक्षत्राणि। आपः ओषधयः वनस्पतयः आकाशः आत्मा इति अधिभूतम्। अथ अध्यात्मम्। प्राणः व्यानः अपानः उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनः वाक् त्वक्। चर्म माँसं स्नावा अस्थि मज्जा। ऋषिः अधि विधाय एतत् अवोचत्। इदं सर्वम् पाङ्क्तं वै। पाङ्क्तेन एव पाङ्क्तं स्पृणोति इति।

अर्थ

पृथिवीः-पृथ्वी लोक **अन्तरिक्षम्**-अन्तरिक्ष लोक **द्यौः**-स्वर्गलोक **दिशः**-पूर्वादि दिशाएँ (और)**अवान्तरदिशाः**-ईशानादि कोण (यह एक पञ्चक है।) **अग्निः**-अग्नि **वायुः**-वायु **आदित्यः**-सूर्य **चन्द्रमाः**-चन्द्रमा (और) **नक्षत्राणि**-नक्षत्र (यह दूसरा पञ्चक है।) **आपः**-जल **ओषधयः**-औषधी **वनस्पतयः**-वनस्पति **आकाशः**-आकाश (और) **आत्मा**[1]-प्राणी (यह तीसरा पञ्चक है।) **इति**-इस प्रकार **अधिभूतम्**-पृथ्वी आदि भूतविषयक पञ्चकों का उपदेश किया गया। **अथ**-भूतविषयक पञ्चकोपदेश के पश्चात् अब **अध्यात्मम्**-शरीरविषयक पञ्चकोपदेश किया जाता है। **प्राणः**-प्राण **व्यानः**-व्यान **अपानः**-अपान **उदानः**-उदान (और) **समानः**-समान (यह एक पञ्चक है।) **चक्षुः**-चक्षु **श्रोत्रम्**-श्रोत्र **मनः**-मन **वाक्**-वाक् (और) **त्वक्**-त्वक् (यह दूसरा पञ्चक है।) **चर्म**-चर्म **माँसम्**-मांस **स्नावा**-नाडी **अस्थि**-हड्डी (और) **मज्जा**-मज्जा (यह तीसरा पञ्चक है।) **ऋषिः**-मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने **अधिविधाय**-6 पञ्चकों का अधिकार करके **एतत्**-इसे **अवोचत्**- कहा (कि) **इदम्**-यह

---

1. ओषधि और वनस्पति इन दो स्थावरों से विलक्षण प्राणी ओषध्यादिस्थावरविलक्षण-प्राणी।(भा.प.)।

सर्वम्-सभी (छः पञ्चक) **पाङ्क्तम्**[1]-पङ्क्ति **वै**-ही है। (उक्त पञ्चकों में पाङ्क्तदृष्टि करनी चाहिए।) पाङ्क्तोपासक **पाङ्क्तेन**-पङ्क्तिछन्दस्त्वेन उपासित छः पञ्चक से **एव**-ही **पाङ्क्तम्**-साम्राज्य का **स्पृणोति**-पालन करता है।

व्याख्या

पाङ्क्तोपासना-पाँच के समूह को पञ्चक कहते हैं। पृथ्वी आदि प्रथम पञ्चक, अग्नि आदि द्वितीय पञ्चक और अप् आदि तृतीय पञ्चक ये तीन अधिभूत पञ्चक होते हैं। प्राणादि एक पञ्चक, चक्षु आदि द्वितीय पञ्चक और चर्म आदि तृतीय पञ्चक ये तीन अध्यात्म पञ्चक होते हैं। इस प्रकार कुल 6 पञ्चक होते हैं। पङ्क्ति छन्द में 5 अक्षर होते हैं-**पञ्चाक्षरा पङ्क्तिः**। प्रस्तुत मन्त्र में वर्णित पञ्चकों में भी 5 पद हैं, इस प्रकार पञ्चकों और पङ्क्ति छन्द की पञ्चत्व संख्या से समानता है, इसलिए **पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्** इस प्रकार उक्त छः पञ्चकों में पङ्क्तिदृष्टि का विधान किया जाता है। **पाङ्क्तं[2] स्पृणोति** इस वाक्य में पाङ्क्त शब्द से जगत् कहा जाता है। जो पूर्वोक्त छः पञ्चकों में पङ्क्तिदृष्टि करता है अर्थात् उनकी पङ्क्तित्वेन (पङ्क्तिछन्दस्त्वेन) उपासना करता है, वह साम्राज्य को प्राप्त करता है और उसका सम्यक् पालन करता है।

अष्टमोऽनुवाकः

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदँ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओँ शोमिति शस्त्राणि शँसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति॥1॥ (ओं दश।)

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

ओम् इति ब्रह्म। ओम् इति इदं सर्वम्। ओम् इति ह स्म वै एतत् अनुकृतिः। अपि ओ श्रावय इति आश्रावयन्ति। ओम् इति सामानि

1. पञ्चभूतादियुक्ततया पाङ्क्तं जगत्।(रं.भा.),
2. पङ्क्तिरूपम्, स्वार्थे अण् प्रत्ययः।(तै.भा.)

गायन्ति। ओं श् ओम् इति शस्त्राणि शंसन्ति। अध्वर्युः ओम् इति प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ब्रह्मा ओम् इति प्रसौति। ओम् इति अग्निहोत्रम् अनुजानाति। ब्राह्मणः ओम् इति प्रवक्ष्यन् आह। ब्रह्म उपाप्नवानि इति ब्रह्म उपाप्नोति एव।

अर्थ

ओम्-ओम् **इति**-यह अक्षर **ब्रह्म**-ब्रह्म ही है। **ओम्**-ओम् **इति**-यह शब्द **इदम्**-प्रत्यक्ष सुनायी देने वाला **सर्वम्**-सम्पूर्ण वाङ्मय है। **ओम्**-ओम् **इति**-यह **ह स्म वै**[1]-प्रसिद्ध **एतत्**-अक्षर **अनुकृतिः**-अनुकरण है। अब और **अपि**[2]-भी प्रणव की महिमा कही जाती है। **ओ**-हे आचार्य! (देवताओं के लिए हविष्प्रदान के अवसर पर) **श्रावय**-सुनाइये। **इति**-ऐसा कहने पर (याज्ञिकगण) **आश्रावयन्ति**-'ओम्' कहकर सुनाते हैं। सामवेद के गायक **ओम्**-ओम् **इति**-ऐसा बोलकर **सामानि**-साममन्त्रों को **गायन्ति**-गाते हैं। ऋग्वेदपाठी **ओं**-ओम् **श्**[3]-श् **ओम्**-ओम् **इति**-ऐसा कहकर **शस्त्राणि**-मन्त्रों को **शंसन्ति**-पढ़ते हैं। **अध्वर्युः**-अध्वर्यु **ओम्**-ओम् **इति**-ऐसा उच्चारण करके **प्रतिगरम्**- प्रतिगर मन्त्र का **प्रतिगृणाति**-उच्चारण करता है। **ब्रह्मा**-ब्रह्मा **ओम्**-ओम् **इति**-इस शब्द का उच्चारण करके ही याज्ञिकों को यज्ञकर्म की **प्रसौति**-अनुमति देता है। आचार्य **ओम्**-ओम् **इति**-ऐसा कहकर ही (यजमान को) **अग्निहोत्रम्**-अग्निहोत्र करने का **अनुजानाति**-निर्देश देता है। वेदाध्ययन करने के लिए उद्यत **ब्राह्मणः**-ब्रह्मचारी (सबसे पहले) **ओम्**-ओम् **इति**-ऐसा **प्रवक्ष्यन्**-उच्चारण करते हुए **आह**-कहता है(कि) मैं **ब्रह्म**-वेद को **उपाप्नवानि**-प्राप्त करूँ और वह **इति**-इस प्रकार(पढ़कर) **ब्रह्म**-वेद को **उपाप्नोति एव**-प्राप्त ही कर लेता है।

व्याख्या

प्रणव की प्रशंसा-ओम् (प्रणव) ब्रह्म का वाचक(नाम) है। ब्रह्म वाच्य (नामी) है। रङ्गरामानुजभाष्य में कहा है कि प्रणव ब्रह्म का प्रतीक है

---

1. **ह स्म वै** इति निपातत्रयेण प्रसिद्धिर्द्योत्यते।(रं.भा.),
2. अपिरभ्युच्चये, न केवलं लौकिकव्यवहारकारणमोंकारः किन्तु वैदिकस्यापि। (शं.दी.),   3. शकारो मंगलार्थः।(तै.भा.)

और ब्रह्म के ध्यान का साधन है, इसलिए प्रणव को ब्रह्म ही कहा जाता है-**ब्रह्मप्रतीकत्वात् तद्ध्यानसाधनत्वाच्च प्रणवो ब्रह्मैव।**(रं.भा.) श्रुतियों के दृष्टिप्रकरण में विहित 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' के विशेष्यत्वेन विषय को प्रतीक कहते हैं। ओम् में ब्रह्मदृष्टि की जाती है, इसका विशेष्यत्वेन विषय होने से ओम् ब्रह्म का प्रतीक है। ओम् ब्रह्म के ध्यान का साधन है क्योंकि ओम् का उच्चारण करके ब्रह्म का ध्यान किया जाता है । आनन्दभाष्य के अनुसार ओम् यह प्रणवस्वरूप अक्षर ब्रह्म ही है क्योंकि वाचक में वाच्य के अभेद का आरोप किया जाता है-**ओमित्येतत् प्रणवस्वरूपमक्षरं ब्रह्मैव ब्रह्मवाचकत्वात्। वाचके वाच्याभेदाध्यवसायात्।**(आ.भा.)। सम्पूर्ण वाङ्मय ओम् ही है क्योंकि ओम् ही वाङ्मय का मूल है, उससे ही सभी शब्दों की उत्पत्ति हुई है अथवा चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् ओम् ही है। जगत् की ब्रह्मरूपता प्रसिद्ध है और ओम् से ब्रह्म का अभेद मानकर ओम् की प्रशंसा के लिए तैत्तिरीयश्रुति जगत् को ओम् कहती है। जब श्रेष्ठजन विधिनिषेधरूप आदेश प्रदान करते हैं, तब उसका अनुकरण करने के लिए आदेशपालक 'ओम्' का उच्चारण करते हैं, इसलिए ओम् को अनुकृति कहा जाता है अथवा किसी कार्य को करने के लिये 'अहमिदं करोमि' ऐसा कहकर उसमें प्रवृत्त होने पर उस कार्य के विषय में पूँछे जाने पर ओम् कहकर उसका अनुमोदन करता है, इसलिये भी ओम् को अनुकृति कहा जाता है।

देवताओं को हविष्प्रदान के समय दूसरे से प्रेरित होकर याज्ञिक ओम् इस प्रकार उपक्रम करके ही वेदपाठ करते हैं और ओम् कहकर ही सामगान किया जाता है। ओम् बोलकर ही शस्त्र पढ़े जाते हैं। विना गाये मन्त्रों से की जाने वाली स्तुति शस्त्र कहलाती है-**अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्** ।(तं.वा.2.1.5.13), प्रस्तुत व्याख्येय मन्त्र में उस स्तुति के बोधक मन्त्र शस्त्र शब्द से कहे जाते हैं। प्रोत्साहित करने वाले मन्त्रों को प्रतिगर कहा जाता है, उनका पाठ भी ओम् का उच्चारण करके किया जाता है। ब्रह्मा ओम् कहकर ही यज्ञ का निर्देश देता है और ओम् कहकर ही अग्निहोत्र करने की आज्ञा दी जाती है। वैदिकों के सभी कर्म ओम् से ही आरम्भ होते हैं। वेदाध्यायी पहले वेद को प्राप्त करता है।,

वेद को प्राप्त करने का अर्थ है-वेदाख्य अक्षरराशि का ज्ञान प्राप्त करना, इसके पश्चात् वेदार्थ का श्रवणादि करके ब्रह्म को प्राप्त कर संसार से मुक्त हो जाता है।

नवमोऽनुवाकः

अब विद्या के अङ्गरूप से अनुष्ठेय कर्म कहे जाते हैं-

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥1॥ (प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च षट् च।)

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपः च स्वाध्यायप्रवचने च। दमः च स्वाध्यायप्रवचने च। शमः च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयः च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयः च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनः च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिः च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यम् इति राथीतरः सत्यवचा। तप इति पौरुशिष्टिः तपोनित्यः। स्वाध्यायप्रवचने एव इति मौद्गल्यः नाकः। हि तत् तपः, हि तत् तपः।

अर्थ

ऋतम्-सत्य भाषण करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। सभी में **सत्यम्**-समदर्शन करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **तपः**-तप करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का

अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **दमः**-बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **शमः**-मन का निग्रह करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **अग्नयः**-अग्नियों का आधान करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **अग्निहोत्रम्**-अग्निहोत्रहोम करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **अतिथयः**- अतिथियों का सत्कार करना चाहिये **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **मानुषम्**-मानवोचित सभी लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। देवाराधन और पितृकार्यों के लिए **प्रजा**-संतान को उत्पन्न करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। संतानोत्पत्ति के लिए **प्रजनः**-ऋतुकाल में भार्यागमन करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **प्रजातिः**-पौत्रादि की उत्पत्ति के लिए पुत्र का विवाह करना चाहिए **च**-तथा **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। **सत्यम्**-सत्यभाषण करना चाहिए **इति**-ऐसा **राथीतरः**-रथीतर का पुत्र **सत्यवचा**-सत्यवचा नामक ऋषि कहता है। **तपः**-तप करना चाहिए **इति**-ऐसा **पौरुशिष्टिः**-पुरुशिष्ट ऋषि का पुत्र **तपोनित्यः**-तपोनित्य नामक ऋषि कहता है। **स्वाध्यायप्रवचने**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन **एव**-ही करना चाहिए **इति**-ऐसा **मौद्गल्यः**-मुद्गल ऋषि का पुत्र **नाकः**-नाक नामक ऋषि कहता है **हि**-क्योंकि **तत्**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन **तपः**-तप है **हि**-क्योंकि **तत्**-वेदों का अध्ययन और अध्यापन **तपः**-तप है।

व्याख्या

स्वाध्याय और प्रवचन-वेदाध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं और अध्यापन को प्रवचन-**स्वाध्यायः वेदाध्ययनम्। प्रवचनमध्यापनम्।**(र.भा.)। **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**(तै.आ.2.15.5, श.ब्रा.1.5.7) इत्यादि विधिवाक्य वेदाध्ययन की अवश्य कर्तव्यता का विधान करते हैं। वेदों का अध्ययन

और अध्यापन वैदिक युग में अनिवार्यरूप से किया जाता था, उसे आज भी करना ही चाहिये, उसके विना वेदाधिकारी वर्ग कभी भी सभ्य नहीं कहा जा सकता। समदर्शन को सत्य कहा जाता है और कपटरहित सत्यभाषण को ऋत कहा जाता है-**सत्यं च समदर्शनम्।। ऋतं च सुनृता वाणी**(भा.11.19.37-38) सदा सत्य बोलना चाहिए। सत्यभाषण से बढ़कर कोई धर्म नहीं है-**नास्ति सत्यात्परो धर्मः।**(म.भा.), इसके लिए सभी में समदृष्टि करनी चाहिये क्योंकि वैसी दृष्टि न होने पर मनुष्य रागद्वेष के वशीभूत होता है और इस कारण सत्यभाषण नहीं कर सकता। ऋत, सत्य, तप तथा स्वाध्याय और प्रवचन नित्य अनुष्ठेय हैं।

तप -

शास्त्र की विधि के अनुसार कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों से देह को सुखाना तप कहलाता है-**वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः।।**(जा.द.उ.2.3)। भोगों का त्याग किए विना मुमुक्षा नहीं होती किन्तु मुमुक्षु भी जीवन धारण करने के लिए शास्त्रविधि से विहित अनिवार्य भोगों का सेवन करता है अन्यथा भोजन करना, देखना, चलना-फिरना भी न होने से जीवन ही नहीं रहेगा। शास्त्रविहित जो अन्न-पानादि भोग्य पदार्थ हैं, उनका भी जीवन निर्वाह के लिए कम से कम उपयोग करना तप कहलाता है-**तपः शास्त्रीयो भोगसंकोचरूपः कायक्लेशः।**(गी.रा.भा.10.5)। मन सहित सभी इन्द्रियाँ विविध विषयों में व्यापृत रहने के कारण व्यग्र बनी रहती हैं, उन सभी को विषयों से निगृहीत करके मन को एकाग्र करना तप कहलाता है-**चित्तैकाग्र्यलक्षणं तपः।**(श्वे.उ.रं.भा.6.21)।

दम और शम ये दोनों शब्द इन्द्रियनिग्रह अर्थ में हैं अतः पुनरुक्ति के परिहार के लिए दम का अर्थ बाह्य इन्द्रिय का निग्रह और शम का अर्थ अन्तर् इन्द्रिय का निग्रह किया जाता है-**दमः बाह्येन्द्रियजयः। शमः अन्तरिन्द्रियजयः।**(रं.भा.) **वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत** इत्यादि वाक्यों से विहित अग्नि का आधान करना चाहिए। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि आदि अग्नियाँ घर में रहनी ही चाहिए। आहवनीय अग्नि में अग्निहोत्र होम करना चाहिए तथा यागादि भी करने चाहिए। अतिथिसत्कार और

मानवोचित अपने परिवार तथा अन्य जरूरतमन्द लोगों का पालन पोषण जैसे लौकिक कर्म और वैदिकरीति से सभी संस्कार सम्पन्न करने चाहिए। पितृकर्म तथा देवाराधन के लिए शास्त्रीय रीति से संतान को उत्पन्न करना चाहिए। आगे की वंशपरम्परा को बनाए रखने के लिए पुत्रादि का विवाह भी कर देना चाहिए। सदा सत्यभाषण करने वाले रथीतर के पुत्र सत्यवचा ऋषि इन सभी कर्मों में सत्यवचन को महत्त्व देते हैं। तपोनिष्ठ पौरुशिष्टि ऋषि तप को महत्त्व देते हैं किन्तु मौद्गल्य ऋषि स्वाध्याय और प्रवचन को गौरव प्रदान करते हैं क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन सभी तपों की तुलना में श्रेष्ठ तप हैं अतः उनमें आदर व्यक्त करने के लिए वाक्य की आवृत्ति हुई है। ब्रह्मज्ञान का साधन होने से वेदों के स्वाध्याय और प्रवचन श्रेष्ठ तप हैं। उन्हें करना सभी के लिए संभव नहीं हैं। तप शारीरिक सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है, अतः सभी के लिए एक जैसा तप नहीं हो सकता किन्तु सत्यभाषण सबके लिए समानरूप से है। वह सभी सत्कर्मों का मूल है। जो सदा सत्य का आचरण करता है, अन्य की अपेक्षा उसका मन शान्त होता है, वह भगवान् की प्रसन्नता का पात्र होता है। मोक्षमार्ग भी उसके लिए सुगम और सहज हो जाता है। जिसके लिए जो कर्म विहित है, उसे वह अवश्य करणीय है। वेदों का स्वाध्याय और प्रवचन करने वाले विद्वान् के सत्यभाषण और तप भी कर्तव्य हैं। इस प्रकरण में कहे गये सत्यभाषण आदि सभी के सामान्य कर्तव्य हैं किन्तु प्रजा की उत्पत्ति आदि गृहस्थ आश्रमी के लिए विहित हैं।

अब ब्रह्मविद्या के अंगरूप से जपने योग्य मन्त्र को कहते हैं-

दशमोऽनुवाकः

अहंवृक्षस्य[1] रेरिवा[2]। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि[3]। द्रविणँ सवर्चसम्[4]। सुमेधा अमृतोऽक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥1॥ (अहँ षट्।)

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

1. 'अहंवृक्षस्येति' इदमेकं पदम्। अहंशब्दोऽहंकारपरः। स वृक्ष इवेत्युपमितिसमासः। अस्मीत्यत्र कर्ता त्वर्थसिद्धः।(भा.प.)। 2. रेरिवा इति रीङ् क्षय इत्यस्मात् यङ्लुगन्तात् अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते(अ.सू.3.2.75) इति क्वनिपि रूपम्।(रं.भा.),

अन्वय

अहंवृक्षस्य रेरिवा। गिरेः पृष्ठम् इव कीर्तिः। ऊर्ध्वपवित्रः वाजिनि[1] सु अमृतम् इव अस्मि। सवर्चसम् द्रविणम्। अक्षितः अमृतः सुमेधाः इति त्रिशङ्कोः वेदानुवचनम्।

अर्थ

मैं **अहंवृक्षस्य**-वृक्ष के समान अहंकार का **रेरिवा**-अत्यन्त नाशक हूँ। सदा ब्रह्मानुभव करने से **गिरेः**-सुमेरु पर्वत के **पृष्ठम्**-शिखर के **इव**-समान(मेरी उन्नत) **कीर्तिः**- कीर्ति है। **ऊर्ध्वपवित्रः**-सर्वाधिक पवित्र मैं **वाजिनि**-सर्वशेषी परमात्मा में (स्थित हूँ और उनका) **सु**-निरतिशय **अमृतम्**-अमृत के **इव**-समान (भोग्य) **अस्मि**-हूँ। मैं **सवर्चसम्**[2] साक्षात्काररूप ज्ञान से विशिष्ट(उनका) **द्रविणम्**-धन हूँ। मैं **अक्षितः**[3]-षड् भाव विकारों से रहित **अमृतः**-संसार के सम्बन्ध से रहित (और) **सुमेधाः**[4]-सर्वविषयक ज्ञान वाला हूँ, **इति**-यह **त्रिशङ्कोः**-त्रिशङ्कु ऋषि के द्वारा **वेदानुवचनम्**-साक्षात्कार किया गया मन्त्र है।

व्याख्या

त्रिशंकु का उद्‌गार-प्रस्तुत मन्त्र के द्रष्टा महर्षि त्रिशंकु हैं, इसमें उन्होंने अपनी अनुभूति को व्यक्त किया है। जैसे वृक्ष वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, इसी प्रकार अहंकार भी होता है और जैसे वृक्ष छेदनयोग्य होता है, इसी प्रकार अहंकार भी, अतः वृक्ष के समान अहंकार कहा जाता है। मैं वृक्ष के समान अहंकार का अत्यन्त नाश करने वाला हूँ अर्थात् मैं 'स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ' इत्यादि समस्त प्रकार की देहात्मबुद्धियों से रहित हूँ- **निरस्तसमस्तदेहात्माभिमान इत्यर्थः**।(रं.भा.) अन्य विद्वानों के अनुसार

---

3. स्वमृतमिवास्मि अतिशयेन भोग्योऽस्मीत्यर्थः।(रं.भा.)।
4. सुवर्चसम् इति पाठान्तरः।
1. वाजिनि वाजमन्नमस्यास्तीति वाजी भोक्ता, सर्वशेषिणि परमात्मनि।(रं.भा.),
2. वर्चो दीप्तिः। सा च ज्ञानरूपा ज्योतिस्स्वरूपा इत्येतत्। वर्चसा सहितं सवर्चसं ब्रह्मसाक्षात्काररूपज्योतिर्विशिष्टम्।(आ.भा.)
3. अक्षितः अक्षयः षड्भावविकारशून्यः।(रं.भा.)।
4. सुबुद्धिः सर्वज्ञ इति यावत्।(तै.भा.)।

अहं वृक्षस्य यहाँ व्यस्त पाठ मानने पर भी वही अर्थ होता है अथव **अहम्**-मैं **वृक्षस्य**-वृक्ष के समान संसारबन्धन का **रेरिवा**-अत्यन्त नाशक हूँ। जगत् में यह देखा जाता है कि यशस्वी मनुष्य भी शोकमोह से ग्रस्त रहते हैं क्योंकि उन्होंने विनाशी भोग्य पदार्थ ही वितरित किये हैं किन्तु ब्रह्मानुभव करने वाला कभी उनसे ग्रस्त नहीं होता, इस प्रकार उसकी कीर्ति सर्वत्र प्रसरित होती है।

परमात्मसाक्षात्कार से समस्त पापराशि दग्ध हो जाने से मैं अत्यन्त पवित्र हूँ इसलिए अब मैं संसार में स्थित न होकर सर्वशेषी[1] परमात्मा में ही स्थित हूँ। जैसे अमृत निरतिशय भोग्य(अनुभाव्य) होता है, वैसे ही पापरहित होने से मैं निरतिशय भोग्य हूँ अर्थात् मैं परमात्मा का अत्यन्त प्रीतिपात्र हूँ।

---

1. भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार जिसका उपभोग कर सके, उस पदार्थ को शेष कहते हैं और उसके भाव (धर्म) को शेषत्व कहते हैं-**यथेष्टविनियोगार्हः शेषः, तस्य भावः शेषत्वम्।** दूसरे के उपयोग में आना ही शेष का स्वरूप है, उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार चन्दन का शिर में लेपन करे, पुष्प और वस्त्र को धारण करे, ताम्बूल का भक्षण करे। उपयोग में आने वाले इन चन्दनादि का कभी भी कोई स्वार्थ नहीं होता। इच्छानुसार उपयोग के योग्य-यथेच्छविनियोगार्ह होने से चन्दनादि शेष कहलाते हैं और इनका उपयोग करने वाला शेषी कहलाता है। जैसे आत्मा के शेष चन्दनादि हैं और शरीर भी उसका शेष है, वैसे ही भगवान् का शेष आत्मा है, भगवान् जैसा चाहें, वैसा इसका उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार यथेच्छ उपयोग के योग्य होने से आत्मा शेष है और उपयोग करने वाले भगवान् शेषी हैं। आत्मा का भगवान् के प्रति शेषत्व स्वाभाविक है, अतः आत्मा के रहते यह कभी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा नित्य है, इसलिए उसका भगवच्छेषत्व धर्म भी नित्य है। परमात्मा चेतनाचेतन सभी पदार्थों के स्वाभाविक शेषी हैं और आत्मा अपने शरीर आदि का स्वाभाविक शेषी नहीं है। बद्धात्मा का अपने शरीर आदि के प्रति शेषित्व कर्म उपाधि के कारण है। उसके शेष जो गृह, क्षेत्र, पुत्र और पत्नी आदि हैं, उनकी आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति होती है, वे आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति के योग्य हैं, उन गृहादि के समान परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के योग्य आत्मा नहीं है किन्तु जैसे शरीर आत्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है, वैसे ही आत्मा परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है। भगवान् सब के शेषी हैं-**पतिं विश्वस्य**(तै.ना.उ.92) लक्ष्मण जी कहते हैं कि हे रघुनाथ जी! आपके रहते मैं सैकड़ों वर्ष तक आपका शेष हूँ-**परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं**

मैं ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्योति से विशिष्ट हूँ और उनका भोग्य होने से धन हूँ। 'सुवर्चसम्' पाठ मानने पर उनका उत्तम धन हूँ, यह अर्थ होता है। मैं षड्भावविकार[2] से रहित, असंसारी और सर्वज्ञ हूँ। अचेतन भावपदार्थ विकार वाला होता है, उसके 6 विकार होते हैं-1. उत्पत्ति, 2. अस्तित्व (उत्पत्ति के अनन्तर विद्यमान होना), 3. वृद्धि(बढ़ना), 4. निरन्तर परिणाम, 5. क्षीण होना, 6. नष्ट होना। इन विकारों से युक्त अचेतन कार्य होता है, चेतन नहीं होता। अचेतन कार्य पूर्व में विद्यमान नहीं होता, उसकी उत्पत्ति होती है। चेतन आत्मा तो पूर्व से ही विद्यमान रहती है, अतः उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसी प्रकार अन्य 5 विकार भी उसके नहीं हो सकते।

ब्रह्म का साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही सर्वविषयक ज्ञान है, यही सुमेधा है। सभी के अन्तरात्मारूप से ब्रह्म इसका विषय होता है और सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मकत्वेन विषय होता है। रङ्गरामानुजभाष्य के अनुसार परमात्मसाक्षात्कार से मैं परमात्मा का शेष हूँ, इस ज्ञान की दृढता होने से त्रिशंकु अपने को सुमेधा कहते हैं-**भगवच्छेषत्वज्ञानदार्ढ्यात् सुमेधाः।**(रं.भा.)।

एकादशोऽनुवाकः

वेदमनूच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्॥1॥

स्थिते। (वा.रा.3.15.7) ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा परमात्मा का शेष है-**ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः।**(पां.सं.) इत्यादि प्रमाणों से परमात्मा का शेषित्व तथा आत्मा का शेषत्व सिद्ध होता है।

2. **षड्भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।**(नि.1.1.3)भवतीति भावः, भावस्य विकाराः भावाश्च ते विकाराः वा। तत्र उत्पद्यमानावस्था जन्म, उत्पन्नाऽवस्था च अस्तित्वम्, उत्तरावस्थाप्राप्ति परिणामः, तस्याधिक्यं वृद्धिः, क्षयः नाशस्य पूर्वावस्था, नाशस्तु कारणावस्थाप्राप्त्येव इति परस्परं भेदः विवक्षणीयः।

अन्वय

आचार्यः वेदम् अनूच्य अन्तेवासिनम् अनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायात् मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनम् आहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यात् न प्रमदितव्यम्। धर्मात् न प्रमदितव्यम्। कुशलात् न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

अर्थ

आचार्यः-आचार्य **वेदम्**-वेदों का **अनूच्य**-अध्यापन करके **अन्तेवासिनम्**-शिष्य को **अनुशास्ति**[1]-उपदेश करे (कि) **सत्यम्**-सत्य **वद**-बोलना चाहिए। **धर्मम्**-धर्म का **चर**-पालन करना चाहिए। **स्वाध्यायात्**-वेदो के अध्ययन से **मा प्रमदः**-प्रमाद नहीं करना चाहिए। **आचार्याय**-आचार्य के लिए **प्रियम्**-प्रिय **धनम्**-धन **आहृत्य**-लाकर दक्षिणा दो और **प्रजातन्तुम्**-सन्तानपरम्परा का **मा व्यवच्छेत्सीः**-विच्छेद न करो अर्थात् वंशपरम्परा को चलाने के लिए विवाह करो। **सत्यात्**-सत्यभाषण से **न प्रमदितव्यम्**-प्रमाद नहीं करना चाहिए। **धर्मात्**-धर्माचरण से **न प्रमदितव्यम्**-प्रमाद नहीं करना चाहिए। **कुशलात्**-देवार्चनादि मङ्गल कर्मों से **न प्रमदितव्यम्**-प्रमाद नहीं करना चाहिए। **भूत्यै**[2]-श्रेय(लौकिक उन्नति) के साधन कर्मों से **न प्रमदितव्यम्**-प्रमाद नहीं करना चाहिए। **स्वाध्याय-प्रवचनाभ्याम्**-स्वाध्याय और प्रवचन से **न प्रमदितव्यम्**-प्रमाद नहीं करना चाहिए। **देवपितृकार्याभ्याम्**-देवता और पितरों के कर्म से **न प्रमदितव्यम्**- प्रमाद नहीं करना चाहिए।

व्याख्या

दीक्षान्तभाषण-यहाँ से लेकर प्रस्तुत वल्ली की समाप्ति तक के मन्त्र अध्ययन की समाप्ति पर आचार्य के द्वारा किया जाने वाला दीक्षान्तभाषण है। इससे आचार्य विविध जीवनोपयोगी उक्त मङ्गलमयी शिक्षाएँ देते हैं, व्यस्तता के कारण सत्कर्म में गृहस्थ के द्वारा प्रमाद संभावित है अतः पुनः सावधान रहकर कर्म करने को कहा जाता है।

1. अनुशिष्याद् इत्यर्थः।(रं.भा.)।
2. भूत्याः। अत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥2॥

अन्वय

मातृदेवः भव। पितृदेवः भव। आचार्यदेवः भव। अतिथिदेवः भव। यानि अनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। इतराणि नो। यानि अस्माकं सुचरितानि। तानि त्वया उपास्यानि। इतराणि नो।

अर्थ

तुम **मातृदेवः**-माता को देवता समझने वाला **भव**-हो जाओ। तुम **पितृदेवः**-पिता में देवबुद्धि करने वाला **भव**-होओ। तुम **आचार्यदेवः**-शास्त्र के उपदेशक गुरु में देवतुल्य बुद्धि करने वाला **भव**-हो जाओ। तुम **अतिथिदेवः**-अतिथि को देवता मानने वाला **भव**-हो जाओ। **यानि**-जो (हमारे) **अनवद्यानि**-अनिन्दित **कर्माणि**-कर्म हैं, तुम **तानि**-उन्हीं कर्मों का **सेवितव्यानि**-आचरण करो। **इतराणि**-अन्य निन्दित कर्मों का **नो**-आचरण न करो। **यानि**-जो **अस्माकम्**-हमारे **सुचरितानि**-उत्तम आचरण हैं, **तानि**-वे ही **त्वया**-तुम्हारे द्वारा **उपास्यानि**-सेवन करने योग्य हैं। **इतराणि**-अन्य आचरण (तुम्हारे द्वारा) **नो**-सेवन करने योग्य नहीं हैं।

व्याख्या

माता, पिता, आचार्य और अतिथि का देवता जैसा सत्कार करना चाहिए, ऐसा कहकर शिष्य के मङ्गल की कामना करने वाले उदारचेता आचार्य अपने द्वारा आचरित शास्त्रसम्मत कर्मों का ही आचरण करने को कहते हैं, सभी कर्मों का नहीं क्योंकि प्रमाद से निषिद्ध कर्मों के भी आचरण की संभावना रहती है। वैदिक सनातन धर्म में अपौरुषेय श्रुति को ही निरपेक्ष प्रमाण माना जाता है, उसके अनुरूप स्मृति को प्रमाण माना जाता है तथा इन दोनों के अनुरूप ही महापुरुषों के आचरण को प्रमाण माना जाता है, स्वतन्त्र नहीं, इसी अभिप्राय से यह उपदेश प्रवृत्त हुआ है।

1. अस्मत्तः इत्यर्थः।(तै.भा.)।

ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्॥3॥

अन्वय

ये के च अस्मत्[1] श्रेयांसः ब्राह्मणाः। त्वया तेषाम् आसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अर्थ

ये-जो **के**-कोई **च**-भी **अस्मत्**-हम सबसे **श्रेयांसः**-श्रेष्ठ **ब्राह्मणाः**-ब्राह्मण आएँ, **त्वया**-तुम्हें **तेषाम्**-उनकी **आसनेन**-आसनादिदान से **प्रश्वसितव्यम्**-विश्राम की व्यवस्था करनी चाहिए (और उन्हें) **श्रद्धया**-श्रद्धा से **देयम्**-दान करना चाहिए। **अश्रद्धया**-श्रद्धा के विना भी **देयम्**-दान करना चाहिए। **श्रिया**-आर्थिक स्थिति के अनुसार **देयम्**-दान करना चाहिए। **ह्रिया**-लज्जा से **देयम्**-दान करना चाहिए। **भिया**-भय से **देयम्**-दान करना चाहिए। **संविदा**-विवेक से **देयम्**-दान करना चाहिए।

व्याख्या

आचार्य शिष्य को उपदेश करते हैं कि हमसे और तुमसे विद्या, आचरण और आयु में श्रेष्ठ ब्राह्मण चाहे परिचित हों अथवा अपरिचित, वे जब आएँ, तब अर्घ्य, पाद्य, भोजन और आसनादि देकर उनके समुचित विश्राम की व्यवस्था करनी चाहिए, यह अर्थ आसनेन यह तृतीयान्त पाठ मानकर किया गया है। आसने इसे सप्तम्यन्त और न को पृथक् पद मानने पर 'श्रेष्ठ ब्राह्मणों के आसन पर नहीं बैठना चाहिए' अथवा 'उनकी गोष्ठी में विना स्वीकृति के नहीं बोलना चाहिए' ये अर्थ होते हैं। ब्राह्मणों को श्रद्धा से दान[1] देना चाहिए। दाता को दान का फल प्राप्त करने की इच्छा होती है, वह श्रद्धा के विना नहीं मिलता। फलप्राप्ति की इच्छा का मूल वह श्रद्धा ही होती है अतः उन्हें

1. दान को विस्तार से समझने के लिए पूज्य गुरुदेव स्वामी शंकरानन्दसरस्वती द्वारा लिखित साधकशंकासमाधान(भाग 1, 2) तथा वैदिकचर्याविज्ञान ग्रन्थ पढ़ने चाहिए।

श्रद्धा से दान देना चाहिए। यदि दाता निष्काम है, उसे फलप्राप्ति की इच्छा नहीं है इस कारण दान देने में श्रद्धा भी नहीं है, तो श्रद्धा के विना ही दान करना चाहिए। दान गृहस्थ का नित्य कर्म है और नैमित्तिक भी, अतः निष्काम होने पर भी उसे अवश्य करना चाहिए। निष्काम कर्म के आचरण से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। श्री का अर्थ आर्थिक स्थिति है, अपने आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार ही दान देना चाहिए, पत्नी और पुत्र को भूखे रखकर दान देना उचित नहीं। श्री का अर्थ प्रसन्नता भी होता है। तब विषाद के विना प्रसन्नचित्त से दान देना चाहिए, यह अर्थ होता है। दान लेने वाला पात्र महान् है, मैं तुच्छ हूँ, मेरे द्वारा दी जाने वाली वस्तु भी तुच्छ है, इस भाव से लज्जित होकर दान करना चाहिए, ऐसा करने से दान देने का अहंकार नहीं हो सकता। शास्त्रीय रीति से दान न करने पर प्रत्यवाय होगा अतः प्रत्यवाय के भय से भी दान करना चाहिए। संविद् का ज्ञान (विचार) अर्थ होता है-**संविद् ज्ञानम्।**(आ.भा.) देश, काल और पात्र का विचार करके दान करना चाहिए।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणास्संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणास्संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥4॥ (स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं तानि त्वयोपास्यानि स्यात् तेषु वर्तेरन् सप्त च)

॥ इति एकादशोऽनुवाकः ॥

अन्वय

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। तत्र ये संमर्शिनः युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षाः धर्मकामाः ब्राह्मणाः स्युः। ते यथा तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। अथ अभ्याख्यातेषु। तत्र ये संमर्शिनः युक्ताः

आयुक्ताः अलूक्षाः धर्मकामाः ब्राह्मणाः स्युः। ते यथा तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एषः आदेशः। एषः उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतद् अनुशासनम्। एवम् उपासितव्यम्। च एवम् उ एतत् उपास्यम्।।4।।

अर्थ

अथ यदि-यदि **ते**-तुम्हारा (कदाचित्) **कर्मविचिकित्सा**-श्रौतस्मार्त कर्म के विषय में संदेह **वा**-अथवा **वृत्तविचिकित्सा**-सदाचार के विषय में संदेह **स्यात्**-हो जाये, तो **तत्र**-वहाँ (तुम्हारे समीप) **ये**-जो **संमर्शिनः**-विचारकुशल **युक्ताः**-वेदशास्त्रों के प्रामाणिक विद्वान् **आयुक्ताः**-सदाचार का भी पालन करने में कुशल **अलूक्षाः**-लोभ और क्रोध से रहित **धर्मकामाः**-धर्माचरण की लालसा वाले **ब्राह्मणाः**-ब्राह्मण **स्युः**-हों, **ते**-वे **यथा**-जैसे **तत्र**-शास्त्रीय कर्म और सदाचार के प्रसङ्ग में **वर्तेरन्**-आचरण करें, तुमको भी **तथा**-वैसा ही **तत्र**-शास्त्रीय कर्म और सदाचार के प्रसङ्ग में **वर्तेथाः**-आचरण करना चाहिए। **अथ**-यदि **अभ्याख्यातेषु**-दोषयुक्त सुने गये मनुष्यों के साथ व्यवहार करने में संदेह हो जाए तो **तत्र**-वहाँ **ये**-जो **संमर्शिनः**-विचारकुशल **युक्ताः**-वेदशास्त्रों के प्रामाणिक विद्वान् **आयुक्ताः**-सदाचार का भी पालन करने में कुशल **अलूक्षाः**-लोभ और क्रोध से रहित **धर्मकामाः**-धर्माचरण की लालसा वाले **ब्राह्मणाः**-ब्राह्मण **स्युः**-हों, **ते**-वे **यथा**-जैसे **तेषु**-उन मनुष्यों के प्रति **वर्तेरन्**-व्यवहार करें, तुमको भी **तथा**-वैसा ही **तेषु**-उनके प्रति **वर्तेथाः**-व्यवहार करना चाहिए। **एषः**-यह वेद भगवान् का **आदेशः**-आदेश है। **एषः**-यह गुरुजनों का **उपदेशः**-उपदेश है। **एषा**-यह शीक्षावल्ली **वेदोपनिषत्**-वेदों का रहस्य है। **एतद्**-यह **अनुशासनम्**-परम्परागत शिक्षा है। **एवम्**-इस प्रकार(इसमें कही गयी रीति से) **उपासितव्यम्**-उपासना[1] करनी चाहिए **च**-और **एवम्**-इस प्रकार उ-ही **एतत्**-इस ब्रह्म की भी **उपास्यम्**-उपासना[2] करनी चाहिए।

द्वादशोऽनुवाकः

---

1. दृष्टिरूप उपासना।
2. मोक्ष का साधन उपासना।

शान्तिपाठः

ॐ शं नो मित्रः शं[1] वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद् वक्तारम् आवीत्। आवीन्माम्। आवीद् वक्तारम्।[2] ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (सत्यमवादिषं पञ्च च।)

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

॥ इति शीक्षावल्ली ॥

अन्वय

मित्रः नः शम्। वरुणः शम्। अर्यमा नः शं भवतु। इन्द्रः बृहस्पतिः नः शम्। उरुक्रमः विष्णुः नः शम्। ब्रह्मणे नमः। वायो ते नमः। त्वम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि। त्वाम् एव प्रत्यक्षं ब्रह्म अवादिषम्। ऋतम् अवादिषम्। सत्यम् अवादिषम्। तत् माम् आवीत्। तत् वक्तारम् आवीत्। माम् आवीत्। वक्तारम् आवीत्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अर्थ

मित्रः-मित्र देवता **नः** हमारे लिए **शम्**-सुखप्रद हो। **वरुणः**-वरुण देवता (हमारे लिए) **शम्**-सुखप्रद हो। **अर्यमा**-अर्यमा देवता **नः**-हमारे लिए **शम्**-सुखप्रद **भवतु**-हो। **इन्द्रः**-इन्द्र(और) **बृहस्पतिः**-बृहस्पति देवता **नः**-हमारे लिए **शम्**-सुखप्रद हों। **उरुक्रमः**-विस्तृत पैरों वाला (वामनरूप धारी) **विष्णुः**-भगवान् विष्णु **नः**-हमारे लिए **शम्**-सुखप्रद हो। **ब्रह्मणे**-ब्रह्म को **नमः**-नमस्कार है। **वायो**-हे वायु! **ते**-तुम्हें **नमः**-नमस्कार है। **त्वम्**-तुम **एव**-ही **प्रत्यक्षम्**-प्रत्यक्ष **ब्रह्म**-वेद **असि**-हो। मैंने **त्वाम्**-तुमको **एव**-ही **प्रत्यक्षम्**-प्रत्यक्ष **ब्रह्म**-वेद **अवादिषम्**[3]-कहा है। मैंने **ऋतम्**-ऋत **अवादिषम्**-कहा है। मैंने **सत्यम्**-सत्य **अवादिषम्**-कहा है। **तत्**-उस

---

1. मित्रश्शं वरुणः इति पाठान्तरः।
2. यह शिक्षावल्ली के अन्त में पढ़ा जाने वाला शान्तिपाठ है।
3. व्याख्यातोऽयं मन्त्रः। भूतार्थत्वाद् वदिष्यामि इत्यस्य स्थाने अवादिषमिति अवतु इति स्थाने आवीत् इति प्रयोगः। (सु.)।

ब्रह्म ने **माम्**-मेरी(मुझ अध्येता की) **आवीत्**-रक्षा की है। **तत्**-उस ब्रह्म ने **वक्तारम्**-आचार्य की **आवीत्**-रक्षा की है। उस ब्रह्म ने **माम्**-मेरी **आवीत्**-रक्षा की है। **वक्तारम्**-आचार्य की **आवीत्**-रक्षा की है। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**-सभी विघ्नों की शान्ति हो।

ब्रह्मानन्दवल्ली[1]

शान्तिपाठः[2]

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अन्वय

ह सः नौ अवतु। ह सः नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। नौ अधीतम् तेजस्वि अस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अर्थ

वेदान्तवेद्य **ह**-प्रसिद्ध **सः**-परमात्मा **नौ**-हम दोनों (शिष्य और आचार्य) की (स्वस्वरूप के साक्षात्कार द्वारा) **अवतु**-रक्षा करे। **ह**-प्रसिद्ध **सः**-परमात्मा **नौ**-हम दोनों का (ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति से) **भुनक्तु**-पालन करे। (नियम पूर्वक ब्रह्मविद्या के आदान-प्रदान से) हम दोनों **सह**-साथ साथ (विद्या के) **वीर्यं**-सामर्थ्य को **करवावहै**-प्राप्त करें। **नौ**-हम दोनों का **अधीतम्**- अध्ययन **तेजस्वि**-तेजस्वी अर्थात् फलप्रदान करने में समर्थ **अस्तु**-हो। हम दोनों परस्पर में **मा विद्विषावहै**-द्वेष न करें। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**- विद्या के विघ्न आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि भौतिक इन तीनों तापों की शान्ति हो।

व्याख्या

अज्ञानी, विषयलम्पट जीव दुःखालय संसारसागर में निमग्न होकर

---

1. इस वल्ली को ब्रह्मवल्ली और आनन्दवल्ली भी कहा जाता है।
2. शांकरभाष्य के अनुसार इस वल्ली के शन्तिपाठ में 'शं नो मित्रः' और 'सह नाववतु' ये दो मन्त्र हैं किन्तु अन्य सभी भाष्यों, खण्डार्थव्याख्या तथा मणिप्रभा व्याख्या के भी अनुसार 'स्रह नाववतु' यह एक ही मन्त्र है।

संतप्त होता रहता है, उसकी संसारभय से रक्षा नहीं होती। परमात्मस्वरूप के साक्षात्कार द्वारा ही संसारभय से रक्षा होती है, इसलिए साक्षात्कार के द्वारा अपनी रक्षा के लिए **सह नाववतु** इस प्रकार परमात्मा से प्रार्थना की जा रही है। माता-पिता उपयोगी वस्तुओं को उपलब्ध कराके पुत्र का पालन करते हैं। उपयुक्त वस्तु प्राप्त न होने पर ठीक से पालन नहीं होता। त्रिविध ताप से संतप्त वैराग्यवान् मुमुक्षु का ब्रह्मविद्या से ही पालन संभव है, अन्य प्रकार से नहीं अतः **सह नौ भुनक्तु** इस प्रकार ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति से पालन की प्रार्थना की जा रही है। ब्रह्मविद्या के उपदेशक आचार्य और शिष्य दोनों को नियम का पालन करना पड़ता है, नियमपूर्वक प्राप्त की गयी विद्या सामर्थ्य वाली होती है और इससे(सामर्थ्य से) युक्त विद्या अपने फल मोक्ष को देने में समर्थ होती है, इसलिए **सह वीर्यं करवावहै** इस प्रकार विद्या के सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए अभ्यर्थना की जा रही है। ब्रह्मसाक्षात्कार से मोक्ष का जनक ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति उपनिषत् के अध्ययन से होती है। उसे तेजस्वी अर्थात् फलप्रदान करने में समर्थ होने के लिए **तेजस्वि नावधीतमस्तु** इस प्रकार याचना की जा रही है। हम शिष्य और आचार्य परस्पर में द्वेष न करें। निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म जिस का लक्ष्य है, उस ब्रह्मविद्या पथ के दोनों पथिक हैं, अतः परस्पर का सौहार्द बना रहे। यह याचना **मा विद्विषावहै** से की जा रही है। सम्पूर्ण तापों के शमन के लिए मन्त्र में तीन बार शान्ति शब्द का उच्चारण किया जाता है।

अब तत्त्व ब्रह्म, हित(मोक्ष का साधन) उपासना और पुरुषार्थ मोक्ष का प्रतिपादन करने के लिए ब्रह्मानन्दवल्ली आरम्भ की जाती है-

प्रथमोऽनुवाकः

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चितेति॥1॥

अन्वय

ब्रह्मवित् परम् आप्नोति। तत् अभि एषा उक्ता। ब्रह्म सत्यं ज्ञानम्

अनन्तम्। यः गुहायां निहितं वेद। सः परमे व्योमन् विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् अश्नुते इति[1]।

अर्थ

ब्रह्मवित्-निरतिशय बृहत् वस्तु का उपासक **परम्**-सबसे उत्कृष्ट ब्रह्म को **आप्नोति**-प्राप्त करता है। **तत्**-ब्रह्म को **अभि**-अभिमुख कर(लक्ष्य कर या प्रतिपाद्य स्वीकार कर)अध्येताओं के द्वारा **एषा**-यह ऋचा **उक्ता**-कही जाती है। **ब्रह्म**-ब्रह्म **सत्यम्**-स्वरूपतः और गुणतः विकार से रहित **ज्ञानम्**-ज्ञानस्वरूप और ज्ञाता(तथा) **अनन्तम्**-देश, काल और वस्तु परिच्छेद से रहित है। **यः**-जो **गुहायाम्**-हृदय गुहा में **निहितम्**-स्थित उस ब्रह्म की **वेद**-उपासना करता है, **सः**-वह **परमे**-अप्राकृत **व्योमन्**-आकाश (त्रिपादविभूति) में **विपश्चिता**-सर्वज्ञ **ब्रह्मणा**-ब्रह्म के **सह**-साथ (उनके) **सर्वान्**-सभी **कामान्**-कल्याण गुणों का **अश्नुते**-अनुभव करता है।

व्याख्या

ब्रह्मवित्-निरतिशय बृहत् वस्तु को ब्रह्म कहा जाता है और उसके उपासक को ब्रह्मवित्।

ब्रह्म

ब्रह्म शब्द स्वभावतः सभी दोषों से रहित, अनवधिकातिशय (सर्वोत्कृष्ट), असंख्य, कल्याणकारक गुणसमूह वाले पुरुषोत्तम को मुख्य वृत्ति से कहता है। बृहत्त्व गुण के सम्बन्ध के कारण जीव और प्रकृति के लिए भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है किन्तु स्वरूपतः और गुणतः जिसमें अनवधिकातिशय (उत्कर्षता की सीमा से रहित) बृहत्त्व रहता है, वह सर्वेश्वर ही ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ होता है। स्वरूपतः और गुणतः अनवधिकातिशय बृहत्त्व ब्रह्मशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त होता है। ब्रह्म का स्वरूपभूत ज्ञान बृहत् (विभु) है, उसमें रहने वाला बृहत्त्व स्वरूपतः (साक्षात्) बृहत्त्व कहा जाता है, उसका धर्मभूत ज्ञान भी बृहत् है, उसमें रहने वाला बृहत्त्व गुणतः(सद्वारक) बृहत्त्व कहा जाता है। स्वरूपगत उत्कर्ष बृहत्त्व(बड़ा होना) कहलाता है और गुणगत उत्कर्ष बृंहणत्व

---

1. इति शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः।(रं.भा.)

(बड़ा बनाना) कहलाता है इसलिए साक्षात् और परम्परया निरतिशयबृहत्त्वविशिष्ट बृहत् वस्तु ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ होती है। सबसे बड़ा (व्यापक) है और सभी को बड़ा बनाता है इसलिए परब्रह्म कहा जाता है-**बृहति बृंहयति च सर्वं तस्माद् उच्यते परं ब्रह्म।**(शां.उ.3), बड़ा होने और बड़ा बनाने के कारण परमेश्वर को परब्रह्म कहा जाता है-**बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते।** (वि.पु.1.12.55) इस प्रकार श्रुतिस्मृति के द्वारा बृहत्त्व और बृंहणत्व ये दोनों ही ब्रह्म शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तरूप से ज्ञात होते हैं। महर्षि यास्क ने कहा है कि ब्रह्म सब में व्याप्त होकर रहने वाला है-**ब्रह्म परिवृढं सर्वत:।**(नि.1.3.8)। सृष्टिकाल में स्वाश्रित सूक्ष्म अचेतन के बहुत नामरूप करना, चेतन के धर्मभूतज्ञान का विकास करना और मुक्तावस्था में उनके धर्मभूतज्ञान का अपरिच्छिन्न विकासरूप अनन्तता को करना ही भगवान् का बृंहणत्व गुण है। इस प्रकार बृहत्त्व का अर्थ है-सबमें व्याप्त होकर रहना और बृंहणत्व का अर्थ है-व्यापक करना। ऊपर कहे गये गुणत: बृहत्त्व में बृंहणत्व अन्तर्भूत होता है। ज्ञानरूप जीवात्मा स्वरूपत: अणु है। उसका धर्मभूतज्ञान विभु होने पर भी अनादि कर्मरूप अविद्या से संकुचित रहता है, जिससे जीवात्मा बद्धावस्था को प्राप्त होता है। ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान से प्रसन्न हुए परमात्मा उसकी अविद्या को नष्ट कर देते हैं, जिससे उसका ज्ञान गुण व्यापक हो जाता है। इस प्रकार अविद्यानाश के द्वारा ज्ञान गुण को व्यापक करने वाला ब्रह्म होता है।

मुक्तावस्था में अणु जीवात्मा धर्मभूतज्ञान के विकास से व्यापकरूप अनन्त(अपरिच्छिन्न) होने में समर्थ होता है-**स चानन्त्याय कल्पते।**(श्वे.उ.5.9) इस प्रकार मुक्तावस्था में ज्ञान के संकोच का हेतु अविद्या की पूर्णत: निवृत्तिपूर्वक निरवधिक ज्ञान का विकासरूप विभुत्व(आनन्त्य) को करना ब्रह्म का बृंहणत्त्व गुण है। ब्रह्म स्वरूपत: निरवधिकातिशय बृहत् है। गुणत: भी निरवधिकातिशय बृहत् है और वह मुक्तावस्था में जीवात्मा के ज्ञानगुण को निरवधिकातिशय बृहत् करता है। परब्रह्म के ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं-**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8) इस श्रुति से परब्रह्म के स्वाभाविक गुण स्वीकार करने पर गुण अविद्याकल्पित हैं, यह निर्विशेषाद्वैतपक्ष निरस्त हो जाता है। **ते ये**

शतम्(तै.उ.2.8.2) इस प्रकार तैत्तिरीय में पूर्वपूर्व गुणों से उत्तरोत्तर गुणों का जो सावधिक अतिशय कहा जाता है, अनवधिकातिशय कहनेसे उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। नित्य और मुक्त आत्माओं के गुण जगत् की सृष्टि आदि कार्यों के लिए उपयोगी न होने से सातिशय(सापेक्ष श्रेष्ठता से युक्त) हैं तथा श्रीभगवान् की इच्छा के अधीन होने से भी सातिशय हैं।

बृंहेर्नोऽच्च(उ.सू.4.147) इस उणादि सूत्र के द्वारा वृद्धि अर्थ वाली बृहि धातु से मनिन् प्रत्यय, अनुस्वार को अकार तथा यण् करने पर ब्रह्म शब्द की सिद्धि होती है। यहाँ स्वरूपतः और गुणतः दोनों प्रकार से बृहत्त्व विवक्षित है इसलिए बृंहणत्वरूप गुणतः बृहत्त्व भी धातु के अर्थ के अन्तर्गत है। यह कहा जा चुका है कि स्वरूपतः और गुणतः बृहत्त्व को लेकर ब्रह्म शब्द का परमात्मा में ही मुख्यरूप से प्रयोग होता है। बृहत्वमात्र प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर ब्रह्म शब्द का मूलप्रकृति और जीव में प्रयोग होता है, ब्रह्म शब्द का जीव अर्थ में प्रयोग लक्षणा से नहीं होता क्योंकि इसमें प्रवृत्तिनिमित्त के एकदेश का ग्रहण होता है, अतः यह लाक्षणिक प्रयोग नहीं है। अत्यन्त मुख्यप्रयोग भी नहीं है अपितु मुख्य के समान है इसलिए इसे भी औपचारिक कहा जाता है। **गङ्गायां घोषः** और **सिंहोऽयं माणवकः** ये औपचारिक प्रयोग हैं। इनमें गङ्गा और सिंह पद की लक्षणा की जाती है क्योंकि इनके प्रवृत्तिनिमित्त का त्याग होता है। इस विंवरण से स्पष्ट होता है कि कहीं पर लक्षणावृत्ति के कारण औपचारिक प्रयोग कहा जाता है और कहीं पर प्रवृत्तिनिमित्त के एक भाग को लेकर मुख्य के साथ तुल्यता के कारण औपचारिक प्रयोग कहा जाता है। जैसे–ब्राह्मणपद का प्रवृत्तिनिमित्त ब्राह्मणत्व शरीर के विना संभव नहीं है इसलिए ब्राह्मण पद शरीरविशिष्ट का बोधक होता है, वैसे ही ब्रह्म पद का प्रवृत्तिनिमित्त बृंहणत्व चिदचिद् के विना संभव नहीं है इसलिए ब्रह्मपद चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का बोधक होता है। चिद् वस्तु का स्वरूपतः बृहत्त्व नहीं होता है और अचिद् वस्तु का आपेक्षिक बृहत्त्व होता है। निरतिशय बृहत्त्व और निरतिशय बृंहणत्व के चिद् और अचित् में न रहने से चिदचिद्विशिष्ट पदार्थ ब्रह्म शब्द का वाच्य नहीं हो सकता अतः ब्रह्म शब्द का वाच्य विशेष्य स्वरूप को ही मानना चाहिए, यह कथन उचित नहीं क्योंकि जैसे घट शब्द और ब्राह्मण शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व और

ब्राह्मणत्व के घटत्व और ब्राह्मणत्व में न रहने पर भी घटत्वविशिष्ट घट और ब्राह्मणत्वविशिष्ट ब्राह्मण क्रमशः घट और ब्राह्मण पद के वाच्य होते हैं, वैसे ही ब्रह्मपद का प्रवृत्तिनिमित्त निरतिशय बृहत्त्व और बृंहणत्व के चिदचिद् में न रहने पर भी चिदचिद् से विशिष्ट ब्रह्म ब्रह्मपद का वाच्य होता है।

"ब्रह्म शब्द का प्रकृति आदि अर्थों में भी प्रयोग देखा जाता है इसलिए प्रकृति आदि अर्थों में ही ब्रह्म शब्द की मुख्यवृत्ति हो, निर्विशेष में लक्षणा हो।" यह कथन असंगत है क्योंकि जो साक्षात् वाच्य है और अपरोक्ष है, वह ब्रह्म है-**यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म।**(बृ.उ.3.4.1) सर्वेश्वर में ही ब्रह्म शब्द मुख्यवृत्ति से प्रयुक्त होता है-**तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तः।**(ग.पु.) जगत्कारण परमात्मा में ही ब्रह्मशब्द मुख्यवृत्ति से प्रयुक्त होता है, अन्य में ब्रह्म शब्द का उपचार से प्रयोग होता है-**तत्रैव मुख्यवृत्तोऽयम् अन्यत्र ह्युपचारतः।**(ग.पु) इत्यादि शास्त्रवचन ब्रह्म शब्द का वाच्य परब्रह्म को ही कहते हैं, प्रकृति आदि में तो ब्रह्म शब्द का उपचार से प्रयोग कहते हैं। उक्त श्रुति में आये साक्षात् पद का अर्थ है-मुख्यवृत्ति से वाच्य। यह अर्थ करने पर ही उक्त स्मृतिवचन प्रस्तुत श्रुति के उपबृंहण होते हैं। शब्द के साधुत्व के लिए उसका प्रवृत्तिनिमित्त भी आवश्यक होता है। जैसे गो शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त गोत्व होता है, वैसे ही ब्रह्म शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त निरतिशय बृहत्त्व और बृंहणत्त्व होता है। इनसे विशिष्ट सविशेष ब्रह्म ही ब्रह्ममीमांसा का **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**(ब्र.सू.1.1.1) इस प्रथमसूत्र में स्थित ब्रह्म पद से कहा जाता है। कुछ विद्वान् साक्षात्त्व का अन्वय ब्रह्म के साथ न करके अपरोक्षत्व के साथ करते हैं और साक्षात् का अर्थ अन्यनिरपेक्षत्व करते हैं। इस प्रकार 'ब्रह्म का अन्यनिरपेक्ष अपरोक्षत्व' यह श्रुति का अर्थ करते हैं, वह भी समुचित नहीं है क्योंकि साक्षात्त्व का ब्रह्म के साथ अन्वय होने पर साक्षात्त्व ब्रह्मपदार्थ का विशेषण होता है और अपरोक्षत्व के साथ अन्वय होने पर साक्षात्त्व पदार्थताऽवच्छेदक का विशेषण होता है। साक्षात्त्व पदार्थ का विशेषण संभव होने पर उसे पदार्थताऽवच्छेदक का विशेषण मानना उचित नहीं। साक्षात्(इन्द्रियनिरपेक्ष) और व्यवहित(इन्द्रियसापेक्ष) भेद से अपरोक्षत्व दो प्रकार का होता है। साक्षात् को अपरोक्षत्व का विशेषण मानने पर जो अर्थ निष्पन्न होता है, वही अर्थ 'अपरोक्षात्' इस

निरुपाधिक(विशेषणरहित) निर्देश से निष्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में साक्षात् पद व्यर्थ होता है किन्तु श्रुति का कोई भी पद व्यर्थ नहीं माना जा सकता अतः साक्षात्त्व को ब्रह्म का ही विशेषण मानना उचित है। इस पक्ष में ही **तस्मिन्नेव ब्रह्मशब्दो मुख्यवृत्तः** इत्यादि स्मृति तथा **परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्**(ब्र.सू.4.3.11) यह सूत्र भी संगत होता है। अर्चिरादि मार्ग से प्राप्य सविशेष कारण ब्रह्म ही विचार का विषय है। महर्षि जैमिनि उसे ही ब्रह्म शब्द का मुख्यार्थ मानते हैं। इस प्रकार शतभूषणीकार के अनुसार सूत्र में आये मुख्य शब्द का मुख्यतात्पर्यविषय ही अर्थ है, मुख्य वृत्ति से वाच्य अर्थ नहीं है, यह मत भी निरस्त हो जाता है। मुख्य पद का मुख्य तात्पर्यविषय अर्थ तो प्रकृतसूत्र के शांकरभाष्य से भी विरुद्ध है। वहाँ गौण पद के साथ पढ़े जाने से मुख्यत्व शक्यत्वरूप ही कहा गया है। ब्रह्मसूत्र के कार्याधिकरण में जैमिनि के अनुसार अर्चिरादि के द्वारा जगत्कारण सविशेष परब्रह्म प्राप्य है। व्यापक वस्तु सर्वत्र होने से उसे अर्चिरादि के द्वारा प्राप्य कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं हैं। बादरि के अनुसार अर्चिरादि से कार्य ब्रह्म प्राप्य है। यहाँ पर जैमिनि का मत ही सूत्रकार महर्षि बादरायण को मान्य है, बादरि का मत मान्य नहीं है। इस अधिकरण का शांकरभाष्य सूत्रानुसारी नहीं है। इसकी विस्तृत जानकारीके लिए इस सूत्र की श्रुतप्रकाशिका व्याख्या देखनी चाहिए। **यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म।**(बृ.उ.3.4.1) आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उससे अतिरिक्त कुछ भी साक्षात् अपरोक्ष नहीं है। ब्रह्मातिरिक्त सब वृत्ति के द्वारा वेद्य है। ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश होने से साक्षात् अपरोक्ष है। यह शांकरमतानुसारी अर्थ हमें सर्वथा अमान्य नहीं है। शांकरमत में वृत्ति भी वृत्ति से वेद्य नहीं है, अतः साक्षात् पद से उसके ब्रह्मत्व का कैसे वारण होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह होता है कि वृत्ति साक्षिभास्य है, ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश है, उनके इस उत्तर से ही 'ब्रह्मेतर सब वृत्तिवेद्य हैं' यह उनका उक्त कथन निरस्त हो जाता है। ब्रह्मेतर जीव तथा धर्मभूतज्ञान की भी बहुत प्रमाणों से स्वयंप्रकाशता सिद्ध है। केवल ब्रह्म की निरपेक्षप्रकाशता नहीं होती है, इसलिए विशिष्टाद्वैतवेदान्ती प्रस्तुत श्रुति का अर्थान्तर स्वीकार करते हैं-''जो साक्षात् और अपरोक्ष ब्रह्म है।'' साक्षात् ब्रह्मका अर्थ है- ब्रह्म पद से साक्षात् अर्थात् मुख्यवृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य। ऐसा अर्थ करने पर ही

तस्मिन्नेव ब्रह्म शब्दो मुख्यवृत्तः इस स्मृति का मूल प्रकृत श्रुति सिद्ध होती है।

ब्रह्मोपासना

ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यास ने कहा है कि शास्त्रों में मोक्ष के साधन रूप से कहा गया ज्ञान असकृत् आवृत्तिरूप(उपासनात्मक ज्ञान) है क्योंकि **ब्रह्मविदाप्नोति** यहाँ ध्यान के पर्याय विद् धातु से उसका उपदेश किया जाता है-**आवृत्तिरसकृदुपदेशात्**(ब्र.सू.4.1.1)। वेदन का उपदेश करने वाले वाक्यों में ध्यान और उपासना शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है, जैसे कि मन की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करनी चाहिए-**मनो ब्रह्मेत्युपासीत।**(छां.उ.3.18.1) इस प्रकार उपासना शब्द से आरम्भ किये गये विषय का 'जो पुरुष इस प्रकार जानता है, वह दानजन्य कीर्ति से और पराक्रमजन्य यश से प्रकाशित होता है, तथा वेदाध्ययन की समृद्धिरूप ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर अपना कार्य करने में उत्साहित होता है'-**भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।**(छां.उ.3.18.3) इस प्रकार वेदन शब्द से उपसंहार देखा जाता है। रैक्व जिस वेद्य को जानता है, अन्य विद्वान् उसके अन्तर्गत ही कुछ जानते है। वह सर्वज्ञ रैक्व मेरे द्वारा कहा गया-**यस्तद् वेद यत् स वेद, स मयैतदुक्तः।**(छां.उ.4.1.4) इस प्रकार उपक्रम में वेदन शब्द से कहे गये रैक्व के ज्ञान का 'हे भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिए-**अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवताम् उपास्से।**(छां.उ.4.2.2) इस प्रकार उपासना शब्द से उपसंहार देखा जाता है। इससे वेदन और उपासना शब्द का एक अर्थ सिद्ध होता है। **ब्रह्मविदाप्नोति** इत्यादि वाक्यों के समान अर्थ वाले **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**(बृ.उ.6.45) और **ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।**(मु.उ.3.1.8) इत्यादि वाक्यों में ध्यान के द्वारा वेदन कहा जाता है। चिन्तन को ध्यान कहते हैं और चिन्तन स्मृतिप्रवाहरूप होता है, उपासना शब्द का भी यही अर्थ होता है अतः तैलधारावदविच्छिन्न स्मृतिरूप उपासना ही यहाँ वेदन शब्द से कही जाती है। श्रुतियों में कहीं ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन कहा गया है, कहीं ब्रह्म का ध्यान, कहीं ब्रह्म की ध्रुवास्मृति और कहीं ब्रह्म का दर्शन मोक्ष का साधन कहा गया है। गीता में भक्ति मोक्ष का साधन कही गयी है। इन सबका समन्वय पूर्वमीमांसा(6.8.10)में वर्णित

छागपशुन्याय से हो जाता है। **पशुना यजेत्** इस प्रकार पशु से याग करने के लिए कहा जाता है। वह यागोपयोगी पशु कौन है? ऐसी जिज्ञासा होती है। मन्त्रवर्ण में छाग का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि वह पशु छाग (बकरा) ही है। छाग ही सामान्य अर्थ के वाचक पशु शब्द से तथा विशेष अर्थ के वाचक छाग शब्द से कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि समानप्रकरण में पठित सामान्य अर्थ के वाचक शब्द विशेष अर्थ को भी कहते हैं। इस न्याय के अनुसार यह मानना चाहिए कि भक्ति ही मोक्ष का साधन है। भक्ति शब्द विशेष अर्थ का वाचक तथा ज्ञानादि शब्द सामान्य अर्थ के वाचक हैं। प्रेमरूप निरन्तरस्मरण धारा ही भक्ति है और स्मरण ज्ञान है। इसलिए यह स्मरणरूप भक्ति ज्ञान शब्द से कही जाती है। यह भक्ति निरन्तर स्मरणरूप तथा ध्यानरूप होने के कारण ध्रुवास्मृति एवं ध्यान शब्द से कही जाती है। भक्ति निरन्तर बढ़ते-बढ़ते दर्शन(प्रत्यक्ष) के समान आकार वाली हो जाती है, इसलिए उच्च दशा में पहुँची हुई भक्ति दर्शन शब्द से कही जाती है। इस प्रकार ज्ञान, ध्यान, ध्रुवास्मृति और दर्शन आदि सामान्य शब्द भक्तिरूप विशेष अर्थ का बोध कराते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिरूपता को प्राप्त हुआ ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। परमात्मा को जानकर ही संसार का अतिक्रमण होता है, मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान से अतिरिक्त उपाय नहीं है-**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**(श्वे.उ.3.8), जो परमात्मा को जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं-**य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।**(क.उ.2.3.9), ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है-**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।**(मु.उ.3.2.9) और ब्रह्म को जानने वाला साधक परब्रह्म को प्राप्त करता है-**ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ.2.1.1), इत्यादि वाक्यों के द्वारा मोक्ष के साधनरूप से कहा गया ज्ञान भक्तिरूप है। प्रीतिरूपापन्न उपासनात्मक ज्ञान ही भक्ति है। यही मोक्षसाधन के बोधक वेदन और ज्ञान शब्दों से कहा जाता है। इस प्रकार ब्रह्मवित् का अर्थ ब्रह्मोपासक होता है। तत्क्रतुन्याय[1] से प्राप्य वस्तु ही उपास्य होती है। **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**

---

1. **यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति।**(छा.उ.3.14.1) इस श्रुति से तत्क्रतुन्याय वर्णित है। इस श्रुति का यह अर्थ है कि उपासक इस लोक में जिस गुण से विशिष्ट उपास्य की उपासना करता है, वह यहाँ से जाकर उस गुण से विशिष्ट को ही प्राप्त करता है। उपास्य और प्राप्य की एकता को कहने में इस न्याय का उपयोग होता है।

इस मन्त्र में 'परम' पद से मुमुक्षु के प्राप्य परब्रह्म का कथन होने से उसे ही उपास्य जानना चाहिए। उक्त मन्त्र में उपास्य ब्रह्म, उसका वेदन(उपासना), प्राप्ति और प्राप्य ये चार विषय कहे गये हैं। ब्रह्म क्या है? वेदन क्या है? प्राप्ति क्या है? और प्राप्य क्या है? ऐसी आकांक्षा होने पर मन्त्र के द्वारा उन विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए **तदेषाऽभ्युक्ता** इस वाक्य को प्रस्तुत किया जाता है, इसका यह अर्थ है कि **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** इस ब्राह्मणवाक्य के विषय ब्रह्म को लक्ष्य करके अध्येताओं के द्वारा **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** यह ऋचा कही जाती है अर्थात् इस ऋचा के द्वारा ब्राह्मणवाक्य में कहे विषयों का स्पष्टीकरण किया जाता है-

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म

जगत्कारण ब्रह्म निर्विकार होने से सत्य कहलाता है। स्वयंप्रकाश एवं ज्ञान वाला होने से ज्ञान कहलाता है और अपरिच्छिन्न होने से अनन्त कहलाता है, इस प्रकार यह मन्त्र सत्यत्व, ज्ञानत्व और अनन्तत्व धर्म से विशिष्ट एक ब्रह्म का प्रतिपादन करता है।

निर्विकार ब्रह्म

सत् पदार्थ को ही सत्य कहते हैं और उसके धर्म को सत्ता, वह दो प्रकार की होती है-सोपाधिक सत्ता और निरुपाधिक सत्ता। निरुपाधिक सत्ता का आश्रय ब्रह्म है, वही प्रस्तुत श्रुति में सत्य शब्द से कहा गया है। स्वरूपतः और गुणतः विकार से रहित वस्तु सत्य कहलाती है। **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म।**(तै.उ.2.1.1) इस श्रुति में आया 'सत्यम्' पद निरुपाधिक सत्ता से युक्त ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, उससे स्वरूपतः विकार वाले अचेतन पदार्थ और उससे सम्बद्ध बद्ध जीव की व्यावृत्ति होती है-**तत्र सत्यपदं निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह। तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संसृष्टश्चेतनश्चव्यावृत्तः।**(श्रीभा.1.1.2) ब्रह्म की सत्ता किसी के अधीन नहीं है किन्तु चेतन और अचेतन पदार्थों की सत्ता ब्रह्म के अधीन है। वे पदार्थ देश, काल आदि उपाधियों से अवस्थान्तर को प्राप्त होते हैं। किसी परिणामविशेष के कारण भिन्न-भिन्न अवस्थावाले पदार्थ की सत्ता सोपाधिक सत्ता कही जाती है। इसका अर्थ है-विकारित्व और इससे भिन्न निरुपाधिक सत्ता का अर्थ है-निर्विकारत्व। निरुपाधिक सत्ता वाली वस्तु स्वरूपतः और धर्मतः निर्विकार होती है

इसलिए सत्य पद से स्वरूपतः विकार वाले अचेतन एवं उससे सम्बद्ध चेतन बद्धजीव का ग्रहण नहीं हो सकता। कार्यावस्था(स्थूलावस्था) होने से चेतन और अचेतन को स्थूल एवं कारणावस्था(सूक्ष्मावस्था) होने से सूक्ष्म कहा जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नामों से कहने योग्य उनकी दो अवस्थाएँ होती हैं। अवस्थान्तर वाले होने से वे सोपाधिक सत्ता वाले अर्थात् विकारी होते हैं। प्रकृति का कार्यावस्था में महत् से लेकर भूत-भौतिक पदार्थों के रूप में परिणाम(विकार) होता रहता है, यह प्रकृति के स्वरूप का परिणाम है। कार्यावस्था में बद्ध जीव के धर्मभूत ज्ञान का कामना आदि विविध वृत्तियों के रूप में परिणाम होता है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान सदा एकरूप ही रहता है, उसका कोई परिणाम नहीं होता, इस प्रकार जीव का प्रकृति जैसा स्वरूपतः परिणाम नहीं होता किन्तु धर्मतः परिणाम होता है। सत्य पद स्वरूपतः और गुणतः विकार से रहित ब्रह्म का बोध कराता है। सभी विकारों से रहित होने के कारण ब्रह्म सत्यस्वरूप है-**सत्यपदं स्वरूपतो गुणतश्च विकारराहित्यं बोधयति। सर्वविकाररहितत्वात् सत्यस्वरूपं ब्रह्म।**(तै.उ.आ.भा.2.1.1)। परमात्मा के धर्मभूतज्ञान का भी सिसृक्षा(सृष्टिविषयक इच्छा) आदि के रूपमें परिणाम होता है तो परमात्मा भी धर्मतः विकारी है, ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि यहाँ कर्मकृत धर्मतः परिणाम विवक्षित है। वह परमात्मा में नहीं है अतः वह धर्मतः अविकारी कहा जाता है। जगत् रज्जुसर्प जैसा मिथ्या नहीं है बल्कि सत्य है। प्रकृति का स्वरूपतः परिणाम होता है। जीवात्मा का स्वरूपतः परिणाम नहीं होता इसलिए प्रकृति की अपेक्षा जीवात्मा सत्य है। जीवात्मा का धर्मतः परिणाम होता है, परमात्मा का धर्मतः भी परिणाम नहीं होता इसलिए जीवात्मा की भी अपेक्षा परमात्मा सत्य है। **सत्यस्य सत्यम्।** (बृ.उ.2.3.6) यह बृहदारण्यक श्रुति ही सत्य पदार्थों के तारतम्य को कहती है। इस वास्तविकता को न समझने के कारण ही बौद्धसिद्धान्तसम्मत 'जगन्मिथ्या' यह मिथ्या धारणा प्रचलित हुई। ब्रह्म का नाम 'सत्य का सत्य है' जीवात्मा सत्य है, उससे भी बढ़कर ब्रह्म सत्य है-**अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।**(बृ.उ.2.3.6)। त्रिगुणात्मिका अचेतन प्रकृति के स्वरूप में विकार होता रहता है। जीव के धर्मभूत ज्ञान में विकार होने पर भी स्वरूप में विकार नहीं होता, इसलिए जीव सत्य कहा जाता है। ब्रह्म के स्वरूप में विकार नहीं होता है और धर्म में भी विकार नहीं होता इस कारण जीव से भी बढ़कर ब्रह्म सत्य (निर्विकार) सिद्ध होता है इसलिए ब्रह्म को सत्य का सत्य कहा जाता है। इस प्रकार विशेष्य परमात्मस्वरूप अविकारी

होता है। सत्य परमात्मा ही सत्य निर्विकार चेतन जीव तथा अनृत विकारी अचेतनरूप हो गया-**सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्।**(तै.उ.2.6.3) यह जगत्कारण ब्रह्म सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट है। प्रस्तुत तैत्तिरीय श्रुति में द्वितीय सत्य पद से तीनों को सत्य कहा जाता है। प्रथम सत्य पद से जड़ जगत् की अपेक्षा जीवात्मा को सत्य कहा गया है तथा जीव की अपेक्षा प्रकृति को अनृत कहा गया है। इस प्रकार श्रुतियों से ही सत्यत्व में तारतम्य सिद्ध है। यद्यपि जगत् मिथ्या नहीं है, फिर भी यदि मिथ्या शब्द का परिणामी(विकारी) अर्थ में प्रयोग किया जाय तो इससे हम सविशेषाद्वैत वेदान्तियों का कोई विरोध नहीं। संसार में आसक्ति न हो, इसलिए कुछ विद्वान् भी उसे मिथ्या कह देते हैं। वस्तुतः आसक्ति का हेतु सुखप्रदत्वबुद्धि है, सत्यत्वबुद्धि नहीं। ब्रह्म निरुपाधिक सत्य है, जगत् ब्रह्म जैसा सत्य नहीं है। सत्य पद का प्रवृत्तिनिमित्त अबाधितत्व है। देशकाल की अपेक्षा ब्रह्म से भिन्न जगत् का भी अबाधितत्व है अतः ब्रह्म से भिन्न जगत् का सत्यत्व सोपाधिक सत्यत्व है, ब्रह्म का ऐसा सोपाधिक सत्यत्व नहीं है इसलिए जगत् ब्रह्म जैसा सत्य नहीं है, इस दृष्टि से उसे असत्य कह सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्म की अपेक्षा जगत् का जो असत्यत्व है, वह ब्रह्मविलक्षणत्वरूप है, मिथ्यात्वरूप नहीं।

ज्ञाता तथा ज्ञानस्वरूप ब्रह्म

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञान गुण का आश्रय है। 'सत्यं ज्ञानम्' इस तैत्तिरीय श्रुति में आया ज्ञान पद सदा असंकुचित ज्ञानैकाकार को कहता है। ऐसा होने से मुक्त की व्यावृत्ति हो जाती है क्योंकि मुक्त होने के पहले उसका धर्मभूतज्ञान संकुचित रहता है-**ज्ञानपदं नित्यासंकुचितज्ञानैकाकारमाह, तेन कदाचित्संकुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः।**(श्रीभा.1.1.2) नित्य असंकुचित ज्ञानत्व ही जिसका आकार है, उसे नित्य असंकुचितज्ञानैकाकार कहते हैं। नित्य असंकुचित ज्ञानत्व अद्वारक और धर्मद्वारा परमात्मा का आकार होता है-**नित्यासंकुचितज्ञानत्वम् एवाकारो यस्य तत् नित्यासंकुचितज्ञानैकाकारम्। नित्यासंकुचितज्ञानत्वम् अद्वारकं धर्मद्वारकं च परमात्मन आकारो भवति।**(श्रु.प्र.1.1.2)। ज्ञानत्व अद्वारक आकार है, इस कथन का अर्थ है-परमात्मस्वरूप साक्षात् ज्ञानत्व का आश्रय है और ज्ञानत्व धर्मद्वारा आकार है, इसका अर्थ है-परमात्मस्वरूप धर्मद्वारा ज्ञानत्व का आश्रय है अर्थात् परमात्मा स्वरूपतः ज्ञान है और

धर्मतः भी ज्ञान है।

शंका-प्रस्तुत तैत्तिरीयश्रुति में पठित ज्ञान पद का विषयप्रकाशकत्वरूप ज्ञानत्व(सविषयकत्व) प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकार करनेपर धर्मभूतज्ञान का ही ग्रहण होगा क्योंकि यही विषय का प्रकाशक है तथा स्वरूपभूत ज्ञान का ग्रहण नहीं होगा क्योंकि यह केवल अपना प्रकाशक है, अपने से भिन्न किसी भी विषय का प्रकाशक नहीं है। यदि ज्ञान पद का स्वयंप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकार करते हैं तो ज्ञानमात्र ब्रह्मस्वरूप का ग्रहण होगा क्योंकि यही(ज्ञान) स्वयंप्रकाश है। ज्ञानगुणाश्रय का ग्रहण नहीं होगा क्योंकि ज्ञान गुण स्वयंप्रकाश नहीं है। श्रुति और सूत्र ज्ञानगुणाश्रयत्वेन तथा ज्ञानस्वरूपत्वेन दोनों प्रकार से परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं किन्तु यहाँ किसी भी रीति से उभयतः परमात्मा का ग्रहण नहीं होता।

समाधान-स्वयंप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व को प्रवृत्तिनिमित्त स्वीकार करने पर समाधान हो जाता है क्योंकि स्वरूपभूत ज्ञान तो स्वयंप्रकाश है ही तथा धर्मभूत ज्ञान विषय का प्रकाशक होने के साथ स्वयंप्रकाश भी है इसलिए स्वयंप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व स्वरूप और धर्म दोनों में रहता है। इस प्रकार ज्ञानपद से ज्ञानाश्रयत्वेन तथा ज्ञानस्वरूपत्वेन दोनों प्रकार से ब्रह्म का ग्रहण होता है। जैसे ब्रह्म स्वरूपतः बृहत् है और गुणतः बृहत् है, वैसे ही वह स्वरूपतः ज्ञान है और धर्मतः भी ज्ञान है।

वस्तुतः ज्ञानम् पद अन्तोदात्त[1] होने से अर्शआद्यजन्त[2] है इसलिए ज्ञानगुणाश्रय ही अर्थ है। इस प्रकार ज्ञानपद निरुपाधिक(स्वाधीन) ज्ञाता को कहता है। जीव का निरुपाधिक ज्ञातृत्व नहीं है, उसका ज्ञातृत्व ब्रह्म के अधीन है इसलिए ज्ञान पद से जीव की व्यावृत्ति हो जाती है। श्रीभाष्य के भाष्यार्थदर्पणव्याख्याकार भाष्य में कहे ज्ञानैकाकारम् का ज्ञानगुण ही अर्थ करते हैं-**ज्ञानगुणकत्वरूपार्थमाह ज्ञानपदमिति**।(भा.द.1.1.2) रङ्गरामानुजमुनि ने भी यही कहा है-**वस्तुतस्तु सत्यं ज्ञानमिति अस्यान्तोदात्तत्वात् अर्शआद्यजन्तत्वेन ज्ञानगुणकत्वमेवार्थः**।(रं.भा.) इस प्रकार प्रतिपादित ब्रह्म के आश्रित रहने वाला ज्ञान उसका स्वरूपनिरूपक

---

1. **चितः**(अ.सू.6.1.163) इति सूत्रेण अन्तोदात्तम्।
2. **अर्शआदिभ्योऽच्** (अ.सू.5.2.127) इति सूत्रेण अच्प्रत्ययान्तः

धर्म है। जिस धर्म के विना वस्तु के स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता, उसे स्वरूपनिरूपक धर्म कहते हैं। जैसे गो का स्वरूपनिरूपक धर्म गोत्व है, वैसे ही ब्रह्म का स्वरूपनिरूपक धर्म ज्ञान है। स्वरूप का निरूपण करने वाले धर्मबोधक शब्द धर्म का बोध कराते हुए धर्मी का भी बोध कराते हैं। जैसे गो के स्वरूप का निरूपण करने वाला, गोत्व धर्म का बोधक गोशब्द गोत्व का बोध कराते हुए धर्मी गोस्वरूप का भी बोधक होता है, वैसे ही ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करने वाला, ज्ञान धर्म का बोधक ज्ञान शब्द ज्ञान धर्म का बोध कराते हुए धर्मी ब्रह्मस्वरूप का भी बोधक होता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप तथा उसके धर्म इन दोनों को ही ज्ञान कहा जाता है। ज्ञानस्वरूप वस्तु ज्ञान का आश्रय अर्थात् ज्ञाता होती है। ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने से ज्ञान कहा जाता है और विषयप्रकाशक धर्मभूतज्ञान का आश्रय होने से ज्ञाता कहा जाता है। ब्रह्म का यह ज्ञातृत्व विकार(आगन्तुक धर्म) नहीं है क्योंकि ज्ञानगुणाश्रयत्व ही ज्ञातृत्व है। ज्ञान नित्य ब्रह्म का स्वाभाविक धर्म है इसलिए ब्रह्म का ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व भी स्वाभाविक है।

आत्मस्वरूप का निरूपक, धर्मबोधक ज्ञान शब्द ज्ञाता आत्मा का भी बोधक है, इस कारण आत्मा को ज्ञान कहा जाता है। इस अर्थ का सूत्रकार ने **तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।**(ब्र.सू.2.3.29) सूत्र से प्रतिपादन किया है। यहाँ पर धर्मवाचक शब्द से धर्मी का कथन लाक्षणिक(गौण) है-**गुणवाचिशब्देन गुण्यभिधानं लाक्षणिकम् इत्यत्राह।**(श्रु प्र.2.3.30) ऐसी शंका होने पर महर्षि वेदव्यास ने **यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्।**(ब्र.सू.2.3.30) यह सूत्र बनाया है, इसका यह अर्थ है कि आत्मा का स्थायी धर्म ज्ञान होने के कारण ज्ञान शब्द से आत्मा को कहने में कोई दोष नहीं है अतः यहाँ मुख्यवृत्ति से ही ज्ञान शब्द से ब्रह्म का बोध होता है। ज्ञानगुण का आश्रय होने से ही ब्रह्म को ज्ञान कहा जाता है, ऐसी बात नहीं अपितु ज्ञानस्वरूप होने से भी ज्ञान कहा जाता है। ब्रह्म विज्ञानरूप है, आनन्दरूप है-**विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म।**(बृ.उ.3.9.28), विज्ञानरूप ब्रह्म ही आनन्दरूप है-**प्रज्ञानघन एवानन्दमयः।**(रामो. उ.3) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म की ज्ञानरूपता सिद्ध है।

यः सर्वज्ञस्सर्ववित्।(मु.उ.1.1.10, 2.2.7) इत्यादि श्रुतियों के
आधार पर नैयायिक ब्रह्म को ज्ञानगुण का आश्रय ही मानते हैं, ज्ञानस्वरूप
नहीं और **विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म।**(बृ.उ.3.9.28) इत्यादि श्रुतियों के
अनुसार शांकरमतावलम्बी ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं, ज्ञाता नहीं
किन्तु बोधायनमतानुयायी वेदान्ती ब्रह्म को ज्ञाता तथा ज्ञानस्वरूप दोनों ही
मानते हैं क्योंकि श्रुतियाँ दोनों प्रकार से ब्रह्म का निरूपण करती हैं। जो
परमात्मा सबको स्वरूपतः जानता है तथा प्रकारतः जानता है-**यः सर्वज्ञः
सर्ववित्।** सबको जानने वाले ब्रह्म को ध्यान से अतिरिक्त किस साधन
से जानें-**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।**(बृ.उ.2.4.14) इत्यादि श्रुतियों
से परमात्मा को ज्ञाता अर्थात् ज्ञान का आश्रय कहा जाता है। परब्रह्म की
विविध प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं। स्वाभाविक ज्ञान, बल और
क्रिया भी सुनी जाती है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी
ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8) यह श्रुति ज्ञान को स्वाभाविक कहती है,
इससे ज्ञातृत्व(ज्ञानाश्रयत्व) अविद्यासिद्ध है, यह शांकरवेदान्त की मान्यता
भी खण्डित हो जाती है। स्वाभाविक ज्ञातृत्व को 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का
विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ में जीवात्मविवेचन के कर्तृत्वप्रसंग में देखना
चाहिए। श्रुतियों से ब्रह्म का ज्ञातृत्व सिद्ध होने पर उसे केवल ज्ञानरूप
मानना उचित नहीं। स्वरूपभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान ये दोनों भिन्न
वस्तुएँ हैं। स्वरूपभूत ज्ञान ब्रह्मस्वरूप को ही प्रकाशित करता है तथा
धर्मभूत ज्ञान अन्य सभी को प्रकाशित करते हुए ब्रह्मस्वरूप को भी
प्रकाशित करता है। ये दोनों ही स्वयंप्रकाश हैं।

अनन्त

अन्त का अर्थ होता है-परिच्छेद, इसी को इयत्ता या सीमा कहते
हैं। जिस वस्तुका अन्त नहीं होता, वह अनन्त कही जाती है-**न विद्यते
अन्तः परिच्छेदः यस्य तद् अनन्तम्।** देश, काल और वस्तु भेद से
परिच्छेद तीन प्रकारका होता है।

देशपरिच्छेद

एक स्थान में रहने वाले पदार्थ का दूसरे स्थान में न रहना देशपरिच्छेद
कहलाता है। घटादि पदार्थ एक स्थान में रहते हुए दूसरे स्थान में नहीं

रहते अतः वे देशपरिच्छेद वाले(देश से परिच्छिन्न) कहे जाते हैं। जीवात्मा भी अणु होने के कारण एक स्थान में रहता है, दूसरे स्थान में नहीं रहता अतः वह भी देशपरिच्छेद वाला है। परमात्मा चेतनाऽचेतन सभी स्थानों में रहने के कारण देशपरिच्छेद से रहित(देश से अपरिच्छिन्न) है।

कालपरिच्छेद

एक काल में रहने वाले पदार्थ का दूसरे काल में न रहना कालपरिच्छेद कहलाता है। घटादि उत्पत्ति काल के पूर्व और विनाश काल के पश्चात् नहीं रहते अतः वे कालपरिच्छेद वाले होते हैं। परमात्मा सर्वकाल में रहता है इसलिए कालपरिच्छेद से रहित(काल से अपरिच्छिन्न) है।

वस्तुपरिच्छेद

'यह यह नहीं है' इस प्रकार व्यवहार(कथन) की योग्यता वस्तुपरिच्छेद कहलाती है-**इदम् इदं न भवति इति व्यवहारार्हत्वं वस्तुपरिच्छेदः।** एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं हो सकती, इस कारण 'घट पट नहीं है', 'पट घट नहीं है' इस प्रकार किए जाने वाले व्यवहार के योग्य घटादि हैं अतः वे उक्त व्यवहार की योग्यतारूप वस्तुपरिच्छेद वाले(वस्तु से परिच्छिन्न) हैं। ब्रह्म अन्तरात्मारूप से सभी में रहता है इसलिए सब कुछ ब्रह्म है-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**[1](छां.उ.3.14.1) इसलिए घट ब्रह्म नहीं है इत्यादि प्रकार से व्यवहार के अयोग्य ब्रह्म है। ब्रह्म में वैसी योग्यता का अभाव ही वस्तुपरिच्छेद का अभाव है। इस प्रकार ब्रह्म वस्तुपरिच्छेद से रहित (वस्त्वपरिच्छिन्न)सिद्ध होता है। वस्तुपरिच्छेद का अभाव ब्रह्म में होने से वह घटपटादि सभी शब्दों से कहा जाता है। इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वात्मत्व अर्थात् सबका आत्मा

---

1. एक शरीर का अन्तर्यामी जीवात्मा है, परमात्मा चेतनाऽचेतन सभी पदार्थों का अन्तर्यामी है इसलिए जैसे चैत्र(चैत्र शरीरवाला जीवात्मा) जानता है। यहाँ पर शरीर का वाचक चैत्र शब्द जीवात्मा का बोध कराता हैं, वैसे ही **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (छां. उ.3.14.1) यहाँ चेतनाऽचेतन सभी पदार्थों(शरीरों) का वाचक सर्व शब्द परमात्मा का बोध कराता है।

होना ही वस्तु-अपरिच्छेद है। सबका आत्मा परब्रह्म है, वह वस्तुपरिच्छेद से रहित है।

जिस प्रकार देश का अभाव होने से देश-अपरिच्छेद नहीं होता अपितु देशविशेष से सम्बन्ध न रखना अर्थात् सर्वदेशसम्बन्धित्व देश-अपरिच्छेद है और काल का अभाव होने से काल-अपरिच्छेद नहीं होता अपितु कालविशेष से सम्बन्ध न रखना अर्थात् सर्वकालसम्बन्धित्व काल-अपरिच्छेद है, उसी प्रकार वस्तु का अभाव होने से वस्तु-अपरिच्छेद नहीं होता अपितु वस्तुविशेष से सम्बन्ध न रखना अर्थात् सर्ववस्तुसम्बन्धित्व ही वस्तु-अपरिच्छेद है। ईश्वर के ईश्वरत्व के अनुरूप उसके शेषित्व, आधारत्व तथा नियन्तृत्वादि धर्म हैं, इनके कारण ईश्वर का सभी वस्तुओं से सम्बन्ध रहता है। सभी पदार्थ उसके शेष, आधेय एवं नियाम्य हैं। ऐसा होने पर परमात्मा का सबसे भेद एवं सबसे उत्कर्षता सिद्ध होती है। इस प्रकार अनन्त कहने से प्रपञ्च का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।

सभी देश और सभी काल में विद्यमान श्रीभगवान् के गुण भी सभी देश और सभी काल में विद्यमान होते हैं, इसलिए वे देशपरिच्छेद तथा कालपरिच्छेद से रहित होते हैं किन्तु वे उक्त लक्षण वाले वस्तुपरिच्छेद से रहित नहीं होते। अब प्रकारान्तर से भगवद्गुणों में वस्तुपरिच्छेद के अभाव का निरूपण किया जाता है- 'यह वस्तु इतनी है' इस प्रकार कही जाने वाली वस्तु की परिच्छिन्नता(अपकर्षता, सीमितपना) वस्तुपरिच्छेद होती है। श्रीभगवान् के गुण असंख्य हैं, उनमें किसी भी गुण की अवधि नहीं है इसलिए उनके गुणों में 'यह इतना है' इस प्रकार कहा जाने वाला वस्तुपरिच्छेद नहीं है। यह वस्तुपरिच्छेद का अभाव ही वस्तु-अपरिच्छेद है। श्रीभगवान् के गुणों का पार नहीं पा सकते, इस कारण वह अव्यय परमात्मा अनन्त कहलाता है-**नान्तं गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तोऽयमव्ययः।**(वि. पु.2.5.24)। श्रीभगवान् स्वरूपतः और गुणतः वस्तुपरिच्छेदरहित हैं, इसलिए नित्यसूरियों की व्यावृत्ति हो जाती है, उनका स्वरूप अणु होने के कारण सातिशय(अपकर्षता से युक्त) है और ऐश्वर्यादि गुण जगद्व्यापार के अयोग्य होने से सातिशय हैं। ज्ञानगुण नित्य तथा व्यापक होने पर भी परमात्मा की नित्य इच्छा के अधीन होने से सातिशय है। श्रीभगवान् के समान कोई नहीं है तथा उनसे अधिक कोई नहीं है। इस प्रकार कही

जाने वाली समानता तथा अधिकता के अभाव का कारण गुणों के द्वारा निरतिशय प्रकर्षता है, यह वस्तु-अपरिच्छेद ही है।

घटादि पदार्थ देश, काल और वस्तु तीनों से परिच्छिन्न होते हैं। काल वस्तुपरिच्छिन्न होता है। जीवात्माएँ देश और वस्तु से परिच्छिन्न होती हैं। त्रिविध परिच्छेद से रहित ब्रह्म ही है। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।**(तै.उ.3.1.1) इत्यादि श्रुति से जगज्जन्मादिकारणत्वेन ज्ञात ब्रह्म की सकल इतर से विलक्षणता **सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म**(तै.उ.2.1.1) इस श्रुति से कही जाती है।

निर्विशेषाद्वैतमत

सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यह वाक्य ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूपमात्र का बोध कराता है, इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म सत्य अर्थात् असत्य से भिन्न है, ज्ञान अर्थात् जड़ से भिन्न है एवं अनन्त अर्थात् परिच्छिन्न से भिन्न है। सत्य पद असत्य का व्यावर्तक(भेदक) है, ज्ञान पद जड़ का व्यावर्तक है, अनन्त पद परिच्छिन्न का व्यावर्तक है। ब्रह्म असत्य नहीं है, जड़ नहीं है, परिच्छिन्न नहीं है, इस प्रकार उक्त वाक्य ब्रह्म के स्वरूपमात्र का बोधक है।

'**सत्यं ज्ञानमनन्तम्** यह वाक्य सत्यत्व आदि गुणों से विशिष्ट ब्रह्म का बोधक है' ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ सामानाधिकरण्य होने से एक अर्थ की प्रतीति होती है। अनेक गुणों से विशिष्ट एक ब्रह्म का बोध होने पर भी एक अर्थ सिद्ध होता है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि एकार्थत्व का अर्थ सभी पदों के अर्थ की एकता होती है। विशिष्ट ब्रह्म का बोधक स्वीकार करने पर एक अर्थ की सिद्धि नहीं होगी, अनेक अर्थो की सिद्धि होगी क्योंकि विशेषणों में पारस्परिक भेद तथा इनका विशेष्य से भेद होता है। सत्य, ज्ञान आदि पदों को सत्यत्व, ज्ञानत्व आदि का बोधक न होने से तथा स्वरूपमात्र का बोधक होने से सभी पद पर्याय हो जायेंगे क्योंकि ये सभी एक ही अर्थ का बोध कराते हैं। पर्याय शब्दों में एक ही पर्याप्त होता है, अन्य का प्रयोग व्यर्थ होता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं क्योंकि ये पद भिन्न-भिन्न रूपों से एक अर्थ के बोधक होते हैं। सत्यपद अनृतभिन्नत्वेन ब्रह्म के स्वरूपमात्र का

बोधक है, ज्ञानपद जडभिन्नत्वेन तथा अनन्तपद परिच्छिन्नभिन्नत्वेन ब्रह्म के स्वरूपमात्र का बोधक है, ऐसा होने से सभी पदों की सार्थकता होती है। वे पर्याय भी नहीं होते। स्वरूप लक्षण से जानने योग्य ब्रह्म सम्पूर्ण इतर पदार्थों से व्यावृत्त है। सत्यादि तीन पदों के द्वारा इतर सम्पूर्ण पदार्थों का निराकरण किया जाता है। सत्यपद विकारी असत्य पदार्थ से व्यावृत्त ब्रह्म का बोधक है। ज्ञानपद जड़ पदार्थ से व्यावृत्त अर्थ का बोधक है। अनन्तपद देश, काल और वस्तु-परिच्छेद वाले पदार्थ से व्यावृत्त अर्थ का बोधक है।

सविशेषाद्वैतमत

उक्त वाक्य निर्धर्मक ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करता। वह तो शक्ति वृत्ति से ही सत्यत्व आदि गुणों से विशिष्ट ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। इस वाक्य को असत्य से भिन्न आदि अर्थ का प्रतिपादक मानने पर पदों में लक्षणा माननी होगी, जो कि दोष है, ऐसा होने पर भी ब्रह्म में असत्यादि तीन पदार्थों के तीन भेद स्वीकार करने होंगे, जिससे ब्रह्म सविशेष सिद्ध होगा, निर्विशेष सिद्ध नहीं होगा। प्रतियोगी भिन्न-भिन्न होने से भेद भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ये तीनों भेद ब्रह्म में रहने वाले धर्म हैं। यदि निर्विशेषाद्वैती कहना चाहे कि तीनों भेद ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ब्रह्म के धर्म नहीं हैं तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि भेद अधिकरण का स्वरूप वहीं माना जाता है, जहाँ स्वरूप का ज्ञान होने पर प्रतियोगी का अध्यास नहीं होता। जहाँ स्वरूप का ज्ञान होने पर प्रतियोगी का अध्यास होता है, वहाँ पर भेद अधिकरणस्वरूप नहीं होता, अधिकरण से भिन्न ही होता है। जैसे-मनुष्य को रज्जु में सर्प का भ्रम(अध्यास) होता है। यहाँ रज्जु अधिष्ठान है, उसमें सर्प का अध्यास होता है। सर्प से भिन्न उसके अधिकरण रज्जु को जानने पर वह भ्रम नहीं होता। यहाँ सर्पभेद को रज्जुस्वरूप नहीं माना जाता क्योंकि 'यह' इस रूप में ज्ञान होने पर भी सर्पभ्रम होता रहता है। वह भेद रज्जुत्वरूप(अधिकरण का असाधारण धर्म) है क्योंकि रज्जुत्व को जानने पर सर्प का भ्रम निवृत्त हो जाता है। अधिष्ठान के रूप में ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी असत्य, जड़ एवं परिच्छिन्न जगत् का अध्यास चलता रहता है। यह अर्थ निर्विशेषाद्वैतियों को मान्य है। यदि उक्त भेद ब्रह्मस्वरूप होते तो अधिष्ठान के रूप में

ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होने पर जगत् का अध्यास नहीं होना चाहिए किन्तु होता है, इससे सिद्ध होता है कि ये भेद ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं, ब्रह्म के धर्म हैं। अध्यास होते समय अधिष्ठान के रूप में ब्रह्ममात्र का ज्ञान होता है। भ्रम के विरोधी धर्मों का ज्ञान नहीं होता इसलिए भ्रम बना रहता है। जब इन धर्मों की प्रतीति होगी, तभी भ्रम निवृत्त होगा। इससे सिद्ध होता है कि ये भेद ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं, ब्रह्म के धर्म हैं। इस प्रकार सत्य आदि पदों की लक्षणा मानकर असत्यादि से भिन्न अर्थ करने पर भी ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है, निर्विशेष सिद्ध नहीं होता। इस विवरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत मन्त्र सत्यत्वादि से विशिष्ट ब्रह्म का ही बोधक है।

मुक्तात्मा का अनुभव

सर्वव्यापक, सर्वात्मा ब्रह्म हृदयरूप गुहा में भी स्थित है, इसका निरूपण शिक्षावल्ली(6.1) की व्याख्या में किया जा चुका है। मन्त्र में आये 'परमे व्योमन्' का अर्थ परमाकाश अर्थात् त्रिपादविभूति[1] है। **काम्यन्त इति कामाः कल्याणगुणाः।**(श्रीभा.1.1.1) इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुक्तों की कामना के विषय ब्रह्म के कल्याणगुण काम कहे जाते हैं। सभी विषयों से विरक्त मुक्तात्मा ब्रह्म और उसके कल्याण गुणों से अतिरिक्त किसी विषय की कामना करता ही नहीं। जो मुमुक्षु इस लोक में ब्रह्म और उसके सत्य कल्याण गुणों का साक्षात्कार करके यहाँ से जाते हैं-**अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्।**(छां.उ.8.1.6) इत्यादि श्रुतियों में अपहतपाप्मत्वादि[2] कल्याणगुण अर्थ में काम शब्द का प्रयोग हुआ है। विपश्चित् का अर्थ सर्वज्ञ होता है। **यः सर्वज्ञस्सर्ववित्।**(मु.उ.2.2.7) यह मुण्डकश्रुति भी ब्रह्म की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करती है। जो हृदयगुहा में स्थित सत्यत्व, ज्ञानत्वादि गुणों से विशिष्ट ब्रह्म की दर्शनसमानाकार उपासना करता है, वह देहत्याग के पश्चात् अर्चिरादि मार्ग से जाकर परम व्योम में सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ उसके सत्यत्वादि अनन्त कल्याण गुणों का अनुभव करता है।

---

1. इसका विवरण विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में देखना चाहिए।
2. छान्दोग्योपनिषत् की दहरविद्या(छां.उ.8.1.5)में ब्रह्म के अपहतपाप्मत्वादि गुण वर्णित हैं।

सर्वबन्धननिवृत्तिपूर्वक ब्रह्मानुभवात्मक मोक्ष की दशा में ब्रह्म के गुणों की प्रधानता का प्रतिपादन करने के लिए **ब्रह्मणा सह** ऐसा श्रुति निर्देश करती है। यहाँ **सहयुक्तेऽप्रधाने**(अ.सू.2.3.19)सूत्र से अप्रधान अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है। मुक्त के द्वारा ब्रह्म के साथ गुणों के अनुभव करने का अर्थ है-ब्रह्म और उसके सभी गुणों का युगपद् अनुभव करना। मुक्तात्मा और ब्रह्म दोनों गुणों का अनुभव करते हैं, ऐसा अर्थ नहीं। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र भोग्य(ब्रह्म और उसके गुणों) के साहित्य को कहता है, भोक्ता(मुक्तात्मा और ब्रह्म) के साहित्य को नहीं कहता अर्थात् मुक्तात्मा के द्वारा ब्रह्म और उसके गुण अनुभाव्य हैं, यह तात्पर्य है किन्तु ब्रह्म और मुक्त के द्वारा गुण अनुभाव्य (भोग्य) हैं, ऐसा तात्पर्य नहीं है। 'पुत्र के साथ पिता भात खाता है-पुत्रेण सह ओदनं भुङ्क्ते' इस प्रकार भोक्ता के साहित्य में जैसे पुत्र की अप्रधानता होती है, वैसे ही प्रस्तुत मन्त्र से भोक्ता का साहित्य मानने पर ब्रह्म की अप्रधानता होगी अतः भोक्ता का साहित्य न मानकर 'दूध के साथ भात खाता है-पयसा ओदनं भुङ्क्ते' के समान भोग्य का साहित्य माना जाता है। भोक्ता के जैसे पय और ओदन दोनों ही भोग्य होते हैं, वैसे ही ब्रह्म और कल्याण गुण दोनो ही भोग्य हैं इसलिए ब्रह्मसूत्रभाष्य में भोग्यसाहित्यपक्ष ही स्वीकार किया गया है।

धर्मी के अधीन धर्म रहता है इसलिए धर्मी की प्रधानता होती है और धर्म की अप्रधानता, वह धर्मिसत्ताधीनसत्ताकत्वरूप होती है- **धर्मिसत्ताधीनसत्ताकत्वरूपमप्राधान्यं धर्माणां प्राधान्यं च धर्मिणः।**(भा. प.) फिर भी जब किसी महापुरुष के गुणों से आकर्षित होकर कोई उसका दास बन जाता है, तब 'गुणैर्दास्यमुपागतः' इस प्रकार जैसे गुणों का प्रधानता से वर्णन किया जाता है, वैसे ही **सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता** यह श्रुति अनुभव की दशा में ब्रह्म के गुणों का प्रधानता से वर्णन करती है, तब ब्रह्म की अप्रधानता होना दोष है, ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि ब्रह्म की अपेक्षा कल्याण गुणों के अतिशयभोग्यत्व के प्रतिपादन का ब्रह्म के अतिशय भोग्यत्व में पर्यवसान होता है अर्थात् गुणों के अतिशय भोग्य होने से गुणी ब्रह्म अवश्य अतिशय भोग्य है, यह

कैमुतिकन्याय[1] से सिद्ध है। जैसे **तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्।**(छां.उ.8.1.1) यह श्रुति दहरोपासना में गुणों की प्रधानता को कहती है, वैसे ही तैत्तिरीयश्रुति उपासना में गुणों की प्रधानता को कहने के लिये सह शब्द का प्रयोग करती है। यहाँ फलदशा में अनुभाव्य गुणों की प्रधानता सुनी गयी है तो उपासना में गुणों की प्रधानता कैसे हो सकती है? फल और उपासना दोनों के प्रकार की एकता है अर्थात् दोनों में ब्रह्म का सगुणत्व और उसके गुणों की प्रधानता है। उपासक इस लोक में यद्धर्मविशिष्टत्वेन उपास्य की उपासना करता है, वह यहाँ से जाकर तद्धर्मविशिष्टत्वेन ही उसका अनुभव करता है-**यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति।**(छां.उ.3.14.1) इस छान्दोग्यश्रुति से ही फल और उपासना के प्रकार की एकता सिद्ध होती है, इस प्रकार उपासना में भी गुणों की प्रधानता संभव है, उसे ही सूचित करने के लिए श्रुति सह शब्द का प्रयोग करती है। वस्तुतः ब्रह्म के अन्दर जो कल्याण गुण हैं, उन गुणों तथा ब्रह्म दोनों की उपासना करनी चाहिए, यह उक्त छान्दोग्य श्रुति का अर्थ है। इस प्रकार दोनों उपास्य होने से दोनों समप्रधान ही सिद्ध होते हैं, इससे स्पष्ट है कि यद्यपि सह शब्द के प्रयोग से ब्रह्म की अप्रधानता सूचित होती है तथापि दहरविद्या के अनुसार उसका समत्व में ही तात्पर्य है, ऐसा जानना चाहिए।

वस्तुतः प्रस्तुत श्रुति से भोक्तृसाहित्य विवक्षित होने पर भी ब्रह्म की अप्रधानता नहीं कही जा सकती क्योंकि मुक्त की अपेक्षा ब्रह्म का ही भोक्तृत्व अतिशय है, मुक्त का नहीं, उसका भोक्तृत्व तो ब्रह्म के अधीन है, इस प्रकार भोक्तृसाहित्य पक्ष में ब्रह्म की अप्रधानता न होने से उसमें तृतीया विभक्ति सम्भव नहीं किन्तु तृतीया श्रूयमाण है, इससे स्पष्ट है कि यहाँ भोक्तृसाहित्य विवक्षित नहीं। ब्रह्म के अधीन मुक्त का

---

1. किं च तत् उत च, समाहारो वा किमुत। तस्य भावः इत्यर्थे ष्यञ् कैमुत्यम्। तत्र भवः इत्यर्थे अध्यात्मादित्वात् ठञ् कैमुतिकः इति। जब एक का प्रतिपादन किया गया धर्म दूसरेमें अनायास सिद्ध हो जाता है, तब इस न्याय की प्रवृत्ति होती है। जैसे गुणों की प्रधानता के प्रतिपादन से उसके आश्रय ब्रह्म की प्रधानता अनायास सिद्ध हो जाती है क्योंकि गुणों की प्रधानता ब्रह्म की प्रधानता के विना नहीं हो सकती। अतः गुणा की प्रधानता के प्रतिपादन से उसके आश्रय ब्रह्म की प्रधानता अनायास सिद्ध हो जाती है।

भोक्तृत्व होने से दोनों के भोक्तृत्व में तारतम्य होता है किन्तु उनके भोग्य विषयों में तारतम्य नहीं इसलिए भोग्य विषयों के द्वारा भी भोक्ता ब्रह्म की अप्रधानता नहीं कही जा सकती, इस प्रकार भी तृतीया न होने से भोक्तृसाहित्य पक्ष सम्भव नहीं।

जो उपासना करता है... वह अनुभव करता है...-**यो वेद.... सोऽश्नुते** इस प्रकार वेदन के अधीन भोक्तृत्व ज्ञात होता है। वह मुक्त का ही है, ब्रह्म का नहीं क्योंकि उसका भोक्तृत्व किसी के अधीन नहीं इसलिए उसकी भोक्तृत्वेन अप्रधानता नहीं कही जा सकती इस कारण भी यहाँ भोक्तृसाहित्य पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु उक्त वाक्य से उपासना के अधीन अनुभव ज्ञात होता है तथा उपासना और अनुभव का एक ही कर्ता ज्ञात होता है अतः उपासना करने वाले के ही अनुभाव्य(भोग्य) विषयों का साहित्य संभव है, इसी अभिप्राय से प्रदीपिकाव्याख्या में कहा है कि सह शब्द ब्रह्म की अप्रधानता का बोध नहीं कराता अपितु उसके भोग्यत्व का बोध कराता है-**न अप्राधान्यं ब्रह्मणः किन्तु सहशब्दः भोग्यत्वम् अवगमयति।**(प्रदी.)। मुक्तात्मा के अनुभाव्य विषय ब्रह्म और उसके गुण भी हैं। मुक्तात्मा ब्रह्म और उसके सत्यत्वादि, अपहतपाप्मत्वादि तथा दयावात्सल्यादि अनन्त कल्याण गुणों का युगपद् अनुभव करता है, यही **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति** इस श्रुति का तात्पर्य है।

प्रस्तुत मन्त्र के **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** इस वाक्य से उपास्य ब्रह्म का व्याख्यान किया गया। **यो वेद निहितं गुहायाम्** इस वाक्य से हृदयगुहानिहितत्वप्रकारक उपासना का निरूपण किया गया। **परमे व्योमन् सोऽश्नुते** इससे अनुभवात्मक प्राप्ति का वर्णन किया गया और **सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता** इस वाक्य से प्राप्य का प्रतिपादन किया गया। कूरनारायणभाष्य में कहा है कि पूर्व में **सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म** यहाँ ब्रह्म शब्द का प्रयोग होने पर भी **ब्रह्मणा विपश्चिता** इस प्रकार पुनः ब्रह्म शब्द का प्रयोग उपास्य को ही प्राप्य कहने के लिए है-**ब्रह्मशब्दस्य पुनः प्रयोगः उपास्यस्यैव प्राप्यत्वकथनार्थम्।** (कू.भा.)।

*पूर्व में **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** इस ब्राह्मणवाक्य में कहे अर्थ का **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** इस ऋचा से व्याख्यान किया, अब उसमें अनन्त पद से कही ब्रह्म की वस्तु-अपरिच्छेदरूप अनन्तता को सर्वोपादानत्व और सर्वान्तरत्व के द्वारा विस्तार से कहा जाता है-*

तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥2॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

तस्मात् एतस्मात् आत्मनः वै आकाशः सम्भूतः। आकाशात् वायुः। वायोः अग्निः। अग्नेः आपः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्याः ओषधयः। ओषधीभ्यः अन्नम्। अन्नात् पुरुषः। सः एषः पुरुषः अन्नरसमयः वै। तस्य इदम् एव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयम् उत्तरः पक्षः। अयम् आत्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तत् एषः श्लोकः अपि भवति।

अर्थ

तस्मात्-पूर्व में कहे **एतस्मात्**-इस **आत्मनः**-परमात्मा से **वै**-ही **आकाशः**-आकाश **सम्भूतः**-उत्पन्न हुआ। **आकाशात्**-आकाशशरीरक परमात्मा से **वायुः**-वायु उत्पन्न हुई। **वायोः**-वायुशरीरक परमात्मा से **अग्निः**-तेज उत्पन्न हुआ। **अग्नेः**-तेजशरीरक परमात्मा से **आपः**-जल उत्पन्न हुआ। **अद्भ्यः**-जलशरीरक परमात्मा से **पृथिवी**-पृथ्वी उत्पन्न हुई। **पृथिव्याः**-पृथ्वीशरीरक परमात्मा से **ओषधयः**-ओषधियाँ उत्पन्न हुई। **ओषधीभ्यः**-ओषधिशरीरक परमात्मा से **अन्नम्**-अन्न उत्पन्न हुआ। **अन्नात्**-अन्नशरीरक परमात्मा से **पुरुषः**-शरीर उत्पन्न हुआ। **सः**-वह(पूर्वोक्त) **एषः**-यह **पुरुषः**-शरीर(खाए हुए) **अन्नरसमयः**-अन्न के रस का परिणाम **वै**-ही है। **तस्य**-शरीररूप पुरुष का **इदम्**-प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला शिर **एव**-ही(पक्षी का) **शिरः**-शिर है। **अयम्**-यह

दाहिना हाथ **दक्षिणः**-दाहिना **पक्षः**-पंख है। **अयम्**-यह बायां हाथ **उत्तरः**-बायाँ **पक्षः**-पंख है। **अयम्**- यह मध्य(प्रधान) भाग(पक्षी का) **आत्मा**-मध्य भाग है। **इदम्**-प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले दो चरण **पुच्छम्**-पूँछ के समान **प्रतिष्ठा**-आधार हैं इसलिए पूँछ हैं। **तत्**-उस ब्राह्मणोक्त अर्थ में **एषः**-यह मन्त्ररूप **श्लोकः**-श्लोक **अपि**-भी **भवति**-प्रवृत्त होता है।

व्याख्या

परमात्मा से आकाशादि की उत्पत्ति-पूर्व में **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** इस ब्राह्मण वाक्य से और इसके पश्चात् **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** इस मन्त्र से जो परमात्म तत्त्व प्रतिपादित है, उसी से आकाश उत्पन्न हुआ। प्रस्तुत श्रुति परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति कहती है तथा आकाश से वायु की, वायु से तेज की, तेज से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति कहती है। ये आकाशादि शब्द केवल आकाशादि के वाचक हैं? अथवा आकाशादिशरीरक परमात्मा के वाचक हैं? इसका निर्णय ब्रह्मसूत्र के तेजोधिकरण(ब्र.सू.2. 3.2)में इस प्रकार किया गया है-बहुतरूप होने के लिए उस तेज ने संकल्प किया-**तत्तेज ऐक्षत, बहु स्याम्।**(छां.उ.6.2.3), उस जल ने संकल्प किया-**ता आप ऐक्षन्त।**(छां.उ.6.2.4)। छान्दोग्योपनिषत् के इन वाक्यों में तेज आदि का ईक्षण(संकल्प) सुना गया है किन्तु वह उन जड पदार्थों में नहीं हो सकता। तेज आदि शरीर वाला परमात्मा ही वैसा संकल्प कर सकता है। **यस्य तेजश्शरीरम्।**(बृ.उ.3.7.19), **यस्य आपश्शरीरम्।**(बृ.उ.3.7.8) इत्यादि श्रुतियाँ तेज आदि को परमात्मा का शरीर कहती हैं और **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.आ.3. 11.3) यह श्रुति उनका शरीरी परमात्मा को कहती है। शरीरवाचक शब्द शरीर को कहते हुए उनके भीतर विद्यमान शरीरी आत्मा को भी कहते हैं। जैसे तेज आदि शब्द तेजादि को कहते हुए उनके भीतर विद्यमान शरीरी परमात्मा को भी कहते हैं, वैसे ही प्रस्तुत तैत्तिरीय श्रुति में आये आकाशादि शब्द आकाशादि को कहते हुए आकाशादिशरीरक परमात्मा को कहते हैं अतः श्रुति तत्तद्शरीरक परमात्मा से ही वायु आदि की उत्पत्ति कहती है। ब्रह्म ही सभी कार्यों का कारण है, उसी से सभी की उत्पत्ति होती है। मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है, इसका अर्थ है-मृत्तिकाशरीरक ब्रह्म से घट उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए।

पृथ्वीशरीरक ब्रह्म से ओषधियाँ(गेहूँ, धानादि के पेड़)उत्पन्न हुईं, उनसे गेहूँ, धानादिरूप अन्न उत्पन्न हुआ।

अन्नमय

अन्नरसमय स्थूलशरीर को ही अन्नमय कहते हैं। प्राणी अन्न खाकर उसके परिणाम वीर्य से स्त्री में संतान के स्थूलशरीर को उत्पन्न करता है इसलिए अन्न से शरीर की उत्पत्ति कही जाती है और अन्न के खाने पर रस का निर्माण होता है, उस रस से रक्तमांसादिरूप शरीर होता है अतः इस स्थूलशरीर को अन्नरसमय कहा जाता है। छान्दोग्यश्रुति कहती है कि खाया हुआ अन्न पच जाने पर तीन भागों में विभक्त हो जाता है, उसका जो स्थूल अंश है, वह मल बन जाता है, जो मध्यम अंश है, वह रस, रक्त के क्रम से मांस बन जाता है-**अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुः। तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमः तन्मांसम्।**(छां.उ.6.5.1) इस प्रकार कही रीति से जाठराग्नि के द्वारा पचाये जाने वाले अन्न के रस से रक्तमांसादिमय शरीर का निर्माण होता है।

शंका- प्रस्तुत श्रुति में महदादि की सृष्टि को छोड़कर आरम्भ में आकाश की सृष्टि का उल्लेख क्यों किया?

समाधान-जैसे सद्विद्या में **तत्तेजोऽसृजत्** (छां.उ.6.2.3)इस प्रकार आरम्भ में तेज की सृष्टि का वर्णन हुआ है और जैसे **अप एव ससर्जादौ**(म. स्मृ.1.8) इस प्रकार आरम्भ में जल की सृष्टि कही गयी है, वैसे ही यहाँ आकाश की सृष्टि का वर्णन हुआ है।

शंका-आखिर आरम्भ में इन सभी की सृष्टि क्यों कही गयी? यह प्रश्न तो हमारा बना ही है।

समाधान-पूर्व में महदादि अनेक पदार्थों की उत्पत्ति होने पर भी उन प्रसंगों में वक्ष्यमाण विषय के प्रतिपादन के लिए जितना उपयुक्त अंश अपेक्षित होता है, उतना ही कहा जाता है। सद्विद्या में वक्ष्यमाण अर्थ है-त्रिवृत्तकरण, उसके प्रतिपादन के लिए तीन भूतों का कथन अपेक्षित होता है अतः श्रुति तेज आदि तीन भूतों की सृष्टि का निरूपण करती है। जब व्यष्टि सृष्टि मात्र को कहना लक्ष्य होता है, तब उस सृष्टि के कारणरूप से जल की सृष्टि का उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार

यहाँ तैत्तिरीयोपनिषत् में शरीर में रहने वाला परमात्मा वक्ष्यमाण है अतः उसके निरूपण के अंगरूप से शरीर के हेतु आकाशादि पंच भूतों की सृष्टि का वर्णन किया जाता है।

उक्त रीति से वर्णित आकाशादि से लेकर अन्नरसमय पर्यन्त कार्यों का मन्त्र और ब्राह्मण में कहा गया ब्रह्म ही उपादानकारण है तथा **आत्मन आकाशः सम्भूतः।** इस प्रकार आत्मा शब्द सुने जाने से 'आकाशादि का अन्तर्यामी ब्रह्म है' इस विषय का भी निरूपण हो जाता है। सबके अन्दर प्रवेश करके उसका नियमन करने वाले अन्तर्यामी को आत्मा कहा जाता है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.ब्रा.3.11.3)।

निखिल चेतनाचेतन से विलक्षण जगत्कारण ब्रह्म से आकाशादि की सृष्टि होती है, इस ब्रह्म को ही पूर्व ऋचा में हृदय गुहा में निहित कहा था। 'हृदि प्राणः' इस प्रकार प्राण की शरीर के अन्तर्गत हृदय में स्थिति सुनी जाती है। उसी में मन, आत्मा और परमात्मा की भी स्थिति सुनी जाती है, उनमें सबकी अपेक्षा परमात्मा के अन्तरत्व और प्रधान आत्मत्व को समझाने के लिये यह प्रकरण है।

शरीर में स्थित वस्तु को विश्लेषणपूर्वक समझाने के लिये प्रथम मनुष्यशरीर की पक्षीशरीर से तुलना की जाती है। मानवशरीर का प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला शिर ही पक्षी का शिर है, उसका दाहिना हाथ पक्षी का दाहिना पंख है और बायाँ हाथ बायाँ पंख है। ग्रीवा के नीचे और नाभि के ऊपर दिखायी देने वाला मध्य भाग पक्षीशरीर का मध्य भाग है। देह का मध्य भाग अंगों का आत्मा है-**मध्यं हि एषामङ्गानामात्मा।** (ऐ. उ.3.5.4)देह का मध्य भाग अंगों का आधार होता है इसलिये यह ऐतरेयश्रुति भी उसे अंगों का आत्मा कहती है। नीचे की ओर दिखायी देने वाले दोनों चरण पूँछ के समान आधार होने से पूँछ हैं। प्रस्तुत श्रुति सुगमता से बोध कराने के लिए पुरुष शब्द से कहे मनुष्य के शरीर के अंगों को पक्षी के शरीर का अंग कहती है।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् *(तै.उ.2.1.1)इस ब्राह्मणोक्त ब्रह्म के विषय*

में वक्ष्यमाण मन्त्रात्मक श्लोक भी प्रवृत्त होता है अर्थात् पूर्वोक्त ब्रह्म को ही समझाने के लिए अन्नमय का प्रतिपादक यह श्लोक है-

द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपियन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधम् उच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति॥1॥

अन्वय

याः काः च प्रजाः पृथिवीं श्रिताः। अन्नात् वै प्रजायन्ते। अथो अन्नेन एव जीवन्ति। अथ अन्ततः एनत् अपियन्ति। हि अन्नं भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधम् उच्यते। ये अन्नं ब्रह्म उपासते। ते वै सर्वम् अन्नम् आप्नुवन्ति। हि अन्नं भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधम् उच्यते। अन्नात् भूतानि जायन्ते। जातानि अन्नेन वर्धन्ते। अद्यते च भूतानि अत्ति। तस्मात् तत् अन्नम् उच्यते इति।

अर्थ

याः-जो **काः**-कोई **च**-भी **प्रजाः**-प्रजाएँ **पृथिवीम्**-पृथ्वी का **श्रिताः**-आश्रय लेकर रहती हैं। वे सभी **अन्नात्**-अन्न से **वै**-ही **प्रजायन्ते**-उत्पन्न होती हैं। **अथो**-उत्पत्ति के पश्चात् **अन्नेन**-अन्न से **एव**- ही **जीवन्ति**-जीवित रहती हैं (और) **अथ**-जीवन काल के पश्चात् **अन्ततः**-अन्तकाल में **एनत्**-अन्न में (ही) **अपियन्ति**-लीन हो जाती हैं। **हि**-क्योंकि **अन्नम्**-अन्न **भूतानाम्**-सभी भूतों का उपकारक होने से **ज्येष्ठम्**-श्रेष्ठ है। **तस्मात्**-इसलिए **सर्वौषधम्**-सभी का औषध **उच्यते**-कहा जाता है। **ये**-जो साधक **अन्नम्**-अन्न **ब्रह्म**-ब्रह्म है, इस प्रकार **उपासते**-उपासना करते हैं, **ते**-वे **वै**-निश्चितरूप से **सर्वम्**-सभी(अपेक्षित) **अन्नम्**-अन्न को **आप्नुवन्ति**-प्राप्त करते हैं। **हि**-क्योंकि **अन्नम्**-अन्न **भूतानाम्**-सभी भूतों का उपकारक होने से **ज्येष्ठम्**-श्रेष्ठ है। **तस्मात्**-इसलिए **सर्वौषधम्**- सभी का औषध **उच्यते**-कहा जाता है। **अन्नात्**-अन्न से

भूतानि-प्राणी **जायन्ते**-उत्पन्न होते हैं। **जातानि**-उत्पन्न हुए प्राणी **अन्नेन**-अन्न से **वर्धन्ते**-पोषित होते हैं। जीवनकाल में प्राणियों के द्वारा **अद्यते**-खाया जाता है **च**-और (अन्तकाल) में **भूतानि**-प्राणियों को **अत्ति**-खाता है। **तस्मात्**- इसलिए **तत्**-उसे **अन्नम्**-अन्न **उच्यते**-कहा जाता है।

व्याख्या

अन्न की महिमा

इस पृथ्वीलोक में रहने वाली सभी प्रकार की प्रजा अन्न के परिणाम रज और वीर्य से उत्पन्न होती है, इस प्रकार प्रजा की उत्पत्ति में अन्न ही कारण होता है। वह उत्पन्न होकर अन्न खाकर ही जीवित रहती है और बाद में अन्न को उत्पन्न करने वाली पृथ्वी में लीन हो जाती है। जीवात्मा अनादि है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, उत्पत्ति तो उसके शरीर की होती है। उत्पन्न होने वाले शरीर के साथ जीवात्मा का संयोग होने से उसकी उत्पत्ति कही जाती है। प्रजा शब्द शरीरविशिष्ट(शरीर से संयुक्त जीव) का वाचक है। प्रजा से पहले उसका कारण अन्न उत्पन्न होता है। वह प्रजा को उत्पन्न कर, पोषण कर और जनसंख्यानियन्त्रण के लिए अपने में लीन करके सर्वविध उपकार करता है, इसलिए सभी प्रजा का औषध कहलाता है तथा ओषध(सस्य) से जन्य होने से और क्षुधारूप व्याधि का निवर्तक होने से भी वह औषध कहलाता है। **येऽन्नं ब्रह्मोपासते** इस वाक्य से अन्नशरीरक ब्रह्म की उपासना का विधान नहीं किया जाता क्योंकि उसका अन्न की प्राप्तिरूप क्षुद्र फल कहा गया है। यहाँ अन्न में ब्रह्मदृष्टि का विधान किया जाता है। वह अन्न को ब्रह्म समझकर की जाने वाली उपासना है, अतस्मिन् तद्बुद्धिरूप है अर्थात् ब्रह्मत्व के अभाव वाले अन्न में ब्रह्मदृष्टि करनारूप है। वह 'अन्न ब्रह्म है' इस प्रकार की जाती है। अब अन्न में ब्रह्मदृष्टि का हेतु अन्न से ब्रह्म की समानता को कहते हैं-अन्न क्षुधारूप व्याधि का निवर्तक है और ब्रह्म सकल व्याधियों का निवर्तक है। अन्न से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, पोषित होते हैं और ब्रह्म से भी सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, पोषित होते हैं, इस प्रकार अन्न और ब्रह्म में समानता है इसलिए अन्न में ब्रह्मदृष्टि का विधान किया जाता है, इसका फल सभी प्रकार के अन्नों की प्राप्ति

है। अब श्रुति स्वयं अन्न शब्द का व्याख्यान करती है-प्रजा के द्वारा खाया जाता है और प्रजा को खाता है, इस कारण अन्न कहलाता है। **'अद् भक्षणे'** धातु से अन्न शब्द की निष्पत्ति होती है। जीवनकाल में जीने के लिए प्रजा के द्वारा अन्न खाया जाता है और न मिलने पर वही विनाश का हेतु होता है, अथवा वृद्धावस्था में खाया हुआ अन्न अजीर्णादि रोगों का हेतु होकर मृत्यु का हेतु होता है इसलिए अन्न को खाने वाला अर्थात् संहार करने वाला कहा जाता है। अन्न को मृत्यु और उसे ही जीवनप्रदाता कहते हैं-**अन्नं मृत्युं तमु जीवातुमाहुः।**(तै.ब्रा.2.8.8)।

आकाशादि से लेकर अन्नमय शब्द से कहे स्थूलशरीर पर्यन्त सभी का आत्मा ब्रह्म ही है और वही उसका उपादान है, इस विषय का प्रतिपादन करके 'वह आत्मा कौन है'? ऐसी जिज्ञासा होने पर 'आनन्दमय ही वह आत्मा है' इसका बोध कराने के लिए अब स्थूलारुन्धती न्याय[1]*से स्थूल देह में रहने वाले प्राणमय का आत्मत्वेन निरूपण किया जाता है-*

तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

अन्वय

तस्मात् एतस्मात् अन्नरसमयात् अन्यः वै अन्तरः प्राणमयः आत्मा। तेन एषः पूर्णः। सः एषः वै पुरुषविधः एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः। तस्य प्राणः एव शिरः। व्यानः दक्षिणः पक्षः। अपानः उत्तरः पक्षः। आकाशः आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तत् एषः श्लोकः अपि भवति।

1. अरुन्धती तारा सूक्ष्म होता है अतः उसका सहसा बोध नहीं कराया जा सकता इसलिए उसका बोध कराने में प्रवृत्त परुष उसके समीपवर्ती स्थूल तारा को दिखाकर 'यह अरुन्धती है' ऐसा कहता है, उसमें अरुन्धतीत्वबुद्धि दृढ हो जाने पर उसके समीप में विद्यमान सूक्ष्म अरुन्धती को दिखाकर यही अरुन्धती है, ऐसा कहता है, यही स्थूलारुन्धती न्याय है। जब स्थूल वस्तु का आश्रय लेकर सूक्ष्म वस्तु का बोध कराया जाता है, तब यह स्थूलारुन्धती न्याय प्रवृत्त होता है।

अर्थ

तस्मात्-पूर्वोक्त **एतस्मात्**-इस **अन्नरसमयात्**-अन्नमय स्थूल शरीर से **अन्यः**-भिन्न **वै**-ही(उसके) **अन्तरः**-अन्दर रहने वाला **प्राणमयः**-प्राणमय **आत्मा**-आत्मा है। **तेन**-प्राणमय आत्मा से **एषः**-अन्नमय **पूर्णः**-व्याप्त है। **सः**-वह **एषः**-यह प्राणमय **वै**-निश्चितरूप से **पुरुषविधः**-पुरुष(अन्नमय) के आकार का **एव**-ही है। **तस्य**-अन्नमय के **पुरुषविधताम्**-पुरुष के (समान)आकार का **अनु**-अनुसरण करके **अयम्**-प्राणमय आत्मा(भी) **पुरुषविधः**-पुरुष के आकार का है। **तस्य**-प्राणमय आत्मा का **प्राणः**-प्राण **एव**-ही(पक्षी का) **शिरः**-शिर है। **व्यानः**-व्यान **दक्षिणः**-दाहिना **पक्षः**-पंख है। **अपानः**-अपान **उत्तरः**-बायाँ **पक्षः**-पंख है। **आकाशः**-आकाश **आत्मा**- शरीर का मध्य भाग है। **पृथिवी**-पृथ्वी **पुच्छम्**-पूँछ के समान **प्रतिष्ठा**- आधार है इसलिए पूँछ है। **तत्**-प्राणमय के विषय में **एषः**-यह **श्लोकः**-मन्त्रात्मक श्लोक **अपि**-भी **भवति**-प्रवृत्त होता है।

व्याख्या

प्राणमय-प्राण[1]को ही प्राणमय कहा जाता है। पञ्चवृत्ति वाला प्राण प्राणन(जीवनधारण) कार्य की प्रचुरता वाला होने से प्राणमय कहलाता है।

जिस प्रकार खाया हुआ अन्न अन्तःकरण का पोषक आहार बनता है, उसी प्रकार पिये गये पानी का सूक्ष्म भाग प्राण का पोषक आहार बनता है। पिये हुए जल के तीन परिणाम होते हैं। जब जल जठर में जीर्ण होता है, तब उसका स्थूल भाग मूत्र बन जाता है, सूक्ष्मभाग रक्त में मिल जाता है और सूक्ष्मतम भाग प्राण का पोषक बनता है-**आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते, तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः**।(छां.उ.6.5.2) प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान भेद से प्राण पाँच प्रकार का होता है।

1. **प्राण**-तैत्तिरीय ब्राह्मण(3.10.8.5) में **प्राणो हृदये** कहकर प्राण की हृदय में स्थिति कही है। जीवनधारण(उच्छ्वास और निःश्वास) इसका कार्य हैं। यह अन्य चार वायु के लिए राजा के समान है, इसलिए इसे

---

1. **प्राण**-शरीर को धारण आदि करने का हेतु वायुविशेष ही प्राण है। यह तत्त्वान्तर नहीं है।

मुख्य प्राण भी कहते हैं।

2. अपान-यह शरीर के गुदा आदि मल-मूत्र और स्वेद के निर्गमन स्थानों में रहता है। इसका कार्य मल-मूत्र आदिका विसर्जन करना है।
3. व्यान-इस वायु का स्थान हृदय के दाहिने रन्ध्र से निकलने वाली देहभर में व्याप्त नाड़ियाँ हैं। हृदय में रहने वाली प्रधान नाड़ियों की संख्या 101 है। इनमें सर्वप्रधान सुषुम्ना है। हर एक नाड़ी के सौ-सौ भाग होते हैं। उनमें से प्रत्येक नाड़ी 72000 शाखाओं में विभाजित होकर सारे शरीर में व्याप्त होती है। व्यान वायु का स्थान यह नाड़ीमंडल है। मनुष्य जब कोई बलसाध्य विशेष कार्य करता है, तब वह प्राण और अपान को नियन्त्रित करके बल लगाकर उस कार्य को करता है, ऐसे कार्य में जो वायु सहायक होती है, उसे ही व्यान कहा जाता है। उसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषत् में (1.3.3 से 1.3.5 तक) किया गया है।

अन्नमय अर्थात् स्थूल शरीर के अन्दर रहने वाला उससे भिन्न जो प्राणमय है, वह ही **आत्मन आकाशः सम्भूतः।**(तै.उ.2.1.2) इस प्रकार आकाशादि से लेकर अन्नमय पर्यन्त सभी के उपादानकारणरूप से और उनके अन्तर्यामीरूप से निर्दिष्ट आत्मा है। श्रीभाष्यकार ने कहा है कि अन्नमय के भीतर विद्यमान प्राणमय में प्रथम परमात्मबुद्धि होती है, इसके पश्चात् प्राणमय के भीतर विद्यमान मनोमय में, इसी प्रकार क्रम से उसके भीतर विद्यमान विज्ञानमय में और उसके भी भीतर विद्यमान आनन्दमय में परमात्मबुद्धि होती है-**अन्नमयादन्तरे प्राणमये प्रथमं परमात्मबुद्धिरवतीर्णा, तदन्तरञ्च प्राणमयादन्तरे मनोमये, ततो विज्ञानमये, तत आनन्दमये।**(श्रीभा.3.3.17)। अन्नमय के भीतर विद्यमान जो प्राणमय है, वह अन्नमय को व्याप्त करके रहता है। उसका कोई भी अंश ऐसा नहीं, जिसमें प्राणमय की विद्यमानता न हो। पामर व्यक्ति अन्नमय स्थूल शरीर से भिन्न किसी आत्मा को नहीं समझता इसलिए इस रीति से उसमें आत्मत्वबुद्धि को हटाकर उसके अन्दर विद्यमान वस्तु में आत्मत्वबुद्धि करायी जाती है। पुरुष का अर्थ है-शरीर। प्राणमय आत्मा भी शरीर के आकार की होती है, ऐसा होने पर उसके भी हस्त, पाद आदि अवयव होगें? इस शंका का निराकरण करने के लिये कहते हैं कि यह

पुरुष की आकृति का अनुसरण करके पुरुष के आकार का है अर्थात् पुरुष की आकृति वाले अन्नमय में अनुगत होने से यह प्राणमय भी पुरुष की आकृति का है। इस कथन का यह तात्पर्य है कि पुरुष की आकृति ही इसकी आकृति नहीं है अपितु उसके भीतर विद्यमान होने से उसकी आकृति के समान इसकी आकृति है इसलिए प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले हस्त, पाद आदि अवयव अन्नमय के ही हैं, प्राणमय आत्मा के नहीं। प्राणमय के अवयव क्या हैं? इसका उत्तर अन्नमय में स्थित प्राणमय को विश्लेषणपूर्वक समझाने के लिये उसकी पक्षीशरीर से तुलना करते हुए कहा जाता है। प्राण ही शरीरसंचालन के लिए उपयोगी कार्यों को करने के लिए प्राण, व्यान और उदानरूप से स्थित होता है। प्राणन क्रिया अर्थात् जीवनधारण का हेतु प्राण ही पक्षी का शिर है। शरीर का प्रधान अवयव शिर होता है, प्राणमय का प्रधान अवयव प्राण है इसलिए उसे शिर कहा गया है। व्यान दाहिना और अपान बायाँ पंख है। पक्षी के कार्य सम्पन्न करने के लिए पंख उपयोगी होते हैं और प्राणमय के कार्य सम्पन्न करने के लिए व्यान और अपान उपयोगी होते हैं इसलिए उन्हें पंख कहा गया है। जैसे आकाश में स्थित महान् वायु सदा सर्वत्र संचरण करती रहती है-**यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।** (गी.9.6) प्राण, अपान और व्यान वायु के ही विकार हैं, उक्त गीतावचन के अनुसार उनका भी धारक आकाश है इसलिये उसे आत्मा(मध्य भाग) कहा जाता है। पक्षी के देह का मध्य भाग पूँछ से सम्बद्ध होता है। आकाश पृथ्वी से सम्बद्ध होता है, इस कारण पृथ्वी को पूँछ कहा जाता है।

ब्रह्मविदाप्नोति परम्।(*तै.उ.2.1.1*) *इस ब्राह्मणोक्त ब्रह्म के विषय में यह वक्ष्यमाण मन्त्रात्मक श्लोक भी प्रवृत्त होता है अर्थात् पूर्वोक्त ब्रह्म को ही समझाने के लिए प्राणमय का प्रतिपादक यह श्लोक है-*

तृतीयोऽनुवाकः

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥1॥

अन्वय

ये देवाः मनुष्याः च पशवः, प्राणम् अनु प्राणन्ति। हि प्राणः भूतानाम् आयुः। तस्मात् सर्वायुषम् उच्यते। ये प्राणं ब्रह्म उपासते। ते एव सर्वम् आयुः यन्ति। हि प्राणः भूतानाम् आयुः। तस्मात् सर्वायुषम् उच्यते इति। यः पूर्वस्य। एषः एव तस्य शारीरः आत्मा।

अर्थ

ये-जो **देवाः**-देवता **मनुष्याः**-मनुष्य **च**-और **पशवः**-पशु हैं, वे सभी **प्राणम्**-प्राण के **अनु**-अनुगामी होकर **प्राणन्ति**-जीवनधारण करते हैं। **हि**-क्योंकि **प्राणः**-प्राण **भूतानाम्**-सभी प्रजा की **आयुः**-आयु है, **तस्मात्**-उस कारण(वह) **सर्वायुषम्**-सभी का आयु **उच्यते**-कहा जाता है। **ये**-जो **प्राणम्**-प्राण **ब्रह्म**-ब्रह्म है, इस प्रकार **उपासते**-उपासना करते हैं, **ते**-वे **एव**-निश्चितरूप से **सर्वम्**-पूर्ण **आयुः**-आयु को **यन्ति**-प्राप्त करते हैं। **हि**-क्योंकि **प्राणः**-प्राण **भूतानाम्**-सभी प्रजा की **आयुः**-आयु का साधन है, **तस्मात्**-उस कारण(वह) **सर्वायुषम्**-सभी का आयु **उच्यते**-कहा जाता है। **यः**-जो **पूर्वस्य**-पूर्व में प्रतिपादित अन्नमय का आत्मा है। **एषः**-यह **एव**-ही **तस्य**-प्राणमय का **शारीरः**-शरीरसम्बन्धी **आत्मा**-आत्मा है।

व्याख्या

प्राणमय की महिमा

जो इन्द्रादि देवता, मनुष्य, गो, महिष, अश्वादि पशु हैं, उन सभी का जीवन प्राण के अधीन है। जब तक इस शरीर में प्राण रहते हैं, तब तक ही आयु होती है-**यावद् ह्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति, तावदायुः।**(कौ. उ.3.15) इस प्रकार प्राण सभी प्रजा की आयु का साधन है इसलिये श्रुति उसे **प्राणो हि भूतानामायुः** इस प्रकार प्रजा की आयु कहती है और ऐसा होने से वह सर्वायुष कहलाता है। जो प्राण को ब्रह्म समझकर उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। आयु के साधन प्राण में आदरबुद्धि होने से **प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते** इसकी आवृत्ति की जाती है।

प्रस्तुत वल्ली में वर्णित आकाशादि से लेकर अन्नमयपर्यन्त पदार्थों का आत्मा प्राणमय है, ऐसा बोध कराके अब उसका निषेध किया जाता है-जो पूर्व में प्रतिपादित अन्नमय का आत्मा है, वह ही प्राणमय का आत्मा है। जैसे अन्नमय आत्मा नहीं है, वैसे ही प्राणमय भी आत्मा नहीं है। वह आत्मा कौन है? इस पर श्रुति कहती कि वह अन्तरात्मा शारीर अर्थात् शरीर सम्बन्धी है अर्थात् जैसे उसका अन्नमय शरीर है वैसे ही प्राणमय भी शरीर है। शारीर कथन होने से यह स्पष्ट है कि अन्नमय, प्राणमय और वक्ष्यमाण मनोमय तथा विज्ञानमय भी परमात्मा के शरीर ही हैं, उसकी किसी के साथ स्वरूप एकता नहीं हो सकती।

अन्नमय और प्राणमय का आत्मा कौन है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥2॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अन्वय

तस्मात् एतस्मात् प्राणमयात् अन्यः वै अन्तरः मनोमयः आत्मा। तेन एषः पूर्णः। सः एषः वै पुरुषविधः एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः। तस्य यजुः एव शिरः। ऋक् दक्षिणः पक्षः। साम उत्तरः पक्षः। आदेशः आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तत् एषः श्लोकः अपि भवति।

अर्थ

तस्मात्-पूर्वोक्त **एतस्मात्**-इस **प्राणमयात्**-प्राणमय से **अन्यः**-भिन्न **वै**- ही(उसके) **अन्तरः**-अन्दर रहने वाला **मनोमयः**-मनोमय **आत्मा**-आत्मा है। **तेन**-मनोमय आत्मा से **एषः**-प्राणमय **पूर्णः**-व्याप्त है। **सः**-वह **एषः**-यह मनोमय **वै**-निश्चितरूप से **पुरुषविधः**-पुरुष(अन्नमय) के आकार का **एव**-ही है। **तस्य**-प्राणमय के **पुरुषविधताम्**-पुरुष के

(समान)आकार का **अनु**-अनुसरण करके **अयम्**-मनोमय आत्मा (भी) **पुरुषविधः**-पुरुष के आकार का है। **तस्य**-मनोमय आत्मा का **यजुः**-यजुर्वेद **एव**-ही(पक्षी का) **शिरः**-शिर है। **ऋक्**-ऋग्वेद **दक्षिणः**-दाहिना **पक्षः**-पंख है। **साम**-सामवेद **उत्तरः**-बायाँ **पक्षः**-पंख है। **आदेशः**-विधिनिषेधरूप रहस्य का उपदेश **आत्मा**-शरीर का मध्य भाग है। **अथर्वाङ्गिरसः**-अथर्ववेद **पुच्छम्**-पूँछ के समान **प्रतिष्ठा**-आधार है इसलिए पूँछ है। **तत्**-मनोमय के विषय में **एषः**-यह **श्लोकः**-मन्त्रात्मक श्लोक **अपि**-भी **भवति**-प्रवृत्त होता है।

व्याख्या

मनोमय-मन(अन्तःकरण) को ही मनोमय कहा जाता है। अन्तःकरण के चार भेद होते हैं-1.मन, 2. बुद्धि, 3.अहंकार, 4. चित्त। उनमें मन के कार्य की प्रचुरता होती है इसलिए उसे मनोमय[1] कहते हैं।

वेदान्तसिद्धान्त में मन का ही अन्तःकरणत्व[2] प्रसिद्ध है। उसे बुद्धि, अहंकार और चित्त भी कहा जाता है। अध्यवसाय (निश्चयात्मिका) वृत्ति में महत् तत्त्व सहायक है, अभिमान(अभिमानात्मिका)वृत्ति में अहंकार तत्त्व सहायक है। चिन्तन (स्मरणात्मिका)वृत्ति में संस्कार सहायक है। जब अन्तःकरण के सम्बन्ध से धर्मभूतज्ञान की निश्चयात्मिका वृत्ति होती है, तब अन्तःकरण को बुद्धि कहा जाता है। इसी तरह जब अन्तःकरण के सम्बन्ध से धर्मभूतज्ञान की अभिमानात्मिका, चिन्तनात्मिका और संकल्पात्मिका वृत्तियाँ होती हैं, तब अन्तःकरण को क्रमशः अहंकार, चित्त और मन कहा जाता है। वस्तुतः धर्मभूतज्ञान की ही सभी वृत्तियाँ होती हैं तथापि निश्चय, अभिमान और स्मरण को क्रमशः बुद्धि, अहंकार और चित्त की वृत्तियाँ उपचार से कहा जाता है। इन त्रिविध वृत्तियों का तथा संकल्पात्मिका वृत्ति का भी कारण मन है इसलिए ये सभी मन की वृत्तियाँ कही जाती हैं। उक्त तीनों प्रकार की वृत्तियाँ बुद्धि आदि तीनों में किसी एक की नहीं कही जा सकतीं किन्तु वे सभी मन

---

1. मनोमयः इत्यत्र प्राचुर्यार्थे मयट्।(रं.भा.)
2. शांकरसिद्धान्तसम्मत मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चारों का अन्तःकरणत्व तथा सांख्यमतसम्मत मन, बुद्धि, अहंकार इन तीनों का अन्तःकरणत्व शास्त्रसम्मत नहीं है, इसकी विस्तृत जानकारी के लिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिए।

के सम्बन्ध से होने के कारण मन की कही जाती हैं, इस प्रकार मन की वृत्तियों की प्रचुरता स्पष्ट है, इसीलिए श्रीरङ्गरामानुज मुनि ने कहा है कि मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नाम वाले अन्तःकरण की वृत्तियों में मन की वृत्ति की प्रचुरता होती है इसलिए अन्तःकरण को मनोमय कहते हैं-**मनोमयः मनोबुद्ध्य- हंकारचित्ताख्यान्तःकरणवृत्तिषु मनोवृत्तेः प्रचुरत्वात्।**(रं.भा.)।

पूर्व में अन्नमय के भीतर रहने वाले प्राणमय का निरूपण किया जा चुका है, उसके भीतर रहने वाला उससे भिन्न जो मनोमय है, वह ही **आत्मन आकाशः सम्भूतः।**(तै.उ.2.1.2) इस प्रकार आकाशादि से लेकर प्राणमय पर्यन्त सभी के उपादानकारणरूप से और अन्तर्यामीरूप से निर्दिष्ट आत्मा है। प्राणमय के भीतर विद्यमान जो मनोमय है, वह प्राणमय को व्याप्त करके रहता है। प्राणमय को ही आत्मा मानने वाले अज्ञ व्यक्ति की उसमें आत्मत्वबुद्धि को हटाकर उसके अन्दर विद्यमान मनोमय में आत्मत्वबुद्धि करायी जाती है। मनोमय आत्मा भी पुरुष के आकार का है अर्थात् शरीर की आकृति वाले प्राणमय में अनुगत होने से यह मनोमय आत्मा भी शरीर की आकृति का है। मनोमय के अवयव क्या हैं? इसका उत्तर पक्षीशरीर से तुलना करते हुए कहा जाता है।

यहाँ यजुष् शब्द का अर्थ है-यजुर्वेदसम्बन्धी ज्ञान का जनक मन का कार्य क्योंकि यजुर्वेद का मुख्यार्थ लेने पर उसका मन के साथ सम्बन्ध न होने से उसका शिररूप से निरूपण करना संभव नहीं। इसी प्रकार ऋक् का अर्थ है-ऋग्वेदविषयक ज्ञान का जनक मन का कार्य। साम का अर्थ है-सामवेदविषयक ज्ञान का जनक मन का व्यापार। आदेश का अर्थ है-विधिनिषेधरूप रहस्य के उपदेश से जन्य ज्ञान का जनक अन्तःकरण का व्यापार। अथर्वाङ्गिरस का अर्थ है अथर्वा और अङ्गिरा ऋषि के द्वारा साक्षात्कार किये गये अथर्ववेद के मन्त्रों से जन्य ज्ञान का हेतु मन का व्यापार। स्वाहा आदि लगाकर यजुर्मन्त्रों से हविष् प्रदान की जाती है इस प्रकार हविष् प्रदान करने में यजुर्मन्त्रों की प्रधानता होने से तद्विषयक ज्ञानजनक मन के व्यापार को मनोमय आत्मा का शिर कहा जाता है। ऋग्वेद और सामवेद भुजाओं के समान उपकारक होनेसे तज्जन्य ज्ञानजनकमनोव्यापार को पक्ष कहा गया है। विधिनिषेधरूप रहस्य का

उपदेश श्रोतव्य विषयों में महत्त्वपूर्ण होने से तज्जन्यज्ञानजनकमनोव्यापार को मनोमय का आत्मा कहा गया है। शान्ति प्रदान करने वाले, पोषण करने वाले आदि मन्त्रों का समूहरूप अथर्ववेद प्रतिष्ठा का हेतु होने से प्रतिष्ठा है इसलिए पूँछ कहा गया है।

प्राण आत्मवाद और मन आत्मवाद के निरूपण का पौर्वापर्य

मनः प्राणे(छां.उ.6.8.6) इस प्रकार मरणकाल में मन की उत्क्रान्ति के पश्चात् प्राण की उत्क्रान्ति सुने जाने से जीवात्मा के उपकार की दृष्टि से मन की अपेक्षा प्राण का महत्त्वपूर्ण स्थान ज्ञात होता है। इस दृष्टि से देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से भिन्न आत्मस्वरूप के निरूपण के लिए मन के पश्चात् प्राण का विचार किया जाता है। बृहदारण्यक(4.4.5)में भी मनोमय के पश्चात् प्राणमय का कथन है किन्तु वस्तुस्वरूप की दृष्टि से प्राण की अपेक्षा मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि मन अहंकारजन्य है, प्राण वायुविशेष है, इसलिए भौतिक है अतः मन प्राण की अपेक्षा सूक्ष्म है इस दृष्टि से प्रस्तुत तैत्तिरीयोपनिषत् में प्राणमय के पश्चात् मनोमय का निरूपण किया जाता है

चतुर्थोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥1॥

अन्वय

मनसा सह वाचः यतः अप्राप्य निवर्तन्ते। ब्रह्मणः आनन्दं विद्वान् कदाचन न बिभेति इति। यः पूर्वस्य, एषः एव तस्य शारीरः आत्मा।

अर्थ

मनसा-मन के **सह**-साथ **वाचः**-वाणी **यतः**-जहाँ से (जिस ब्रह्मानन्द से उसकी इयत्ता को) **अप्राप्य**-प्राप्त किये विना **निवर्तन्ते**-लौट आती हैं। (उस) **ब्रह्मणः**-ब्रह्म के **आनन्दम्**-आनन्द को **विद्वान्**-जानने वाला **कदाचन**-कभी भी **न बिभेति**-भय नहीं करता। **यः**-जो **पूर्वस्य**-पूर्व में प्रतिपादित प्राणमय का आत्मा है, **एषः**-यह **एव**-ही **तस्य**-मनोमय का

शारीरः-शरीरसम्बन्धी **आत्मा**-आत्मा है।

व्याख्या

ब्रह्मानन्द की इयत्ता मन-वाणी का अविषय-मन के साथ वाणी जिसे पाये विना लौट आती है, उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला कभी भी संसारभय को प्राप्त नहीं होता।

शंका-जिज्ञासु परब्रह्म को जानने के लिए गुरु के ही पास जाए-**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।**(मु.उ.1.2.12) गुरुदेव ब्रह्म का बोध कराने के लिए वाणी से ही उपदेश करते हैं। इस प्रकार वाणी ब्रह्म के ज्ञान(परोक्षज्ञान) का साधन बनती है। यदि वाणी से उसका बोध नहीं कराया जा सकता तो उसके ज्ञान के लिए गुरु के समीप जाने का विधान करने वाली उक्त श्रुति की क्या संगति होगी? और यदि मन से परमात्मा का ज्ञान नहीं होता तो मन से परमात्मा के ज्ञान का विधान करने वाली "श्रवण, मनन के पश्चात् विशुद्ध मन से परमात्मा को जानना चाहिए"-**मनसैवानुद्रष्टव्यम्** (बृ.उ.4.4.19) इस श्रुति की भी क्या संगति होगी?

समाधान-वाणी से परमात्मा का परोक्ष ज्ञान होता है और मनन, निदिध्यासन करने पर मन से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परमात्मा अपरिच्छिन्न है, घटादि वस्तुएँ परिच्छिन्न हैं। परिच्छिन्न वस्तुएँ इयत्ता(परिच्छेद या सीमा) से युक्त होती हैं। अपरिच्छिन्न ब्रह्म की इयत्ता नहीं होती अतः वाणी से उसे न जानने का अर्थ है-वाणी से ब्रह्म का परिच्छिन्नरूप से ज्ञान नहीं हो सकता। वाणी से उसका यथावस्थित इयत्तारहितत्वेन ज्ञान होता ही है। मन से ब्रह्म को नहीं जानते हैं, इसका अर्थ है-इयत्ताविशिष्ट रूप से नहीं जानते और मन से ब्रह्म को जानते हैं, इसका अर्थ है-इयत्तारहितत्वेन जानते हैं। इसी अभिप्राय से कहा है कि मन के सहित वाणी जिस ब्रह्मानन्द की इयत्ता को न पाकर जहाँ से लौट आती है-**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।** इसी श्रुति का अग्रिम अंश "उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला व्यक्ति कभी भी संसारभय को प्राप्त नहीं होता-**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति।**"(तै.उ.2.4.1) स्पष्टरूप से आनन्दविशिष्ट ब्रह्म को ज्ञेय कहता है अतः ब्रह्म को वाणी और मन का विषय कहने वाली उक्त श्रुतियाँ सार्थक होती हैं।

मन ब्रह्म और उसके गुणों के अपरोक्ष ज्ञान का साधन अवश्य है किन्तु अशुद्ध मन नहीं अपितु शुद्ध मन। अशुद्ध मन से उसे जान ही नहीं सकते। शुद्ध मन से ब्रह्म को यथावत् जान सकते हैं। ब्रह्म अपरिच्छिन्न है अतः अपरिच्छिन्नत्वेन ही उसे जान सकते हैं। ब्रह्म को अज्ञेय बताने वाली श्रुतियाँ उसे अशुद्ध मन से अज्ञेय कहती हैं और ज्ञेय कहने वाली श्रुतियाँ शुद्ध मन से ज्ञेय कहती हैं। सूक्ष्मदर्शी ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा सूक्ष्म अर्थ को जानने में समर्थ एकाग्र मन से परमात्मा का साक्षात्कार होता है-**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।**(क.उ.1.3.12), विशुद्ध मन से परमात्मा का साक्षात्कार होता है-**मनसा तु विशुद्धेन।**(व्या.स्मृ.) इत्यादि रीति से ब्रह्मवेत्ता शुद्ध मन से उसका साक्षात्कार करके कभी भी संसार भय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् मुक्त हो जाता है।

मनोमय की महिमा

ब्रह्म चक्षु आदि का विषय ही नहीं है, केवल शुद्ध मन का विषय है। मन के साथ वाणी जिस अपरिच्छिन्न ब्रह्मानन्द से उसकी परिच्छिन्नता को पाये विना लौट आती है, उस आनन्द को जानने वाला कभी भी संसारभय को प्राप्त नहीं होता, यह मन्त्र का अर्थ है। वाणी से अपरिच्छिन्न ब्रह्म का अपरिच्छिन्नत्वेन ही प्रतिपादन किया जा सकता है, परिच्छिन्नत्वेन नहीं और निर्मल मन से उसे अपरिच्छिन्नत्वेन ही जान सकते हैं, इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन शुद्ध मन की महिमा का प्रतिपादन करता है। जो पूर्व में प्रतिपादित अन्नमय और प्राणमय का आत्मा है, वही मनोमय का भी आत्मा है।

अन्नमय, प्राणमय और मनोमय का आत्मा कौन है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

तस्माद् वा एतस्माद् मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥2॥

अन्वय

तस्मात् एतस्मात् मनोमयात् अन्यः वै अन्तरः विज्ञानमयः आत्मा। तेन

एषः पूर्णः। सः एषः वै पुरुषविधः एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धा एव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यम् उत्तरः पक्षः। योगः आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तत् एषः श्लोकः अपि भवति।

अर्थ

तस्मात्-पूर्वोक्त **एतस्मात्**-इस **मनोमयात्**-मनोमय से **अन्यः**-भिन्न **वै**-ही(उसके) **अन्तरः**-अन्दर रहने वाला **विज्ञानमयः**-विज्ञानमय **आत्मा**-आत्मा है। **तेन**-विज्ञानमय आत्मा से **एषः**-मनोमय **पूर्णः**-व्याप्त है। **सः**-वह **एषः**-यह विज्ञानमय **वै**-निश्चितरूप से **पुरुषविधः**-पुरुष (अन्नमय) के आकार का **एव**-ही है। **तस्य**-मनोमय के **पुरुषविध ताम्**-पुरुष के (समान) आकार का **अनु**-अनुसरण करके **अयम्**-विज्ञानमय आत्मा (भी) **पुरुषविधः**-पुरुष के आकार का है। **तस्य**-विज्ञानमय आत्मा का **श्रद्धा**-श्रद्धा **एव**-ही(पक्षी का) **शिरः**-शिर है। **ऋतम्**-ऋत **दक्षिणः**-दाहिना **पक्षः**-पंख है। **सत्यम्**-सत्य **उत्तरः**-बायाँ **पक्षः**-पंख है। **योगः**-योग **आत्मा**-शरीर का मध्य भाग है। **महः**-महः **पुच्छम्**-पूँछ के समान **प्रतिष्ठा**-आधार है इसलिए पूँछ है। **तत्**-विज्ञानमय के विषय में **एषः**-यह **श्लोकः**-मन्त्रात्मक श्लोक **अपि**-भी **भवति**-प्रवृत्त होता है।

व्याख्या

विज्ञानमय-मनोमय से भिन्न और उसकी अपेक्षा अन्तर जो आत्मा है, वह विज्ञानमय[1] है। यहाँ विज्ञानमय का अर्थ है-ज्ञाता जीवात्मा। इसकी अपेक्षा मन बाह्य है और वह अन्तर। विज्ञानमय जीवात्मा अणु होने पर भी धर्मभूतज्ञान की व्याप्ति से पुरुष के आकार का कहा जाता है। पुरुष की आकृति के निमित्त इसके शिर आदि अवयव कहे जाते हैं। इस प्रकरण में विज्ञानमय पद से मन के व्यापार से जन्य विज्ञान की प्रचुरता वाले जीवात्मा का ग्रहण होता है-**विज्ञानमयपदेन तु मनोव्यापार-जन्यविज्ञानप्रचुरो जीव इति विवक्ष्यते।**(आ.भा.)।

---

1. यहाँ विज्ञानमय पद का अर्थ जीवात्मा है, बुद्धि(ज्ञान)मात्र नहीं क्योंकि मयट् प्रत्यय से भेद की प्रतीति होती है-**अत्र विज्ञानमयो जीवः न बुद्धिमात्रम्। मयट्प्रत्ययेन व्यतिरेकप्रतीतेः।**(रं.भा.)।

उक्त मन्त्र में श्रद्धा, ऋत और सत्य शब्द ज्ञानविशेष के बोधक हैं-**अत्र श्रद्धाऋतसत्यशब्दाः ज्ञानविशेषपराः।**(रं.भा.)आस्तिक्यबुद्धि को श्रद्धा कहते हैं-**श्रद्धा च आस्तिक्यबुद्धि।**(आ.भा.), शास्त्रोक्त विषयों में विश्वास को आस्तिक्यबुद्धि कहते हैं। यह श्रद्धा ही कर्तव्य में प्रवृत्ति का मूल होती है इसलिए इसकी प्रधानता होती है अतः इसे विज्ञानमय का शिर कहा गया है। **ऋतं पिबन्तौ**(क.उ.1.3.1) इत्यादि श्रुतियों के समान तैत्तिरीय श्रुति में भी ऋत का अर्थ कर्मफल होता है। यहाँ ऋत से ऐश्वर्यात्मक कर्मफल को लेना चाहिए। सत्य का अर्थ कैवल्य है। यहाँ तैत्तिरीयश्रुति में विज्ञानमय के प्रकरण में ऋत शब्द से ऐश्वर्य के साधन का ज्ञान और सत्य शब्द से कैवल्य के साधन का ज्ञान विवक्षित है-**ऋतं 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादाविव कर्मफलम्, ऐश्वर्यमिति यावत्। सत्यं कैवल्यम्। ऐश्वर्यार्थोपायविज्ञानं कैवल्यार्थविज्ञानं च विवक्षितम्।**(भा.प.)। ऐश्वर्य प्राप्त होने पर उससे उपरत होकर साधक ब्रह्मानुभव कर सकता है इसलिए उसके वाचक ऋत को विज्ञानमय का दक्षिण पक्ष कहा गया है किन्तु कैवल्य प्राप्त होने पर दीर्घकाल तक ब्रह्मानुभव से विमुख रहता है इसलिए उसके वाचक सत्य को उत्तर पक्ष कहा गया है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये भगवत्शेषत्व के प्रतिपादक ओम् इस मन्त्र से आत्मसमर्पण करना चाहिए-**ओमित्यात्मानं युञ्जीत।**(तै.ना.उ.148) इस प्रकार विहित ज्ञानविशेष योग शब्द से कहा जाता है। वह आत्मसमर्पण का अनुकूल ज्ञान सभी ज्ञानों में प्रधान होने से आत्मा कहा जाता है। योग की विरोधी वृत्तियों के निवारण का सामर्थ्य महः कहलाता है, वह योग का आधार होने से पुच्छ कहा जाता है-**महः पुच्छं योगविरोधिनिरसनसामर्थ्यलक्षणं महः पुच्छमित्यर्थः।**(रं.भा.)।

पञ्चमोऽनुवाकः

अब विज्ञानमय का प्रतिपादक मन्त्रात्मक श्लोक प्रस्तुत किया जाता है-

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान् समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥1॥

अन्वय

विज्ञानं यज्ञं तनुते च कर्माणि अपि तनुते। सर्वे देवाः ब्रह्म ज्येष्ठं विज्ञानम् उपासते। चेत् विज्ञानं ब्रह्म वेद। चेत् तस्मात् न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनः हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते इति। यः पूर्वस्य। एषः एव तस्य शारीरः आत्मा।

अर्थ

विज्ञानम्-आत्मा **यज्ञम्**-यज्ञादि शास्त्रीय कर्म को **तनुते**[1]-करता है **च**-और **कर्माणि**-लौकिक कर्मों को **अपि**-भी **तनुते**-करता है। **सर्वे**-सभी **देवाः**-देवता **ब्रह्म**-अचेतन प्रधान से **ज्येष्ठम्**-श्रेष्ठ **विज्ञानम्**-आत्मा की **उपासते**-उपासना करते हैं। **चेत्**-यदि (कोई) **विज्ञानम्**-आत्मरूप **ब्रह्म**-ब्रह्म की **वेद**-उपासना करता है (और) **चेत्**-यदि (कभी भी) **तस्मात्**-उस उपासना से **न प्रमाद्यति**-प्रमाद नहीं करता है (तो) **शरीरे**-शरीर रहते ही **पाप्मनः**-पापों को **हित्वा**-छोड़कर **सर्वान्**-सभी **कामान्**-अभीष्ट पदार्थों को **समश्नुते**-प्राप्त करता है। **यः**-जो **पूर्वस्य**-पूर्व में प्रतिपादित मनोमय का आत्मा है। **एषः**-यह **एव**-ही **तस्य**-विज्ञानमय का **शारीरः**-शरीरसम्बन्धी **आत्मा**-आत्मा है।

व्याख्या

विज्ञान-पूर्व मन्त्र में विज्ञानमय शब्द से निर्दिष्ट जीवात्मा ही यहाँ विज्ञान शब्द से कहा जाता है। आत्मस्वरूप स्वयंप्रकाश होने से विज्ञान शब्द से कहा जाता है और ज्ञान के द्वारा निरूपणीय होने से भी विज्ञान शब्द से कहा जाता है। ज्ञाता आत्मा विज्ञान कहलाता है-**विजानातीति विज्ञानम्। कृत्यल्युटो बहुलम्**(अ.सू.3.3.113) इस सूत्र से कर्ता में ल्युट् प्रत्यय अथवा नन्द्यादिगण में पाठ मानकर **नन्दिग्रहिपचादि**(अ.सू.3.1.134) इस सूत्र से कर्ता में ल्यु प्रत्यय करने पर विज्ञान शब्द की सिद्धि होती है। विज्ञान शब्द से **अर्शादिभ्यः**(अ.सू.5.2.127)सूत्र के द्वारा मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर भी विज्ञान शब्द की निष्पत्ति होती है। विज्ञान शब्द का केवल विज्ञान(बुद्धि) अर्थ लेने पर वह जड़ होने से उसमें

1. तनुते करोति।(आ.भा., प्रदी.)।

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च इस प्रकार प्रतिपादित लौकिक, वैदिक कर्मों का कर्तृत्व संभव नहीं होता अतः विज्ञान का अर्थ बुद्धि करना उचित नहीं। बृहदारण्यकोपनिषत् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में **यो विज्ञाने तिष्ठन्**(बृ.उ.37.26) इस प्रकार काण्व शाखा का पाठ है और **यो आत्मनि तिष्ठन्**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इस प्रकार माध्यन्दिन शाखा का पाठ है, इससे विज्ञान शब्द का आत्मा अर्थ स्पष्ट होता है।

श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य 2.3.36 में सांख्यसिद्धान्त का खण्डन करते समय विज्ञान पद का जीव अर्थ किया, बुद्धि अर्थ नहीं किया और बुद्धि में कर्तृत्व का खण्डन भी किया किन्तु स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मसूत्रभाष्य 2.3.40 में उसी विज्ञान पद का बुद्धि अर्थ किया और बुद्धि में ही कर्तृत्व का मण्डन भी किया है, इस प्रकार स्पष्टरूप से उनके ब्रह्मसूत्रभाष्य के पूर्वापर वचनों का विरोध है किन्तु उन्होंने **तथाहि विज्ञानं यज्ञं तनुते विज्ञानवान् हि यज्ञं तनोति श्रद्धापूर्वकम्।** (तै.उ.शां.भा.) इस प्रकार तैत्तिरीयभाष्य में विज्ञान पद का अर्थ विज्ञानवान् अर्थात् जीव ही किया है तथा उसी में यज्ञ कर्म का कर्तृत्व माना है। इस विषय को विस्तार से समझने के लिए पूज्य स्वामी शंकरानन्द सरस्वती कृत 'पुनर्विमर्शनीय शांकरभाष्य' का अवलोकन करना चाहिए।

कर्तृत्व

कृति अर्थात् प्रयत्न का आश्रय कर्ता कहलाता है-**कृत्याश्रयत्वं कर्तृत्वम्।** प्रयत्न का आश्रय चेतन आत्मा होती है, जड़ पदार्थ नहीं होता, जानता है, इच्छा करता है, प्रयत्न करता है और कार्य करता है-जानाति, इच्छति, यतते, करोति च, इस सुव्यवस्थित वाक्यप्रयोग के अनुसार ज्ञान तथा चिकीर्षा(करने की इच्छा) पूर्वक ही प्रयत्न होता है। अतः ज्ञानचिकीर्षा-पूर्वक प्रयत्न करने वाले को कर्ता कहते हैं-**ज्ञानचिकीर्षापूर्वकप्रयत्नवत्त्वं कर्तृत्वम्।** ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न पूर्व में होने पर ही सभी कार्य किये जाते हैं। क्रिया की अपेक्षा प्रयत्न आन्तरिक है, प्रयत्नत्व धर्मभूत ज्ञान की अवस्थाविशेष है। प्रयत्न के पश्चात् क्रिया सम्पन्न होती है। जैसे-ग्रामं गच्छति, यहाँ गमन क्रिया के अनुकूल (ज्ञानचिकीर्षापूर्वक) प्रयत्न का आश्रय चेतन आत्मा है इसलिए उसमें ही कर्तृत्व है। 'रथो गच्छति'

इत्यादि प्रयोगों में धातु(गम् धातु) का अर्थ व्यापार(गमन क्रिया) का आश्रय अचेतन रथ होने के कारण उसे उपचार से कर्ता कहा जाता है।

भोक्ता जीवात्मा, भोग्य प्रकृति एवं प्रेरक परमात्मा को जानकर सब त्रिविध ब्रह्म को बता दिया-**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।**(श्वे.उ.1.12) तत्त्वत्रय का निरूपण करने वाली यह श्रुति चेतन आत्मा का भोक्तृत्वरूप से प्रतिपादन करती है। भोक्तृत्व का अर्थ भोगकर्तृत्व होता है। जीवात्मा के .भोक्तृत्व में कर्तृत्व हेतु है। जीव पुण्यपापरूप कर्मों का कर्ता होने से ही उनके फल का भोक्ता होता है, अतः आत्मा का कर्तृत्व स्वीकार न करने पर उसका भोक्तृत्व ही सिद्ध नहीं होगा। शास्त्रोक्त स्वर्गादि फल कर्म के कर्ता को प्राप्त होते हैं-**शास्त्रफलं प्रयोक्तरि**(मी.सू.3.7.18) यह नियम है। विद्वानों ने जातकर्म तथा श्राद्ध को अपवाद का स्थल माना है। कुछ विद्वानों के अनुसार नियम का निम्न प्रकार से परिष्कार करने पर संगति लग जाती है, कहीं भी दोष नहीं आता-जिस फल के उद्देश्य से जिस कर्म का विधान जिस कर्ता के लिये किया जाता है, उस कर्म के कर्ता को उस फल की प्राप्ति अवश्य होती है। स्वपुत्र की पवित्रतारूपफल के उद्देश्य से जातकर्म का विधान कर्ता पिता के लिए किया जाता है अतः जातकर्म करने वाले पिता को स्वपुत्र की पवित्रतारूप फल की प्राप्ति होती है, इसी तरह स्वपिता को स्वर्गप्राप्ति करा देनारूप फल के उद्देश्य से श्राद्ध कर्म का विधान कर्ता पुत्र के लिए किया जाता है। श्राद्ध कर्म करने वालें कर्ता पुत्र को स्वपिता के लिए स्वर्गप्राप्ति करा देनारूप फल की प्राप्ति होती है।

यह आत्मा देखने वाली, स्पर्श करने वाली, सुनने वाली, सूँघने वाली, रस ग्रहण करने वाली, मनन करने वाली, ज्ञाता, कर्ता और विज्ञान स्वरूप है-**एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।**(प्र.उ.4.9), स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने शरीर में इच्छानुसार संचरण करता है-**स्वशरीरे यथाकामं परिवर्तते।**(बृ.उ.2.1.18), आत्मा यज्ञादि शास्त्रीय तथा लौकिक कर्मों को भी करती है-**विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च।**(तै.उ.2.5.1) इत्यादि वचनों से आत्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन किया जाता है। प्रस्तुत तैत्तिरीय श्रुति में आया विज्ञान पद अन्तःकरण(बुद्धि) का वाचक नहीं है क्योंकि करण का वाचक होने पर

'विज्ञानेन' इस प्रकार तृतीया विभक्ति होनी चाहिए किन्तु यहाँ प्रथमा विभक्ति है। **यो विज्ञाने तिष्ठन्**(बृ.उ.3.7.26) इस काण्वशाखा वाले पाठ के स्थान पर **य आत्मनि तिष्ठन्**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) यह माध्यन्दिन शाखा का पाठ है, इससे विज्ञान शब्द कर्ता आत्मा का ही वाचक सिद्ध होता है।

आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सिद्धि अहं कर्ता, अहं भोक्ता इस प्रत्यक्ष अनुभव से भी होती है अतः प्रकृति कर्ता है, आत्मा अकर्ता है, यह कथन पूर्वोक्त शास्त्रवचन से तथा 'मैं इसे जानता हूँ'-'अहमिदं जानामि' इस अनुभव के समान 'मैं इसे करता हूँ-अहमिदं करोमि' इस प्रत्यक्ष अनुभव से बाधित है। इस अनुभव से ज्ञान के समान कर्तृत्व भी आत्मा का धर्म सिद्ध होता है। यहाँ यदि कोई शंका करे कि तब तो 'अहं स्थूलः', 'अहं काणः' इस प्रत्यक्ष अनुभव से आत्मा को स्थूल और काना भी मानना होगा। इसका उत्तर यह है कि स्थूलत्व और काणत्व तो अन्वयव्यतिरेक के द्वारा शरीर और नेत्र के धर्म सिद्ध होते हैं। यह बात सभी आस्तिकों को समानरूप से मान्य है इसलिए स्थूलत्व और काणत्व आत्मा के धर्म न होने से आत्मा को स्थूल या काना मानने की शंका नहीं रहती।

शंका-कर्तृत्व अन्तःकरण का ही स्वाभाविक धर्म है, आत्मा का औपाधिक धर्म है। जिस प्रकार स्फटिक स्वच्छ होने पर भी जपाकुसुम उपाधि के सन्निहित होने पर रक्त प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा कर्तृत्वादि से रहित होने पर भी अन्तःकरण उपाधि के सन्निहित होने पर कर्ता प्रतीत होती है। स्फटिक में जैसे रक्त वर्ण आरोपित है, वैसे ही आत्मा में कर्तृत्वादि आरोपित हैं।

समाधान-यह कथन उचित नहीं क्योंकि जपाकुसुम में पहले से रक्त वर्ण विद्यमान है किन्तु जड़ होने के कारण अन्तःकरण उपाधि में कर्तृत्व है ही नहीं। जब उपाधि में ही कर्तृत्व नहीं है, तब उसके सम्बन्ध से आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व नहीं हो सकता। चेतन आत्मा के सम्बन्ध के विना अन्तःकरण में कर्तृत्व स्वीकार करने पर चेतन को मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और ऐसा होने पर चार्वाक विजयी होगा क्योंकि वह जड़

पदार्थ को कर्ता स्वीकार करता है।

शंका-केवल अन्तःकरण कर्ता नहीं, केवल आत्मा भी कर्ता नहीं अपितु अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा उसी प्रकार कर्ता होती है, जिस प्रकार केवल लेखनी लेखक(लेख का कर्ता) नहीं होती, केवल देवदत्त लेखक नहीं होता है अपितु लेखनीविशिष्ट देवदत्त लेखक होता है।

समाधान-यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि विचार करने पर करणत्व लेखनी में तथा लेखकत्व देवदत्त में ज्ञात होता है, उसी प्रकार करणत्व अन्तःकरण में तथा कर्तृत्व आत्मा में ज्ञात होता है अतः इस दृष्टान्त के द्वारा भी आत्मा में कर्तृत्व का अभाव सिद्ध नहीं होता।

शंका-जिस प्रकार दाहकत्व अग्नि में है, अयोगोलक(लौहपिण्ड) में नहीं किन्तु अग्नि का सम्बन्ध होने पर 'अयोगोलक जलाता है' ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार कर्तृत्व अन्तःकरण में है, आत्मा में नहीं किन्तु अन्तःकरण का सम्बन्ध होनेपर 'आत्मा कर्ता है' ऐसा व्यवहार होता है। जैसे अयोगोलक में दाहकत्व का आरोप होता है, वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व का आरोप होता है।

समाधान-यह कथन भी पूर्ववत् असंगत है क्योंकि जैसे अग्नि में दाहकत्व है, वैसे अन्तःकरण में कर्तृत्व नहीं है। उपाधि में कर्तृत्व न होने से उसके सम्बन्ध से आत्मा में कर्तृत्व का आरोप नहीं हो सकता।

शंका-जैसे केवल स्त्री सन्तान को उत्पन्न नहीं करती, केवल पुरुष उत्पन्न नहीं करता किन्तु दोनों मिलकर सन्तान को उत्पन्न करते हैं। वैसे ही केवल अन्तःकरण कर्ता नहीं होता, केवल आत्मा कर्ता नहीं होती। दोनों मिलकर कर्ता होते हैं।

समाधान-यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि यदि स्त्री और पुरुष दोनों नपुंसक हों अथवा कोई एक नपुंसक हो, तो सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते। जो सन्तान को उत्पन्न करते हैं, उन दोनों में सन्तान को उत्पन्न करने की योग्यतारूप विशेषता अवश्य रहती है किन्तु यहाँ अन्तःकरण और आत्मा इन दोनों में ही कोई योग्यतारूप विशेषता मान्य नहीं है। उसे आत्मा में मानने पर आत्मा सविशेष सिद्ध होगी और ऐसा होने पर निर्विशेषवाद खण्डित हो जाएगा अतः आत्मा के आरोपित कर्तृत्व का

प्रतिपादन नहीं हो सकता। आत्मा में कर्तृत्व न स्वीकार करके अन्तःकरण और आत्मा को मिलाकर कर्तृत्व स्वीकार करने पर असत्कार्यवाद स्वीकार करना होगा तथा चार्वाक विजयी हो जायेगा क्योंकि जैसे अन्तःकरण और आत्मा इन दोनों में कर्तृत्व का सर्वथा अभाव होने पर भी मिलने पर वह हो सकता है, वैसे ही चारों भूतों में अलग-अलग चेतनत्व न होने पर भी मिले हुए भूतों में हो सकता है, ऐसा चार्वाक भी स्वीकार करता है। विवर्तवादी के मत में कर्तृत्व कल्पित(कल्पना से जन्य) है। कल्पितपदार्थ कल्पक(कल्पना करने वाला) की कल्पना के विना नहीं हो सकता अतः इस कर्तृत्व का कल्पक कौन है? इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए यदि वे कहें कि हम तो अनादि कल्पित कर्तृत्व मानते हैं, तो यह उत्तर प्रश्न के अनुरूप नहीं है क्योंकि कर्तृत्व कब से है, यह हमारा प्रश्न नहीं है फिर भी कर्तृत्व को अनादि कल्पित मानने पर अनादि कल्पक भी मानना होगा, जड़ कल्पक नहीं हो सकता, अतः अनादि कल्पना का कर्ता चेतन को ही मानना पड़ेगा।

शंका-प्रकृति के सत्त्वादि गुणों द्वारा सभी प्रकार के कर्म किये जाते हैं किन्तु अहंकार(देहात्मबुद्धि) से विमूढात्मा(अज्ञात आत्मस्वरूप वाला) 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार अपने को कर्ता मान लेता है-**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**(गी.3. 27) इस वचन के द्वारा प्रकृति के गुणों का ही कर्तृत्व कहा जाता है, आत्मा का कर्तृत्व नहीं कहा जाता अतः आत्मा को कर्ता नहीं मानना चाहिए।

समाधान-ज्ञान की तरह कर्तृत्व आत्मा का ही धर्म है। वह(कर्तृत्व) सभी कर्मों का साधारण कारण है। सत्त्व आदि गुणों की उत्कर्षता के कारण होने वाले कर्म विभिन्न प्रकार के होते हैं। उन कर्मों के प्रति प्रकृति के गुणविशेष ही असाधारण कारण होते हैं इसलिए प्रकृति के गुणविशेष के द्वारा किये जाने वाले कर्मों में गुणों की हेतुता को न समझकर जो केवल आत्मा को कर्ता मानता है, उसके प्रति **अहंकार विमूढात्मा** यह वचन प्रवृत्त होता है। गीता के निम्नवचनों से यह अभिप्राय प्रकट होता है-मनुष्य मन, वाणी और कर्म के द्वारा जो विहित अथवा निषिद्ध कर्म करता है, उनमें अधिष्ठान(शरीर), कर्ता(जीवात्मा), मनसहित

कर्मेन्द्रियाँ, विविध प्रकार की पृथक् पृथक् चेष्टाएँ और पाँचवाँ दैव(परमात्मा) ये पाँच हेतु होते हैं, ऐसा होने पर भी जो केवल आत्मा को कर्ता समझता है, वह दुर्मति अकृतबुद्धि होने के कारण नहीं समझता-**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथक्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ शरीरवाङ्.मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥**(गी.18.14-16) एक कार्य की निष्पत्ति में शरीरेन्द्रियादि पाँचों साधनों की अनिवार्यता को कहकर जो केवल आत्मा को कर्ता(कार्य का निष्पादक) जानता है, उसे दुर्मति कहा गया है। लेखनादि कार्य के प्रति कागज, स्याही तथा लेखनी आदि की अनिवार्यतामात्र से पुरुष के लेखनकर्तृत्व का निराकरण नहीं किया जा सकता इसलिए उक्त श्लोकों में आत्मा का कर्ता पद से ही निर्देश किया गया है। इस प्रकार कर्तृत्व आत्मा का ही धर्म सिद्ध होता है। शरीरादि पाँचों की अपेक्षा रखने वाले तथा गुणों के वैषम्य के अनुसार होने वाले सांसारिक कर्मों में जो कारणान्तर की अपेक्षा को न मानकर केवल आत्मा को ही कर्ता मानता है, उस अकृतबुद्धि मनुष्य का विनाश हो जाता है।

प्रकृति के कार्य, देव, मनुष्य, पशु आदि के विभिन्न प्रकार के शरीरों की तथा नेत्रादि बाह्येन्द्रियों एवं मन के साथ मिलकर होने वाली विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का कर्तृत्व केवल आत्मा में नहीं है किन्तु प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियादि का होने से प्राकृत अर्थात् प्रकृति का है। इसी अभिप्राय से गीता आदि शास्त्रों में इस कर्तृत्व को कहीं प्रकृति का, कहीं इन्द्रियों का और कहीं गुणों का धर्म कहा गया है तथा इसे केवल आत्मा में मानने वाले की निन्दा की गयी है और केवल आत्मा में न मानने वाले की प्रशंसा।

जैसे तेज का प्रकाश धर्म स्वाभाविक होने पर भी नील, हरित, रक्त आदि प्रकाश स्वाभाविक नहीं हैं किन्तु शीशा आदि उपाधि के कारण हैं। वैसे ही आत्मा का स्वरूपानुरूप, इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञान के प्रसार का कर्तृत्व स्वभाविक होने पर भी पुण्यपाप के जनक सांसारिक कर्मों का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है बल्कि पूर्वकर्ममूलक सत्त्वादिगुणमयी प्रकृति के कार्य देहेन्द्रियप्राण का संसर्गरूप उपाधि के कारण है। यह **प्रकृतेः क्रियमाणानि**

इत्यादि श्लोकों का तात्पर्य है। बद्ध जीव के ज्ञान का प्रसार इन्द्रियद्वारा होता है। इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान के प्रसार का कर्तृत्व भी आत्मा का स्वभाविक नहीं है। यह भी कर्मरूप निमित्त(उपाधि)के कारण है-**ज्ञानप्रसरे तु कर्तृत्वम् अस्ति एव तच्च न स्वाभाविकम् अपितु कर्मकृतम्।**(श्रीभा. 1.1.1)। सिद्धान्त में आत्मा का लौकिक कर्मों के प्रति जो औपाधिक (नैमित्तिक) कर्तृत्व कहा जाता है, वह शांकर सिद्धान्त में प्रतिपादित औपाधिक कर्तृत्वसे भिन्न है। इसके अनुसार उपाधिनिष्ठ कर्तृत्व अचेतन का संसर्ग होने पर चेतन में प्रतीत होता है किन्तु उपाधि में ही इसे विद्यमान न होने से चेतन आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व का निराकरण पूर्व में किया जा चुका है। सिद्धान्त में उपाधि के संसर्ग के कारण आत्मा में होने वाला कर्तृत्व औपाधिक कहा जाता है। आत्मा के आश्रित रहने वाला धर्मभूतज्ञान कृतिरूप होता है। उस(कृति) का आश्रय आत्मा होती है। इस प्रकार कृत्याश्रयत्वरूप कर्तृत्व आत्मा का होता है। आत्मा में पुण्य-पाप के जनक कर्मों का तथा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान के प्रसार का कर्तृत्व उपाधि के कारण होने से औपाधिक कहलाता है, इसीलिए कहा है कि सांसारिक कर्मों के प्रति आत्मा का कर्तृत्व सत्त्वादि गुणों के संसर्ग के कारण है, स्वरूपतः नहीं-**सांसारिकप्रवृत्तिषु जीवस्य कर्तृत्वं सत्त्वादिगुणसंसर्गकृतम्, न स्वरूपप्रयुक्तम्।**(ब्र.सू.आ.भा.2.3.34) किन्तु उपाधि के न होने पर धर्मभूतज्ञान का विषय ब्रह्मानन्द होता है, इसलिए सिद्धान्त में आत्मा में विद्यमान ब्रह्मानुभव का कर्तृत्व स्वाभाविक माना जाता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से अविद्यात्मक कर्म निवृत्त हो जाने से तन्मूलक प्रकृति के साथ संसर्ग नहीं रहता इस प्रकार उपाधि के न रहने से औपाधिक कर्तृत्व भी नहीं रहता किन्तु ब्रह्मानुभव के प्रति आत्मा का जो स्वाभाविक कर्तृत्व है, वह कभी भी निवृत्त नहीं होता। तभी **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ.2.1.1) इत्यादि मुक्तावस्था में आत्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ सार्थक होती हैं। श्रुतिप्रतिपादित परम पुरुषार्थ ब्रह्मानुभवरूप मोक्ष से वंचित रहने वाले आत्मा में कभी भी कर्तृत्व स्वीकार नहीं कर सकते। आत्मा में कर्तृत्वरूप विकार को मानने पर आत्मा विकारी हो जायेगा, यह शंका भी व्यर्थ है क्योंकि कर्तृत्व विकार नहीं है, वह तो उसका सामर्थ्य है।

यदि कोई आत्मा को मारने वाली मानता है और आत्मा को मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा न तो मारती है और न ही मरती है-**हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥**(क.उ.1.2.19) यह श्रुति आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करने के लिए 'आत्मा हनन क्रिया का कर्ता नहीं है और हनन क्रिया का कर्म भी नहीं है' इस अर्थ का बोध कराती है। यह श्रुति आत्मा में कर्तृत्वमात्र के अभाव का प्रतिपादन नहीं करती इसलिए आत्मा में हनन क्रिया के कर्तृत्व तथा हनन क्रिया के कर्मत्व का 'नायं हन्ति न हन्यते' इस प्रकार निषेध किया जाता है।

शंका-आत्मा सङ्गरहित है-**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**।(बृ.उ.4.3.15) इस श्रुति के बल से हम आत्मा में कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते। आत्मा का कर्तृत्व स्वीकार करने पर उक्त वचन की क्या गति होगी?

समाधान-आत्मा स्वरूपतः शुद्ध ही है। वह कर्मकृत प्रकृतिसंसर्ग के कारण संसरण करता है, इस कारण संसरण औपाधिक है। पुरुष स्वरूपतः असंग है-**असङ्.गो ह्ययं पुरुषः** इस वचन से स्वरूपतः शुद्ध आत्मा कही जाती है, श्रुतिसिद्ध स्वाभाविक कर्तृत्व का निषेध नहीं किया जाता। श्रुतिसिद्ध आत्मा के विशेषण उसकी असंगता के विरोधी नहीं हैं। औपाधिक कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का आत्मा में स्वरूपतः अभाव कहा जाता है।

अन्तःकरण का सम्बन्ध होने पर आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व 'मैं कर्ता हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार सबके अनुभव से सिद्ध है तथा अन्तःकरण का सम्बन्ध न होने पर सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि में आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व का अभाव भी सबके अनुभव से सिद्ध है। दो प्रकार के परस्पर विरुद्ध अनुभवों के कारण यह संशय उत्पन्न होता है कि आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व आरोपित हैं, या आरोपित नहीं। अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व स्वाभाविक हैं या अन्तःकरण आदि उपाधियों के अभाव के कारण हैं। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में अन्तःकरण का सम्बन्ध न रहने के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति न होने मात्र से उन धर्मों को अन्तःकरण में ही मानना उसी प्रकार उपहास के योग्य है, जिस प्रकार लेखनीरूप साधन का अभाव होने पर पुरुष में लेखकत्व न मानकर लेखनी को ही

लेखक मान लेना अथवा काष्ठ आदि में विद्यमान अदृश्य अग्नि में दाहकत्व न देखकर काष्ठ आदि दाह्य पदार्थों को ही दाहक मान लेना। यदि कहा जाय कि अन्वय-व्यतिरेक से काष्ठ में दाह्यत्व तथा लेखनी में करणत्व सिद्ध हो जाने से काष्ठ को दाहक और लेखनी को लेखक नहीं माना जा सकता, तो यह युक्ति यहाँ भी समानरूप से चरितार्थ होती है। अन्तःकरण में करणत्व है, उसमें कर्तृत्व नहीं हो सकता क्योंकि कर्ता सदा करण से भिन्न ही होता है। **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या।**(क.उ.1.3.12), **मनसैवानुद्रष्टव्यम्।**(बृ.उ.4.4.19), **शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।**(गी.18.15) ये वचन मन को स्पष्टरूप से करण कहते हैं अतः वह कर्ता नहीं हो सकता। सुषुप्ति तथा समाधि में कर्तृत्व की अनुभूति न होने का कारण बुद्धिरूप साधन का अभाव ही है अन्यथा यदि बुद्धि के होने पर कर्तृत्व की अनुभूति होने और बुद्धि के न होने पर उसकी अनुभूति न होने मात्र से यदि कर्तृत्व को बुद्धि का धर्म माना जाय तो विवर्तवादियों को कूटस्थत्व और ब्रह्मत्व आदि को भी बुद्धि का धर्म मानना होगा क्योंकि बुद्धि के होने पर ही इनकी अनुभूति होती है, न होने पर नहीं होती, इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आत्मा में आरोपित नहीं हैं। आत्मा का यावत् आत्मभावी कर्तृत्व स्वीकार करने पर ही शास्त्र की अर्थवत्ता होती है। मुक्त अकर्मवश्य होता है-**स स्वराड् भवति।**(छां.उ.7.25.2), मुक्त का सभी लोकों में यथेच्छ संचरण होता है-**तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।**(छां.उ.7.25.2), संकल्पमात्र से अभीष्ट पदार्थ मुक्तों को प्राप्त होते हैं, यह अर्थ **संकल्पादेवास्य**(छां.उ.8.2.1) इस श्रुति से ज्ञात होता है। पूर्वोक्त श्रुतियाँ तथा **संकल्पादेव तच्छ्रुतेः**(ब्र.सू.4.4.8) यह सूत्र मोक्षावस्था में भी आत्मा के कर्तृत्व के बोधक हैं।

ब्रह्मसूत्र के **कर्त्रधिकरण**(ब्र.सू.2.3.5) में भी जीवात्मा के ज्ञातृत्व के समान कर्तृत्व को स्वाभाविक कहा जाता है। **कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्**(ब्र.सू.2.3.33) इस सूत्र से आत्मा के कर्तृत्वरूप साध्य में शास्त्रार्थवत्त्वरूप हेतु कहकर **उपादानाद् विहारोपदेशाच्च**(ब्र.सू.2.3.34) इत्यादि सूत्रों से पूर्वोक्त विषय का सुदृढ़ प्रतिपादन करके **यथा च तक्षोभयथा**(ब्र.सू.2.3.39) इस प्रकार दृष्टान्त कहा जाता है। जिस प्रकार तक्षा(बढ़ई)

करने वाला तथा न करने वाला उभय प्रकार वाला होता है, उसी प्रकार आत्मा करने वाली तथा न करने वाली इन दोनों प्रकार की होती है। स्वाभाविक कर्तृत्व शक्ति से युक्त आत्मा का कभी कर्ता होना और कभी कर्ता न होना कैसे संभव होता है? इस प्रश्न का उत्तर तक्षा दृष्टान्त से दिया गया है। जैसे स्वाभाविक कर्तृत्व शक्ति से युक्त तक्षा वसूला आदि साधनों के होने पर स्वेच्छा से कभी कर्ता तथा साधनों के न होने पर अकर्ता इन दोनों प्रकार वाला होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्तृत्व शक्ति से युक्त आत्मा स्वेच्छा से कभी कर्ता कभी अकर्ता इन दोनों प्रकार वाली होती है। इस सूत्र में दिये गये दृष्टान्त से आत्मा में आरोपित कर्तृत्व कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि तक्षा का कर्तृत्व न तो अज्ञानजन्य है और न ही ज्ञानबाध्य, केवल साधनसापेक्ष है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे व्यक्ति का लेखकत्व लेखनीरूप साधन सापेक्ष होने पर भी व्यक्ति में ही है, लेखनी में नहीं। लेखनी तो करणमात्र है। वैसे ही कर्तृत्व करणसापेक्ष होने पर भी आत्मा में ही है, करण(बुद्धि)में नहीं। यदि कहा जाय कि जैसे लेखक से लेखनी को पृथक् करके दिखाया जा सकता है, वैसे कर्ता के स्वरूप में प्रविष्ट होने के कारण कर्ता से पृथक् करके बुद्धि को नहीं दिखाया जा सकता अतः दृष्टान्त ठीक नहीं, तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि पूर्वोक्त विवेचन से आत्मा ही कर्ता सिद्ध हो चुका है अतः कर्ता के स्वरूप में बुद्धि का प्रवेश न होने से वह कर्ता से भिन्न करण ही है, कर्ता नहीं। इस विषय के परिज्ञान के लिए गीताभाष्य 3. 27, 3.29-30, 5.8, 5.9-14, 13.20, 13.29, 14.19, 18.16 तथा उसकी टीकाओं का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

परमात्माधीन कर्तृत्व

जीवात्मा का कर्तृत्व परमात्मा के अधीन है। यह श्रुतिप्रमाण से सिद्ध होता है-**परात्तु तच्छ्रुतेः**(ब्र.सू.2.3.40) परमात्मा सभी जीवात्माओं के अन्दर प्रविष्ट होकर उन पर शासन करता है इसलिए सभी का आत्मा है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.आ.3.11.3), परमात्मा जीवात्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है-**य आत्मानम् अन्तरो यमयति।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा कारयिता अर्थात् कराने वाला है और जीवात्मा कर्ता अर्थात् करने वाला

है। कारयिता होने से परमात्मा प्रेरक कहलाता है। जीव में जो कर्तृत्व ज्ञात होता है, वह परमेश्वराधीन है तथा सांसारिक कर्मों का कर्तृत्व औपाधि क है-**जीवे यत् कर्तृत्वम् आभाति, तत्परमेश्वराधीनम् औपाधिकं च।**(बृ.उ.आ.भा.4.3.7), **जीवस्य कर्तृत्वम् परमात्मायत्तम् इति सांसारिककर्मकर्तृत्वम् औपाधिकम् इति च दर्शितम्।** (बृ.उ.र.भा.4. 3.7)।

शंका-यदि जीवात्मा के द्वारा किये जाने वाले पुण्यपाप के जनक कर्मों का प्रेरक परमात्मा है, तो जीव कठपुतली के समान सिद्ध होता है। ऐसा होने पर अत्यन्त परतन्त्र जीव के प्रति विधिनिषेध शास्त्र कैसे सार्थक होंगे?

समाधान-इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि पूर्वजन्म में किये गये पुण्यपापात्मक कर्मों की अपेक्षा रखकर ही परमात्मा जीवों को नूतन कर्म करने का सामर्थ्य और शरीरादि साधन प्रदान करके कर्म कराते हैं-**कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः**(ब्र.सू.2.3.41) इसलिए विधिनिषेधशास्त्र सार्थक हैं, निरर्थक नहीं। जिस प्रकार सभी कार्यों के प्रति साधारण कारण काल और अदृष्ट जीवात्मा के कर्तृत्व(ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृतिमत्त्व)के प्रति कारण होते हैं, उसी प्रकार सभी कार्यों के प्रति साधारण कारण परमात्मा भी जीव के कर्तृत्व के प्रति कारण होता है। सामान्य कारण होने से ही चेतन परमात्मा को प्रेरक कहा जाता है। प्रलयकाल में देहेन्द्रिय से रहित जीव होता है। सृष्टिकाल में उसे देहादि और सामर्थ्य को प्रदान करके उसकी आद्यप्रवृत्ति में परमात्मा हेतु होता है। यहाँ देहादि और सामर्थ्य को प्रदान करना ही आद्यप्रवृत्ति में परमात्मा का हेतुत्व है। परमात्मा से प्राप्त सामर्थ्य वाला जीव भी पूर्ववासना के अनुरूप इष्ट और अनिष्ट फल तथा उनके साधन को जानकर कार्य में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार अपनी बुद्धि और रुचिपूर्वक प्रवृत्ति करने के कारण जीव का पराधीन कर्तृत्व सम्भव होता है और विधिनिषेध शास्त्र सार्थक होते हैं। द्वितीयादि प्रवृत्तियों में श्रीभगवान् अनुमन्ता होते हैं, वे विहित विषय में प्रवृत्त व्यक्ति का अनुमोदन करते हैं और निषिद्ध विषय में प्रवृत्त व्यक्ति की उपेक्षा करते हैं। जीव स्वेच्छा से आरम्भिक प्रवृत्ति करता है, उसकी

द्वितीयादि प्रवृत्तियों में ईश्वर की अनुमति की अपेक्षा होती है, इस प्रकार विधिनिषेध शास्त्र सार्थक होते हैं।

जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता वाले गेहूँ, चना, धान आदि बीज नूतन अंकुर की उत्पत्ति में जल और मिट्टी के अधीन होते हैं क्योंकि जल और मिट्टी की सहायता के विना वे नूतन अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के अंकुर, शाखा, पुष्प तथा फल उत्पन्न करने में उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यता ही कारण होती है। जल और मिट्टी तो उनमें निमित्तमात्र होते हैं, उसी प्रकार परमपुरुष की सहायता के विना अर्थात् उनके द्वारा उचित देशकाल तथा शरीरादि साधनों को प्राप्त किये विना जीव नूतन कर्म नहीं कर सकता। इस दृष्टि से जीव ईश्वर के अधीन ही है, फिर भी भिन्न-भिन्न प्रकार के नूतन कर्म करने में जन्मान्तरकृतकर्मजन्य स्वभाव ही कारण है, परमपुरुष तो उनमें निमित्तमात्र है अतः ईश्वरप्रदत्त शरीरादि साधन के विना जीव कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, इस दृष्टि से जीव का कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है। ईश्वर के द्वारा शरीरादिसाधनसम्पन्न होने पर वह कार्य करने में स्वतन्त्र है अतः विधिनिषेधात्मक शास्त्र सार्थक हैं, निरर्थक नहीं। यद्यपि मनुष्य स्वभाव के अनुसार ही सभी कार्य करता है फिर भी रागद्वेष के सहायक होने पर ही उन्हें कर पाता है अन्यथा नहीं। जैसे सिंह का स्वभाव हिंसा करना है, फिर भी वह द्वेषरूप सहायक का अभाव होने से तथा ममतारूप बाधक होने से भूखा होने पर भी अपने बच्चे की हिंसा नहीं करता, वैसे ही शास्त्रीय विधि-निषेध का ज्ञान होने के कारण सहयोगी रागद्वेष के वश में न होने से जीव शास्त्रविहित कर्मों को करता है तथा निषिद्ध कर्मों से उपरत रहता है, इस प्रकार जीव पराधीन होने पर भी शास्त्रीय मार्ग का अनुसरण करके अपना जीवन कृतार्थ कर सकता है।

शंका-जीव का पराधीन कर्तृत्व स्वीकार करने पर **स्वतन्त्रः कर्ता**(अ.सू. 1.4.54) इस पाणिनीय सूत्र से विरोध होता है।

समाधान-ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि महर्षि पाणिनि ने ही **तत्प्रयोजको हेतुश्च**(अ.सू.1.4.55) सूत्र बनाया है। इस सूत्र के द्वारा स्वतन्त्र कर्ता के प्रयोजक(प्रेरक) को हेतु और कर्ता कहा जाता है अतः

पाणिनीय-अनुशासन के अनुसार प्रयोजक कर्ता के द्वारा प्रेरित प्रयोज्य कर्ता की आपेक्षिक स्वतन्त्रता मानकर कर्ता संज्ञा की गयी है, यही सूत्रकार व्यासजी को भी **परात्तु तच्छ्रुतेः**(ब्र.सू.2.3.40) इस सूत्र से अभिमत है अतः कोई विरोध नहीं। अन्य कारक की अपेक्षा कर्ता की स्वतन्त्रता होती है किन्तु परमात्मा की अपेक्षा उसकी परतन्त्रता होती है। जैसे राजा से प्रेरित मन्त्री और अधिकारी स्वतन्त्रता से कार्य करते हैं, वैसे ही ईश्वर से प्रेरित जीव भी कार्य करता है। **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**(तै.आ.3.11.3), **य आत्मानमन्तरो यमयति।**(बृ.उ.मा. पा.3.7.26) इत्यादि प्रमाणों से ईश्वर का प्रयोजक कर्तृत्व कहा जाता है। उसी ईश्वर से प्राप्त हुए सामर्थ्य वाले जीव का भी प्रयोज्य कर्तृत्व है। जीवात्मा के इस कर्तृत्व को ही **कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्**(ब्र.सू.2.3.33) इस सूत्र से कहा जाता है।

शंका-जीव का कर्तृत्व परमात्माधीन स्वीकार करने पर पुण्यपाप भी परमात्मा के होने चाहिए। जैसे-धनुषधारी के द्वारा निषिद्ध हिंसा होने पर उसका ही पाप होता है, बाण का नहीं।

समाधान-यह कहना उचित नहीं क्योंकि परमात्मा सूर्य के प्रकाश की तरह सबके लिए समान है। मनुष्य बीजांकुरन्याय से अनादिकाल से प्रवृत्त पुण्यपापरूप कर्मों के कारण उस प्रकाश की सहायता से चाहे पुण्य करे या पाप करे, उसमें मनुष्यों की बुद्धि ही नियामिका होती है। मनुष्य बाण की तरह जड़ नहीं है अतः वह बुद्धि के तारतम्य के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस कारण प्रयत्न के तारतम्य से होने वाला फल का तारतम्य मनुष्य की बुद्धि से जन्य होता है अतः बाणन्याय यहाँ प्रवृत्त नहीं होता, इस प्रकार परमात्मा कार्यमात्र का सामान्यकारण होने से उनमें वैषम्य, नैर्घृण्य(निर्दयता) दोष भी नहीं हैं। परमात्मा जिसे ऊपर ले जाने की इच्छा करता है, उससे शुभ कर्म कराता है-**एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तम्, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति।**(कौ.उ.3.64) तथा जिसे नीचे ले जाने की इच्छा करता है, उससे परमात्मा ही अशुभ कर्म कराता है-**एष ह्येवैनम् असाधु कर्म कारयति यमधो निनीषति।**(कौ.उ.3.65) यह श्रुति अधिकारी विशेष के विषय में है। जो जीव श्रीभगवान् की आज्ञा का सर्वथा पालन करते हुए शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, उसे ऊपर ले

जाने की इच्छा करते हैं और शुभ कर्म कराते हैं। जो उनकी आज्ञा के विरुद्ध अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, उसे वे नीचे ले जाना चाहते हैं और अशुभ कर्म कराते हैं। ईश्वर की इच्छा जीव के पूर्वकर्मानुसार ही होती है। मुझमें निरन्तर लगे हुए भजन करने वालों को मैं प्रीतिपूर्वक उस बुद्धियोग को प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं। उन पर अनुग्रह करने के लिए आत्मभाव से स्थित होकर प्रज्वलित दीपरूप स्वविषयक ज्ञान से अज्ञानजन्य विषयप्रावण्यरूप तम का नाश कर देता हूँ-**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ तेषाम् एवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥** (गी.10.10-11), द्वेष करने वाले, क्रूर, अशुभ उन नराधमों को संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में गिराता हूँ-**तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥**(गी.16.19)।

वेदान्तशास्त्र का विरोधी सांख्यशास्त्र है। इसी का प्रधानता से निराकरण करने के लिए भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया। सांख्यमत में कर्तृत्व प्रकृति का ही धर्म है, आत्मा का नहीं तथा बुद्धि के सान्निध्य से आत्मा में ज्ञातृत्व कल्पित है। इस मत का ब्रह्मसूत्र में **ज्ञोऽत एव**(ब्र. सू.2.3.19) तथा **कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्**(ब्र.सू.2.3.33) इन दो अधिकरणों के द्वारा निराकरण किया गया है अतः आत्मा में ज्ञातृत्व और कर्तृत्व न स्वीकार करने वाले निर्विशेषाद्वैती वेदान्तमत के अनुयायी कैसे हो सकते हैं? ज्ञातृत्वादि औपाधिक सिद्ध नहीं होते अतः वे स्वाभाविक ही हैं। इस विषय को विस्तार से जानने के लिए दर्शनशास्त्रों के मर्मज्ञ, महान् तत्त्ववेत्ता पूज्यगुरुदेव स्वामी शंकरानन्दसरस्वतीविरचित 'साधनविचार' तथा 'पुनर्विमर्शनीय शांकरभाष्य' का अवलोकन करना चाहिए। कारणत्व तत्त्वत्रय का साधारण धर्म है। कर्तृत्व जीव और ईश्वर का साधारण धर्म है। स्वाधीन कर्तृत्व ईश्वर का असाधारण धर्म है। पराधीन कर्तृत्व जीव का असाधारण धर्म है।

ज्ञाता तथा ज्ञानरूप आत्मा

नैयायिक आत्मा को ज्ञान का अधिकरण मानते हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं

मानते, वे ज्ञान को आगन्तुक धर्म तथा ज्ञातृत्व को स्वाभाविक मानते हैं। शांकरवेदान्ती आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, ज्ञान का अधिकरण नहीं मानते। वे ज्ञानस्वरूपता को स्वाभाविक एवं ज्ञातृत्व को कल्पित मानते हैं किन्तु बोधायनमतानुयायी विशिष्टाद्वैत वेदान्ती आत्मा को ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञान का अधिकरण दोनों ही मानते हैं क्योंकि श्रुतियाँ आत्मा का वैसा ही प्रतिपादन करती हैं- **यो विज्ञाने तिष्ठन्**(बृ.उ.3.7.26) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा की ज्ञानरूपता का प्रतिपादन करती हैं तथा-**विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्।**(बृ.उ.2.4.14, 4.5.15) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के ज्ञातृत्व का प्रतिपादन करती हैं। **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।**[1](प्र.उ.4.9) यह श्रुति आत्मा को ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञाता दोनों ही कहती है। इस श्रुति में बोद्धा पद से आत्मा को सामान्य रूप से ज्ञाता कहा जाता है और द्रष्टा आदि पदों से विशेषरूप से ज्ञाता कहा जाता है। विज्ञानात्मा पद से आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहा जाता है। 'मैं इसे सूँघूँ' ऐसा जो जानता है, वह आत्मा है-**अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा।**(छां.उ.8.12.4) इस श्रुति से भी अहमर्थ आत्मा ज्ञाता कहा जाता है। **जानात्येव** यह श्रुति मुक्त के ज्ञातृत्व का निरूपण करती है। ब्रह्मदर्शी सभी का अनुभव करता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छां.उ.7.26.2), जिस परमात्मा से अनुग्रहीत हुआ जीवात्मा सभी को जानता है-**येनेदं सर्वं विजानाति।** (बृ.उ.2.4.14) इस प्रकार मुक्त के सर्वविषयकज्ञातृत्व का प्रतिपादन किया जाता है। ब्रह्मदर्शी मृत्यु का अनुभव नहीं करता, रोग का अनुभव नहीं करता, प्रतिकूलता का अनुभव नहीं करता-**न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्।**(छां.उ.7.26.2) इस प्रकार कर्मजन्य जो मृत्यु आदि पदार्थ होते हैं, मुक्तावस्था में उनके प्रति आत्मा के ज्ञातृत्व का निषेध किया जाता है। सर्वथा आत्मा के ज्ञातृत्व का निषेध नहीं किया जाता अतः आत्मा सर्वदा ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप है। आत्मा में विद्यमान ज्ञातृत्व की

---

1. (द्रष्टा=रूप और रूपवान् पदार्थ के ज्ञान का आश्रय, स्प्रष्टा=स्पर्श और स्पर्शवान् पदार्थ के ज्ञान का आश्रय, श्रोता=शब्दज्ञान का आश्रय, घ्राता=गन्धज्ञान का आश्रय, रसयिता=रसज्ञान का आश्रय, मन्ता=मनन का आश्रय, बोद्धा=ज्ञान का आश्रय, कर्ता=प्रयत्न का आश्रय, विज्ञानात्मा= विज्ञानस्वरूप, पुरुषः=आत्मा)

सुषुप्ति आदि में अनुभूति न होना **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्** (ब्र.सू.2.3.31) इस सूत्र से सिद्ध है। स्वयंप्रकाश होने के कारण आत्मा ज्ञानस्वरूप कही जाती है तथा विषयप्रकाशक धर्मभूतज्ञान का आश्रय होने से ज्ञाता कही जाती है। प्रकाशित होने वाली वस्तु जिसके लिए प्रकाशित होती है, वह ज्ञाता होता है। ज्ञान से प्रकाशित होने वाले घट आदि पदार्थ आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं और अपने से प्रकाशित होने वाला ज्ञान भी आत्मा के लिये प्रकाशित होता है इसलिए आत्मा ज्ञाता कही जाती है। आत्मा की ज्ञानरूपता स्वाभाविक है। ज्ञातृत्व विकार(आगन्तुक धर्म) नहीं है क्योंकि ज्ञानगुणाश्रयत्व ही ज्ञातृत्व है। ज्ञान नित्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म है इसलिए आत्मा का ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व भी स्वाभाविक है।

शंका-सभी ज्ञान सविषयक होते हैं, विषयरहित कोई ज्ञान नहीं होता, ऐसा होने पर निर्विषयक आत्मस्वरूप को ज्ञान कैसे कह सकते हैं?

समाधान-आत्मा के स्वरूपभूतज्ञान का आत्मा विषय है। इस प्रकार आत्मस्वरूप को सविषयक होने से ज्ञान कह सकते हैं।

शंका-ज्ञान का स्वभिन्न विषय भी देखा जाता है। स्वरूपभूतज्ञान का स्वभिन्न विषय नहीं होता, ऐसी स्थिति में उसे ज्ञान कैसे कह सकते हैं?

समाधान-ज्ञान दो प्रकारका होता है-एक स्वभिन्न वस्तु को भी विषय करने वाला, दूसरा स्व को ही विषय करने वाला। इनमें से प्रथम धर्मभूतज्ञान है, दूसरा आत्मा का स्वरूपभूतज्ञान है। ज्ञान पद का प्रवृत्तिनिमित्त स्वयंप्रकाशत्व है। उसके धर्म और धर्मी आत्मा में विद्यमान होने से दोनों ही मुख्यवृत्ति से ज्ञान कहे जाते हैं।

ज्ञा धातु का अर्थ आत्मरूप ज्ञान नहीं है क्योंकि धातु का अर्थ क्रिया होता है। सभी के मत में क्रिया साध्य ही होती है, सिद्ध नहीं होती, आत्मरूप ज्ञान तो सिद्ध अर्थ है। भावप्रत्ययान्त ज्ञान शब्द आत्मा का बोधक नहीं है क्योंकि कृत् प्रत्यय के द्वारा कहा गया भाव द्रव्यवत् अर्थात् सिद्धावस्थापन्न क्रिया का बोधक होता है-**कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् भवति।**(महा.3.1.67) द्रव्य का बोधक नहीं होता। करणप्रत्ययान्त ज्ञान शब्द भी विषय को प्रकाशित करने वाले ज्ञान का बोधक है, आत्मा

2.5
का बोधक नहीं है। जन्य वृत्तिरूप प्रकाश का साधन धर्मभूतज्ञान है। आत्मा को प्रकाशित करने वाला जो स्वरूपभूतज्ञान है, वह जन्य नहीं है, नित्य है। व्युत्पन्न ज्ञान शब्द तथा संविद् आदि शब्द शक्तिवृत्ति से विषय(कर्म) और आश्रय(कर्ता) से सम्बद्ध धर्मभूतज्ञान के बोधक हैं तथा स्वयंप्रकाशत्व धर्म का योग होने के कारण लक्षणा(निरूढ लक्षणा) से धर्मी आत्मस्वरूप के बोधक हैं। लक्षणा से निर्वाह संभव होने पर अव्युत्पन्न ज्ञान शब्द की कल्पना नहीं करनी चाहिए, यह एक मत है। ज्ञा आदि धातुएँ सविषयक अर्थ का बोधक होने के कारण उससे निष्पन्न ज्ञान आदि शब्द धर्मी आत्मा के बोधक नहीं हैं किन्तु अव्युत्पन्न ज्ञान शब्द स्वप्रकाश धर्म और धर्मी दोनों का रूढिशक्ति से बोधक है, यह द्वितीय पक्ष है। कर्मकर्तृसम्बन्ध ज्ञानशब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त तथा स्वयंप्रकाशत्व प्रवृत्तिनिमित्त है। इस प्रवृत्तिनिमित्त से विशिष्ट ज्ञान शब्द दोनों का शक्ति से बोधक है, यह तृतीय पक्ष है। इन तीनों में द्वितीय और तृतीय पक्ष सूत्रकार और भाष्यकार से समर्थित हैं।

शंका-आत्मा तथा उसके धर्म की ज्ञानरूपता समान होने पर उन दोनों में आश्रय-आश्रयीभाव कैसे संभव है?

समाधान-दोनों की ज्ञानरूपता समान होने पर भी आत्मा प्रत्यक्(स्वस्मै स्वयं भासमान) तथा धर्म पराक्(परस्मै स्वयं भासमान) है अतः किसी रूप से समानता होने पर भी उनमें आश्रय-आश्रयी भाव सम्भव होता है। किंचिद् समानता को भी आश्रय-आश्रयीभाव का विरोधी मानने पर प्रमेयत्वेन सब की समानता होने से द्रव्य और गुण में भी आश्रय-आश्रयीभाव सिद्ध नहीं होगा। नैयायिक अवयव और अवयवी दोनों के द्रव्य होने पर भी इनमें आश्रय-आश्रयी भाव मानते हैं। वैसे ही स्वरूप और धर्म दोनों के द्रव्य होने पर आश्रय-आश्रयी भाव संभव होता है।

शंका-जिस विशिष्टाद्वैत वेदान्ती के मत में आत्मा की तरह उसका धर्मभूतज्ञान भी नित्य है, उसके मत में विषयप्रकाशक, नित्य धर्मभूतज्ञान से ही सभी व्यवहारों का निर्वाह हो जाता है इसलिए उस ज्ञान के आश्रय ज्ञाता आत्मा की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

समाधान-यदि हमारे मत में प्रत्यभिज्ञा की असिद्धि आदि दोषों के कारण

धर्मभूतज्ञान एवं उसके आश्रय आत्मा की कल्पना की जाती तो आपकी शंका का औचित्य होता। हम तो श्रुति के अनुसार पदार्थों को स्वीकार करने वाले हैं। **नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।**(बृ.उ.4.3.30) इस श्रुति में **विज्ञातुर्विज्ञातेः** इस अंश के द्वारा आत्मा का ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व कहा जाता है। **विज्ञातुः** यहाँ आयी हुई षष्ठी विभक्ति के द्वारा ज्ञान और ज्ञाता का भेद कहा जाता है और **विपरिलोपो न विद्यते** इस अंश के द्वारा धर्मभूतज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन किया जाता है। **अविनाशी वाऽरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा।**(बृ.उ.4.5.14) इस श्रुति के द्वारा आत्मा और उसके धर्मभूत ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार हम ज्ञान तथा उसके आश्रय आत्मा का नित्यत्व स्वीकार करते हैं। इसका विस्तार 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ में धर्मभूतज्ञान विवेचन के नित्यत्व प्रसंग में देखना चाहिए। श्रुतिप्रमाण के अनुसार पदार्थों को स्वीकार करने वाले सविशेषाद्वैत वेदान्तमत में लाघव-गौरव को लेकर भी कोई शंका नहीं की जा सकती।

शंका-आत्मा ज्ञानस्वरूप है-**विज्ञानात्मा पुरुषः**[1]।(प्र.उ.4.9) इस श्रुति में आत्मा को ज्ञानरूप कहे जाने के कारण ज्ञान से अतिरिक्त उसका आश्रय आत्मा सिद्ध नहीं होती।

समाधान-उक्त श्रुति में अन्य श्रुति से सिद्ध आत्मा के ज्ञातृत्व का निषेध नहीं किया जाता अपितु आत्मा को उद्देश्य करके श्रुत्यन्तर से सिद्ध ज्ञान गुण के समान आत्मा के ज्ञानत्व का विधान किया जाता है अर्थात् ज्ञाता आत्मा को ही इस श्रुति के द्वारा ज्ञानरूप कहा जाता है। विधान किया जाने वाला ज्ञानत्व धर्मभूतज्ञान के समान आत्मा का धर्म है, ज्ञान का आश्रय होने से आत्मा को ज्ञाता कहा जाता है और ज्ञानत्व गुण का आश्रय होने से ज्ञानरूप कहा जाता है। ज्ञानरूप आत्मा का प्रतिपादन करने वाली **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।**(प्र.उ.4.9) यह श्रुति स्पष्ट रूप से आत्मा को बोद्धा अर्थात् ज्ञाता कहती है। बोद्धा का अर्थ ज्ञानरूप करने पर पुनरुक्ति दोष होगा और 'अहं जानामि' इस अनुभव से भी विरोध होगा क्योंकि 'अहं जानामि' इस

1. विज्ञानात्मा= विज्ञानस्वरूपः, पुरुषः=आत्मा।

प्रकार होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान में अहमर्थ आत्मा की ज्ञानाश्रयत्वेन(ज्ञातृत्वेन) तथा धर्मभूतज्ञानभिन्नत्वेन प्रतीति होती है। यह विषय **व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति।**(ब्र.सू.2.3.27) इस सूत्र से प्रतिपादित है। धर्मभूतज्ञान आत्मा नहीं है, आत्मा के धर्मरूप से प्रतीयमान होने के कारण-**धी न आत्मा तद्धर्मतया प्रतीयमानत्वात्** इस अनुमान के द्वारा भी धर्मभूतज्ञान से भिन्न आत्मा सिद्ध होती है। जिस प्रकार 'सूर्य तेज है' इस कथन से सूर्य के आश्रित प्रभा सूर्य सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा है-**विज्ञानात्मा पुरुषः** इस कथन से ज्ञानस्वरूप आत्मा के आश्रित विषयप्रकाशक धर्मभूतज्ञान आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता। निवृत्त उपाधि वाले मुक्तात्मा का अपरिच्छिन्न ज्ञान आदित्य की प्रभा के समान सबको प्रकाशित करता है-**तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।**(गी.5.16) यहाँ तेषाम्(आत्मनाम्) ज्ञानम् इस प्रकार भेद निर्देश होने से ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म सिद्ध होता है और धर्मी आत्मा ज्ञाता सिद्ध होती है। अर्थप्रकाशकत्व को ज्ञानत्व कहा जाता है। वह धर्मभूतज्ञान और धर्मी आत्मा दोनों में विद्यमान रहता है। धर्मी आत्मा का स्वरूपभूतज्ञान आत्मस्वरूप का ही प्रकाशक है किन्तु धर्मभूतज्ञान घटादि विषयों का प्रकाशक होते हुए अपना भी प्रकाशक होता है। इस प्रकार दोनों ज्ञानों में भेद और धर्मभूतज्ञान का आश्रय आत्मा सिद्ध होती है।

शंका-विज्ञानघन एव।(बृ.उ.2.4.12)और **प्रज्ञानघन एव।**(बृ.उ.4.5.13) इन श्रुतियों में प्रयुक्त एव पद के द्वारा ज्ञानस्वरूप से अतिरिक्त सभी धर्मों का निषेध होने के कारण आत्मा के ज्ञातृत्व का भी निषेध हो जाता है।

समाधान-उक्त श्रुतियों में पठित एव पद के द्वारा ज्ञाता आत्मा में ज्ञानभिन्नत्वरूप जडत्व का सर्वथा निषेध किया जाता है, ज्ञातृत्व का निषेध नहीं किया जाता। यहाँ एवकार अयोग(ज्ञानत्व के अयोगरूप जड़त्व का) व्यवच्छेदक है, ज्ञातृत्व का निषेधरूप अन्ययोगव्यवच्छेदक नहीं है। इस प्रकार एवकार के द्वारा आत्मा का ज्ञातृत्व स्वीकार करके उसका ज्ञानभिन्नत्वरूप जडत्व स्वीकार करने वाले नैयायिक आदि के मत की व्यावृत्ति की जाती है। एवकार जडत्व का निषेधक होने से आत्मा की सर्वदा और सर्वथा प्रकाशरूपता ज्ञात होती है इसलिए आत्मा सुषुप्ति

में भी प्रकाशमान सिद्ध होती है। सुषुप्ति आदि में आत्मा का अनभिव्यक्त ज्ञातृत्व **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्**(ब्र.सू.2.3.31) इस सूत्र से सिद्ध है। पूर्वोक्त श्रुति **अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव।**(बृ..उ.4.5.13) में आये अनन्तरः और अबाह्यः पद क्रमशः आत्मा के धर्म(प्रत्यक्त्व आदि) और स्वरूप के बोधक हैं। इस प्रकार आत्मा स्वरूपतः तथा धर्मतः ज्ञानस्वरूप सिद्ध होती है। **अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।**(बृ.उ.4.3.9) आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व की बोधक यह श्रुति पुरुष अर्थात् ज्ञाता आत्मा की स्वयंप्रकाशता का बोध कराती है, ज्ञानमात्र की स्वयंप्रकाशता का बोध नहीं कराती। पुरुष शब्द ज्ञानमात्र का बोधक नहीं है क्योंकि लोक में भी ज्ञाता के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग होता है और **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।**(प्र.उ.4.9), इस श्रुति में ज्ञाता के लिए ही पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है।

आत्मा विज्ञानघन होने पर भी उसमें श्रुत्यन्तर से सिद्ध ज्ञातृत्व आदि धर्मों के होने में कोई विरोध नहीं है। जैसे सैन्धवघन(नमक का टुकड़ा) रसना इन्द्रिय से ज्ञात रसघन होने पर भी उसमें चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञात रूप तथा कठोरता आदि के होने में कोई विरोध नहीं है। रस वाले आम्र आदि फलों में त्वक्(छिलका) आदि स्थानभेद से रसभेद होता है किन्तु जैसे सैन्धवघन सर्वत्र एकरस ही है, वैसे आत्मा सर्वत्र विज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानमात्र को आत्मा स्वीकार करने पर उसका श्रोता भी दुर्लभ होगा क्योंकि ज्ञानमात्र को श्रोता कोई भी नहीं मानता। अहंकार को श्रोता मानने पर मोक्ष में उसका नाश होने के कारण स्वनाशक श्रवण आदि में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। इस विवरण से स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानमात्र नहीं है, अपितु ज्ञाता भी है।

विज्ञानमय की महिमा

देवता आत्मस्वरूप की उपासना करते हैं, यह छान्दोग्योपनिषत् (8. 7.1)की प्रजापतिविद्या से ज्ञात होता है। वह प्रजापति के द्वारा उपदिष्ट होने से प्रजापतिविद्या कहलाती है। वह प्रत्यगात्मविद्या है, परमात्मविद्या नहीं। ब्रह्म शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त स्वरूपतः और गुणतः निरतिशय

बृहत्त्व है। वह सर्वोत्कृष्ट परमात्मा में विद्यमान है अतः वह ब्रह्म कहलाता है। उसका एकदेश गुणतः बृहत्त्व जीवात्मा में होने से उसे भी ब्रह्म कहा जाता है तथा घटादि कार्यों की अपेक्षा बृहत्त्व प्रधान में भी रहता है। आपेक्षिक बृहत्त्व का आश्रय होने से प्रस्तुत श्रुति **विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते** इस प्रकार प्रधान को उपचार से ब्रह्म कहती है। **मम योनिर्महद् ब्रह्म।**(गी.14.3) इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्रधान के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रधान जड है, पराक् है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, प्रत्यक् है। देवता प्रधान से श्रेष्ठ प्रत्यगात्मा की प्रजापति विद्या में प्रोक्त रीति से उपासना करते हैं। इस प्रसङ्ग में श्रीरङ्गरामानुजमुनि ऐसा ही मानते हैं किन्तु श्रीरामानन्दाचार्य **'देवाः**- सात्त्विकजनाः **विज्ञानम्**- जीवं **ज्येष्ठम्**-सर्वतः उत्कृष्टम् ब्रह्म इति **उपासते** ब्रह्मदृष्ट्या समुपास्ते' इस प्रकार जीवात्मा में ब्रह्मदृष्टि का विधान मानते हैं।

यदि कोई उपासक जीवात्मरूप ब्रह्म की उपासना करता है और उससे किसी भी परिस्थिति में प्रमाद नहीं करता तो इसी शरीर के विद्यमान रहते सभी पापों को छोड़कर अभीष्ट को प्राप्त करता है। अभी मनोमय के अन्तरात्मा विज्ञानमय का निरूपण चल रहा है, आनन्दमय का नहीं अतः अभी उसी में ब्रह्मबुद्धि दृढ हुई है इसलिए इसे विज्ञानमयात्मक ब्रह्म की ही उपासना मानना उचित है, जीवात्मा गुणतः बृहत्त्व का आश्रय है इसलिए श्रुति **विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद** इस प्रकार उसे ही ब्रह्म कह रही है, इस कारण ही श्रीरङ्गरामानुजमुनि **जीवरूपं ब्रह्म वेद** ऐसा कहते हैं। आत्मा की उपासना करने वाला आत्मावलोकन के विरोधी सभी पापों को छोड़कर आत्मा का अनुभव करता है। आत्मसाक्षात्कार की कामना करने वाले का सर्वस्व आत्मा ही है, इस प्रकार बहुवचन की संगति जाननी चाहिए। श्रीसुदर्शनसूरि **आत्मेति तूपगच्छन्ति...।**(ब्र.सू.4.1.3))इस सूत्र की व्याख्या में अन्न और प्राण के समान यहाँ भी दृष्टिविधि स्वीकार करते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि यह उपासक जीव से भिन्न ब्रह्म को नहीं समझता अपितु जीव को ही ब्रह्म समझकर उपासना करता है अतः यह उपासना दृष्टिरूप है। श्रीकूरनारायणमुनि का भी यही अभिप्राय है किन्तु वे ब्रह्मात्मक आत्मा की भी उपासना

स्वीकार करते हैं। जीवन में कभी भी प्रमाद न करके जीवात्मा में ब्रह्मदृष्टि करने वाला व्यक्ति इस शरीर के रहते ही ऐहिक ऐश्वर्य के विरोधी सभी पापों को छोड़कर अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त कर उनको भोगता है। यदि मुमुक्षु आत्मोपासना के अनन्तर ब्रह्मोपासना करता है तो सम्पूर्ण पापों को छोड़ कर ब्रह्म के सभी कल्याण गुणों का अनुभव करता है, यह अर्थ भी यहाँ संभावित है। जो पूर्वोक्त अन्नमयादि तीनों का आत्मा है, वही विज्ञानमय का भी आत्मा है।

विज्ञानमय का आत्मा कौन है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है-

तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥2॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः॥

अन्वय

तस्मात् एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्यः वै अन्तरः आनन्दमयः आत्मा। तेन एषः पूर्णः। सः एषः वै पुरुषविधः एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः। तस्य प्रियम् एव शिरः। मोदः दक्षिणः पक्षः। प्रमोदः उत्तरः पक्षः। आनन्दः आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तत् एषः श्लोकः अपि भवति।

अर्थ

तस्मात्-पूर्वोक्त **एतस्मात्**-इस **विज्ञानमयात्**-विज्ञानमय आत्मा से **अन्यः**-भिन्न **वै**-ही (उसके) **अन्तरः**-अन्दर रहने वाला **आनन्दमयः**-आनन्दमय **आत्मा**-आत्मा है। **तेन**-आनन्दमय आत्मा से **एषः**-विज्ञानमय **पूर्णः**-व्याप्त है। **सः**-वह **एषः**-यह आनन्दमय **वै**-निश्चितरूप से **पुरुषविधः**-पुरुष(अन्नमय) के आकार का **एव**-ही है। **तस्य**-विज्ञानमय के **पुरुषविधताम्**-पुरुष के(समान) आकार का **अनु**-अनुसरण करके **अयम्**-आनन्दमय आत्मा(भी) **पुरुषविधः**-पुरुष के आकार का है। **तस्य**- आनन्दमय आत्मा का **प्रियम्**-प्रिय **एव**-ही (पक्षी का) **शिरः**-शिर है। **मोदः**-मोद **दक्षिणः**-दाहिना **पक्षः**-पंख है। **प्रमोदः**-प्रमोद **उत्तरः**-बायाँ

पक्षः-पंख है। **आनन्दः**-आनन्द **आत्मा**-शरीर का मध्य भाग है। **ब्रह्म**-ब्रह्म **पुच्छम्**-पूँछ के समान **प्रतिष्ठा**-आधार है इसलिए पूँछ है। **तत्**-आनन्दमय के विषय में **एषः**-यह **श्लोकः**-मन्त्रात्मक श्लोक **अपि**-भी **भवति**-प्रवृत्त होता है।

व्याख्या

आनन्दमय-विज्ञानमय आत्मा का आत्मा उससे भिन्न है और उसके ही भीतर रहने वाला है। वह कौन है? आनन्दमय परमात्मा। जो विज्ञानमय आत्मा में रहता हुआ आत्मा के अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है और जो अन्दर रहकर आत्मा का नियमन करता है, वही तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा है-**यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तरो यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानं शरीरं य विज्ञानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.3.7.26)परमात्मा सभी आत्माओं के अन्दर प्रविष्ट होकर उन पर शासन करने वाला है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.ब्रा.3.11.3) इत्यादि श्रुतियाँ भी विज्ञानमय आत्मा में परमात्मा की विद्यमानता का प्रतिपादन करती हैं।

जैसे विज्ञानस्वरूप जीवात्मा विज्ञान की प्रचुरता वाला होने से विज्ञानमय कहलाता है, वैसे ही आनन्दस्वरूप ब्रह्म भी आनन्द की प्रचुरता वाला होने से आनन्दमय कहलाता है।

विज्ञानमय के भीतर रहने वाला आनन्दमय ब्रह्म उसे व्याप्त करके रहता है। इस जगत् में जो कुछ वस्तु दिखाई देती है या सुनायी देती है, उस सभी को अन्दर और बाहर से व्याप्त कर नारायण स्थित है-**यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥**(तै.ना.उ.94) यह अन्नरसमय पुरुष में और उसके भीतर विद्यमान उसके ही आकार के वर्णित प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय में रहने से पुरुष के आकार का कहा जाता है। पुरुष की आकृति के निमित्त इसके शिर आदि अवयव भी कहे जाते हैं। प्रिय उसका शिर है। मोद दाहिना पंख है। प्रमोद बायाँ पंख है। आनन्द शरीर का मध्य भाग है। ब्रह्म पूँछ के समान आधार है इसलिए पूँछ है। इष्ट वस्तु के दर्शन से होने वाला सुख प्रिय कहलाता है। उस वस्तु की प्राप्ति

से होने वाला सुख मोद कहलाता है। प्राप्त वस्तु के उपभोग से होने वाला सुख प्रमोद कहलाता है। अतिशय सुख आनन्द कहलाता है-**इष्टवस्तुदर्शनजन्यं सुखं प्रियम्। तल्लाभजन्यं सुखं मोदः। लब्धस्योपयोगजन्यं सुखं प्रमोदः। सुखातिशय आनन्दः।**(रं.भा.) प्रियादि सभी आनन्दमय परमात्मा के अवयव कहे गये हैं अतः उक्त लक्षणों को इस प्रकार जानना चाहिए कि परमात्मा के लिए अनिष्ट कुछ भी नहीं है, सभी पदार्थ उनके इष्ट हैं। 'परमात्मा का इष्ट विभूतिद्वय के दर्शन से जन्य सुख प्रिय कहलाता है-**परमात्मगतं विभूतिद्वयसाक्षात्कारजन्यं सुखं प्रियम्।**(भा.प.)। जीव को किसी वस्तु के दर्शन से दुःख भी होता है, इसका कारण पाप कर्म है किन्तु परमात्मा का कोई कर्म नहीं है अतः उसे दर्शन से दुःख नहीं होता अपितु सुख होता है, उसे ही प्रिय कहते हैं। उसका यह दर्शन सभी वस्तुओं को विषय करने वाला है। उससे जन्य सुख ही उसका शिर है। भगवान् को सभी वस्तुएँ प्राप्त ही हैं अतः प्राप्तिजन्य सुख भी उसका है, वही मोद कहलाता है। वे कर्मफल प्रदान करने और पुरुषार्थ कराने के लिए सबका उपयोग करते रहते हैं, इसलिए उपयोगजन्य सुख भी उनका है ही, उसे प्रमोद कहते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि रङ्गरामानुजमुनि के अनुसार आनन्दमय ब्रह्म के शिर, दक्षिण पक्ष और उत्तरपक्ष रूप से वर्णित प्रिय, मोद और प्रमोद ये उसके धर्मभूतज्ञान के परिणाम हैं। सुखातिशयरूप आनन्द उसका स्वरूप है और **ब्रह्म पुच्छम् प्रतिष्ठा** इस वाक्य में ब्रह्म[1] पद से ऊपर कहे गये सभी सुखों का आधार आनन्दरूप धर्मी को कहा गया है। ऐसा होने पर आत्मत्वेन(मध्यकायत्वेन) निरूपित आनन्द से पुच्छत्वेन निरूपित ब्रह्म का अभेद होने के कारण एक वस्तु का एक रूप से ही निरूपण करना चाहिए किन्तु यहाँ दो रूपों से निरूपण किया गया है, वह कैसे संभव है? एक ही ब्रह्म ब्रह्मत्वेन पुच्छ है और आनन्दत्वेन मध्यकाय है, इस प्रकार एक ही ब्रह्म का द्विविध निरूपण संभव होता है। हेयप्रत्यनीक, कल्याणैकतान और परमानन्दरूप सुख से विशिष्ट स्वस्वरूप का अनुभव आनन्द कहलाता है-**आनन्दः हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानमहानन्द-**

---

1. ब्रह्म पुच्छमित्यत्र ब्रह्म च उक्तसर्वसुखाधारभूतमानन्दरूपं धर्मी। (भा.प.)।

सुखविशिष्टस्वस्वरूपानुभवः।(भा.प.) परमात्मस्वरूप हेयप्रत्यनीक[1] है, कल्याणैकतान[2] है तथा परमानन्दरूप सुख से विशिष्ट है, उस स्वस्वरूप का अनुभव आनन्द कहलाता है। इस प्रकार उत्तमूर वीरराघवाचार्य आनन्द को धर्मभूतज्ञान का परिणाम मानते हैं। इस पक्ष में उक्त शंका का अवकाश नहीं रहता तथापि आनन्द पद से विवक्षित आनन्दरूप ब्रह्मस्वरूप का अनुभव जैसे धर्मभूतज्ञान का परिणाम है, वैसे ही उसका स्वप्रकाशरूप होना भी संभव है, तब उक्त शंका को अवकाश मिल जाता है और पूर्वोक्त स्वरूपभूत 'सुखातिशयरूप आनन्द' यह कथन भी संभव होता है। यदि आनन्द पद को धर्मी का बोधक माना जाये तो भी निरतिशय सुखरूप होने से सुखातिशय आनन्द यह कथन संभव होता है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखने योग्य है कि धर्मीरूप से ब्रह्म पुच्छ है और शिर, पक्षादि से विशिष्टरूप से ब्रह्म आनन्दमय है।

आनन्दस्वरूप ब्रह्म का आनन्द की प्रचुरतारूप आनन्दमयत्व कैसे हो सकता है? आनन्दस्वरूप ब्रह्म का ही प्रिय, मोद, प्रमोद शब्दों के वाच्य तथा शिरपक्षादिरूप से निरूपित धर्मभूतज्ञान की प्रचुरता होने से आनन्दमयत्व भी संभव होता है। पूर्वोक्त अन्नमयादि चारों पर्यायों में **ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा** इस प्रकार ब्रह्म के अवयवत्व का निरूपण न होने से और आनन्दमय में निरूपण होने से यह ज्ञात होता है कि आनन्दमय ब्रह्म है इसलिए **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**।(तै.उ.2.1.1) इस प्रकार आरम्भ किया गया ब्रह्मोपदेश आनन्दमय पर्याय में समाप्त होता है इसलिए स्थूलारुन्धती न्याय से आनन्दमय ब्रह्म का ही अन्तरात्मत्व इस प्रसंग में उपदिश्यमान है और यह ही **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** यहाँ परम शब्द का वाच्य है, ऐसा समझना चाहिए।

आनन्द का आश्रय तथा आनन्दरूप ब्रह्म

ब्रह्म ज्ञानरूप है, अनुकूलत्वेन प्रतीत होने वाला ज्ञान ही आनन्द कहा जाता है। परमात्मस्वरूप कभी भी प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता, सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है, इसलिए परमात्मस्वरूप को आनन्दरूप कहा जाता है। परमात्मस्वरूप प्रकाशित होते समय उसकी आनन्दरूपता भी

1.व 2. इन विषयों को विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में और तत्त्वत्रयम् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या में देखना चाहिए।

सदा प्रकाशित होती है। ब्रह्म आनन्दस्वरूप है-**आनन्दो ब्रह्म।**(तै.उ.3.6), आनन्दरूप विज्ञान ब्रह्म है-**विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म।**(बृ.उ.3.9.28), विज्ञान शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त स्वयंप्रकाशत्व तथा आनन्दशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अनुकूलत्व है। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त का भेद होने से श्रुति में दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग किया गया है। ज्ञानरूप परमात्मा के आश्रित जो धर्मभूत ज्ञान रहता है, वह भी सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है इसलिए आनन्द कहा जाता है। ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कभी भय को प्राप्त नहीं होता-**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।**(तै.उ.2.9.1), वह एक ब्रह्म का आनन्द है-**स एको ब्रह्मणः आनन्दः।**(तै.उ.2.8.4) इन श्रुतियों में ब्रह्म का आनन्द गुण कहा गया है। परमात्मा का प्रधान गुण आनन्द है इसलिए **तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्**(ब्र.सू.2.3.29) इस न्याय से उसे आनन्द कहा जाता है तथा अनुकूलत्वेन अनुभूत होने के कारण भी आनन्द कहा जाता है। इस प्रकार परमात्मा आनन्दस्वरूप तथा आनन्दगुण वाला सिद्ध होता है। परमात्मस्वरूप कभी भी किसी को प्रतिकूलरूप से ज्ञात नहीं होता है। यदि कहना चाहें कि पापियों को प्रतिकूलरूप से ज्ञात होता है तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि पापकर्म तथा उसके कार्य क्रोधादि विकारों के रहते परमात्मा ज्ञात होता ही नहीं है, वह तो निर्मल मन से ही ज्ञात होता है।

अब आनन्दमय के विषय में श्लोक प्रस्तुत किया जाता है-

षष्ठोऽनुवाकः

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति॥

अन्वय

ब्रह्म असत् इति चेत् वेद। सः असन् एव भवति। ब्रह्म अस्ति इति चेत् वेद। ततः एनं सन्तं विदुः इति।

अर्थ

ब्रह्म-आनन्दमय ब्रह्म **असत्**-नहीं है, **इति**-इस प्रकार **चेत्**-यदि (कोई) **वेद्**-जानता है (तो) **सः**-वह **असन्**-असाधु **एव**-ही **भवति**-हो

जाता है। आनन्दमय **ब्रह्म**-ब्रह्म **अस्ति**-है, **इति**-इस प्रकार **चेत्**-यदि (कोई) **वेद**-जानता है (तो) **ततः**-जानने के कारण (ज्ञानी पुरुष) **एनम्**- इसे (जानने वाले को) **सन्तम्**-सत्पुरुष **विदुः**-समझते हैं।

व्याख्या

पूर्वोक्त अन्नमयादि चारों पर्यायों[1] में कहे गये श्लोक पुच्छ वाले अन्नमयादि से सम्बन्ध रखने वाले हैं, इसलिये प्रस्तुत श्लोक भी पुच्छ वाले आनन्दमय ब्रह्म से ही सम्बन्ध रखने वाला है, **ब्रह्म पुच्छम्** इस प्रकार निर्दिष्ट उसका एक भाग केवल धर्मी ब्रह्मस्वरूप से सम्बन्ध रखने वाला नहीं, इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत श्लोक में ब्रह्म शब्द से आनन्दमय ही कहा जाता है।

आनन्दमय की महिमा

सत् का विद्यमान अर्थ होता है और असत् का अविद्यमान। पूर्व में आनन्दमय ब्रह्म का निरूपण किया जा चुका है। वह नित्य होने से सत् ही है, असत् नहीं, फिर भी यदि कोई पापी मनुष्य भ्रमवशात् उसे असत् समझता है तो वह असत् ही हो जाता है। समझने वाला विज्ञानमय जीवात्मा होता है, वह भी नित्य होने से सत् ही है, असत् नहीं अतः वह असत् हो जाता है, इसका अर्थ है कि वह असाधु अर्थात् अपना अधोपतन करने वाला हो जाता है। जो ब्रह्म के अस्तित्व को ही नहीं मानता, उसका भला कैसे हो सकता है? वह कूकर, सूकर आदि योनियों में और इससे भी कष्टदायक भयंकर नरकों में परिभ्रमण करता रहता है। सर्वान्तरात्मा आनन्दमय परमात्मा को जानने वाले की इतनी महिमा है कि जानने के कारण ही ज्ञानी महापुरुष उसे सत्पुरुष मानते हैं क्योंकि वह आनन्दमय की दर्शनसमानाकार उपासना करके संसारचक्र से मुक्त हो जाता है। इस प्रसंग से यह विदित होता है कि ब्रह्म को सत्त्वेन(अस्तित्वेन) जानना चाहिए। इस विषय को कठश्रुति इस प्रकार कहती है कि परमात्मा है, इस प्रकार ही उसे शास्त्र से जानना चाहिए और इसके पश्चात् मन से जानना चाहिए। दोनों साधनों से परमात्मा है, इस प्रकार जानने वाले

---

1. समानार्थक शब्द को पर्याय कहते हैं। पूर्व में अन्नमयादि को ब्रह्म कहा गया है इस दृष्टि से समानार्थक होने से ये पर्याय कहे जाते है।

का ही मन परम शान्ति को प्राप्त होता है-**अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः। अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।**(क.उ.2.3.13)।

इस मन्त्र के सन्दर्भ में श्रीरङ्गरामानुजमुनि ने कहा है कि आनन्दमय के सत्त्वज्ञान से मोक्ष और असत्त्वज्ञान से बन्धन होता है- **आनन्दमय-सदसत्त्वज्ञानात् मोक्षसंसारौ भवत इत्यर्थः।**(रं.भा.)। उनकी भावप्रकाशिकाव्याख्या(1.1.1) में प्रदर्शित अर्थ इस प्रकार है-

ब्रह्म-आनन्दमय ब्रह्म को **वेद**-जानता है। **इति**-ऐसा **चेत्**-यदि **असत्**-नहीं है (अर्थात् ब्रह्म को नहीं जानता) तो **सः**-वह **असन्**-अधोगामी **एव**-ही **भवति**-हो जाता है। **ब्रह्म**-ब्रह्म को **वेद**-जानता है **इति**-ऐसा **चेत्**-यदि **अस्ति**-है, तो **ततः**-जानने के कारण (ज्ञानी महापुरुष) **एनम्**-इसे (जानने वाले को) **सन्तम्**-मोक्ष प्राप्त करने वाला **विदुः**[1]-मानते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा है कि **असन्नेव स भवति** यह श्रुति ब्रह्मविद्या के न होने से आत्मा की अधोगति और उसके होने से मोक्षप्राप्ति को कहती है-**असन्नेव स भवति...इति ब्रह्मविषयज्ञानासद्भावसद्भावाभ्याम् आत्मनाशम् आत्मसत्ताञ्च वदति।**(श्रीभा.1.1.1)।

पूर्व में अन्नमय से लेकर विज्ञानमयपर्यन्त सभी पदार्थों के अन्तरात्मारूप से आनन्दमय का निर्देश किया गया। क्या इसका भी कोई आत्मा है? इस शंका के निराकरण के लिए श्रुति कहती है-

तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥

अन्वय

यः पूर्वस्य एषः एव तस्य शारीरः आत्मा।

अर्थ

यः-जो **पूर्वस्य**-पूर्व में प्रतिपादित विज्ञानमय का आत्मा है, **एषः**-

---

1. ब्रह्म वेद इति एतद् असत् चेत्, ब्रह्म न जानाति चेद् इत्यर्थः। ब्रह्म वेद इति एतद् अस्ति चेत्, ब्रह्म जानाति चेद् इत्यर्थः।(भा.प्र.1.1.1)।

यह **एव**-ही **तस्य**-आनन्दमय का **शारीरः**-शरीरसम्बन्धी **आत्मा**-आत्मा है।

व्याख्या

<u>आनन्दमय का अनन्यात्मकत्व</u>-**तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।**(तै.उ.2.2.2), **तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।**(तै.उ.2.3.2), **तस्माद् वा एतस्माद् मनोमयात्। अन्योऽन्तर विज्ञानमयः।**(तै.उ.2.4.2)**तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार पूर्व में अन्नमय से लेकर विज्ञानमय पर्यन्त सभी का आत्मा उनसे भिन्न और उनके अन्दर विद्यमान कहा था किन्तु विज्ञानमय का आत्मा आनन्दमय ही अपना(आनन्दमय का) आत्मा है अर्थात् वह अनन्यात्मक है, उससे भिन्न कोई उसका आत्मा नहीं।

शंका-इससे पूर्व **तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य** यह वाक्य तीन बार आ चुका है किन्तु वहाँ वह अनन्यात्मकत्व का प्रतिपादक नहीं है, तो यहाँ चौथी बार अनन्यात्मकत्व का प्रतिपादक कैसे हो सकता है?

समाधान-आनन्दमय का अन्य आत्मा संभव न होने से उक्त वाक्य को अनन्यात्मकत्व का प्रतिपादक माना जाता है। पूर्व में **तस्माद् वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्मा** इस प्रकार तीन बार निर्देश होने से अन्नमय का उससे भिन्न प्राणमय आत्मा, प्राणमय का उससे भिन्न मनोमय आत्मा, मनोमय का उससे भिन्न विज्ञानमय आत्मा और विज्ञानमय का उससे भिन्न आनन्दमय आत्मा ज्ञात होता है किन्तु आनन्दमय के प्रसंग में **तस्माद् वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्मा** ऐसा निर्देश न होने से यह ज्ञात होता है कि आनन्दमय का उससे भिन्न कोई आत्मा नहीं हैं अतः प्रस्तुत **तस्यैष एव शारीर आत्मा** इस वाक्य को आनन्दमय के अनन्यात्मकत्व का ही प्रतिपादक माना जाता है, इससे स्पष्ट है कि आनन्दमय ही सभी का आत्मा ब्रह्म है इसलिए प्रस्तुत उपनिषत् में प्रतिपादित आनन्दमय को ब्रह्म स्वीकार न करने वाला मत श्रुतिविरुद्ध है।

*आनन्दमय ब्रह्म के प्रतिपादन के पश्चात् **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।** (तै. उ.2.1.1) इस प्रकार उपक्रम में कही प्राप्ति का विस्तार से वर्णन करने*

के लिये प्रश्न उपस्थित किये जाते हैं-

अथातोऽनुप्रश्नाः। उता[1] विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती 3। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित् समश्नुता 3 उ[2]॥1॥

अन्वय

अथ अतः अनुप्रश्नाः। कश्चन विद्वान् प्रेत्य अमुं लोकं गच्छती उता। कश्चित् विद्वान् प्रेत्य अमुं लोकं समश्नुते, आहो उ।

अर्थ

अथ-आनन्दमय ब्रह्म के निरूपण के पश्चात् **अतः**-पूर्वनिरूपित विषय जिज्ञास्य होने के कारण **अनुप्रश्नाः**-प्रश्न किये जाते हैं। क्या **कश्चन**-कोई (हृदयादि स्थानों में स्थित अनवच्छिन्न ब्रह्म का) **विद्वान्**-उपासक **प्रेत्य**-मरकर (यहाँ से) **अमुम्**-परम व्योम शब्द से कहे गये **लोकम्**-लोक को **गच्छती**-जाता है? **उता**-अथवा लोकान्तर में गये विना यहीं ब्रह्म को प्राप्त करता है? क्या **कश्चित्**-कोई **विद्वान्**-विद्वान् (अहंग्रह से उपासना करने पर भी) **प्रेत्य**-मरकर (यहाँ से) **अमुम्**-परम व्योम शब्द से कहे गये **लोकम्**-लोक में (जाकर) ब्रह्म का **समश्नुते**-अनुभव करता है? **आहो उ**-अथवा ब्रह्मस्वरूप से एकता को प्राप्त करता है?

व्याख्या

प्रस्तुत ब्रह्मानन्दवल्ली के उपक्रम में **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**।(तै.उ.2.1.1) इस वाक्य से ब्रह्मप्राप्ति और **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**।(तै.उ.2.1.1) इस वाक्य से गुणों के सहित ब्रह्म के अनुभव का निरूपण किया गया था, अब उन्हीं विषयों में प्रस्तुत व्याख्येय

---

1. 'उत विद्वान्' इति पदम्। निपातस्य च(अ.सू.6.3.136) इति छान्दसो दीर्घः, अथासपत्नान् इतिवत्। अविद्वान् इति पदे सति ह्याद्युदात्तत्वं स्यात्, तत्पुरुषे तुल्यार्थ(अ.सू.6.2.2) इति स्मरणात्। अन्तोदात्तञ्चेदं पदम्, तस्माद् विद्वान् इति पदम्।(श्रु.प्र.1.1.32), उता विद्वान् इति छेदः।(रं.भा.)।
2. उ शब्दः वितर्कार्थकः।(आ.भा.), समश्नुता उ इत्यत्र समश्नुते उ इति स्थिते अयादेशे यलोपे च कृते अकारस्य प्लुतिः समश्नुता 3 उ इति। (म.प्र.), समश्नुता इति भोक्तृत्वं विवक्षितम्।(श्रु.प्र.)।

मन्त्र के द्वारा विविध प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं[1]। **तदक्षरे परमे व्योमन्**(तै. ना.उ.2) इत्यादि श्रुतियाँ अप्राकृत लोक का वर्णन करती हैं। व्यापक ब्रह्म सभी स्थानों में विद्यमान है, हृदय और आदित्यमण्डल में भी। शास्त्रों में ध्यान की सुविधा के लिये स्थानविशेष का भी निर्देश किया जाता है। **यो वेद निहितं गुहायाम्।**(तै.उ.2.) इस प्रकार हृदयगुहा में उपासना कही थी। सन्निहित हृदय स्थान में निरवच्छिन्न ब्रह्म की उपासना करने वाला क्या प्रकृतिमण्डल से पर त्रिपादविभूति में जाता है? यह एक प्रश्न है अथवा कहीं भी न जाकर यहीं पर ब्रह्म को प्राप्त करता है?, यह द्वितीय प्रश्न है, यह अर्थतः सिद्ध है। उपासक आत्मबुद्धि से ब्रह्म की उपासना करने पर भी क्या अप्राकृतलोक में जाकर ब्रह्म का अनुभव करता है? यह तृतीय प्रश्न है अथवा अनुभव न करके ब्रह्म से उसका स्वरूप ऐक्य होता है? यह चतुर्थ प्रश्न है, यह भी अर्थतः सिद्ध है, इन विषयों का श्रीसुदर्शनसूरि ने **उपासात्रैविध्यात्**(ब्र.सू.1.1.32) इस सूत्र के व्याख्यान में उल्लेख किया है।

उक्त प्रश्नों का उत्तर देने के लिए जगत्कारण होने के उपयोगी सर्वज्ञत्व, सत्यसंकल्पत्व आदि गुणों से विशिष्ट ब्रह्म के प्राप्यत्व आदि का बोध कराने के लिए कहते हैं–

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च। निलयनञ्चानिलयनञ्च। विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च। सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। तत् सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।।2।।

---

1. यद्यपि ' ज़ो हृदयगुहा में सन्निहित ब्रह्म की उपासना करता है, वह परम व्योम में सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ उसके सभी कल्याणगुणों का अनुभव करता है'-**यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.2.1.1) इस मन्त्रवर्ण से ही प्रश्नों का निराकरण हो जाता है तथापि मन्त्रवर्ण में कहे विषयों का दृढता से प्रतिपादन करने के लिए प्रश्न उपस्थित किये जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

अन्वय

सः अकामयत। बहु स्यां प्रजायेय इति। सः तपः अतप्यत। सः तपः तप्त्वा। यत् किं च इदम्। इदं सर्वम् असृजत। तत् सृष्ट्वा तत् एव अनुप्राविशत्। तत् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्। निरुक्तं च अनिरुक्तं च। निलयनं च अनिलयनं च। विज्ञानं च अविज्ञानं च। सत्यं सत्यं च अनृतं च अभवत्। यत् किम् च इदम्। तत् सत्यम् इति आचक्षते। तत् एषः श्लोकः अपि भवति।

अर्थ

सः-आनन्दमय परमात्मा ने **अकामयत**-संकल्प किया (कि मैं देव, मनुष्यादिरूप से) **बहु**-बहुत **स्याम्**-हो जाऊँ (और उसके लिये) **प्रजायेय**-आकाश, वायु आदि रूप से उत्पन्न होऊँ। **इति**-इस प्रकार **सः**-उसने (स्रष्टव्य पदार्थों का) **तपः**-पर्यालोचनपूर्वक संकल्परूप तप **अतप्यत**-किया। **सः**-उसने(स्रष्टव्य पदार्थों का) **तपः**-पर्यालोचनपूर्वक संकल्परूप तप **तप्त्वा**- करके **यत्**-जो **किम्**-कुछ **च**-भी **इदम्**-जडचेतनात्मक जगत् है, उसने **इदम्**-इस **सर्वम्**-सभी की **असृजत**-रचना की। वह **तत्**-उस जगत् की **सृष्ट्वा**-रचना करके **तत्**-उसमें **एव**-ही **अनुप्राविशत्**-अनुप्रवेश कर गया। **तत्**-जगत् में **अनुप्रविश्य**-अनुप्रवेश करके **सत्**-निर्विकार चेतन **च**-और **त्यत्**-विकारी अचेतनरूप **अभवत्**-हो गया। **निरुक्तम्**-जाति तथा गुणों का आश्रय अचेतन **च**-और **अनिरुक्तम्**-उनसे रहित चेतनरूप हो गया। **निलयनम्**-अचेतन का आश्रय चेतन **च**-और **अनिलयनम्**-आश्रित अचेतनरूप हो गया। **विज्ञानम्**-अजड चेतन **च**-और **अविज्ञानम्**-जड अचेतन हो गया। परमात्मा **सत्यम्**-निर्विकार रहते ही **सत्यम्**-सत्य चेतन **च**-और **अनृतम्**-अनृत अचेतनरूप **अभवत्**-हो गया। **यत्**-जो **किम्**-कुछ **च**-भी **इदम्**-चेतनाचेतनात्मक जगत् है, **तत्**-वह **सत्यम्**-सत्य(ब्रह्म) है, **इति**-ऐसा **आचक्षते**-कहा जाता है। **तत्**-ब्रह्म के बहुरूप होने के विषय में **एषः**-यह अग्रिम **श्लोकः**-श्लोक **अपि**-भी **भवति**-प्रवृत्त होता है।

व्याख्या

परमात्मा का संकल्प-अब पूर्व में प्रतिपादित आनन्दमय ब्रह्म के

जगत्कारणत्व का निरूपण किया जाता है-आनन्दमय ने संकल्प किया कि मैं देव, मनुष्यादि बहुत व्यष्टि रूपों वाला हो जाऊँ और इसके लिये आकाशादि समष्टि रूप से उत्पन्न होऊँ। सृष्टि के पूर्व काल में आकाशादि भूत और भौतिक प्रपंच नहीं थे, इस कारण देव, मनुष्यादि नाना रूप भी नहीं थे। उस काल में जगत् का सद्ब्रह्मरूप से रहने का **सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।**(छां.उ.6.2.1) यह छान्दोग्यश्रुति वर्णन करती है। हे सोम्य! **इदम्**-अभी नामरूपविभाग होने से बहुत्व अवस्था वाला यह जगत् **अग्रे**-सृष्टि के पूर्व **एकमेव**-नामरूपविभाग का अभाव होने से एकत्व अवस्था को ही प्राप्त **अद्वितीयम्**-निमित्तकारणान्तर से रहित और **सदेव**-सत् शब्द का वाच्य ब्रह्मरूप ही था।

सृष्टि के पूर्व नानात्व का अभाव होने पर भी वह निर्विशेष नहीं था क्योंकि प्रस्तुत तैत्तिरीयश्रुति उसके संकल्पकर्तृत्व तथा सृष्टिकर्तृत्व धर्मों का प्रतिपादन करती है। जगत् की रचना का संकल्प सर्वज्ञ ही कर सकता है, इससे उसका सर्वज्ञता गुण सिद्ध होता है और संकल्पमात्र के द्वारा सृष्टि करने से सर्वशक्तिमत्त्व गुण भी सिद्ध होता है। **यस्य ज्ञानमयं तपः।**(मु.उ.2.2.7) यह मुण्डकश्रुति परमात्मा के संकल्पात्मक ज्ञान को ही उसका तप कहती है। तैत्तिरीय मन्त्र में तप शब्द का अर्थ आलोचनपूर्वक संकल्प[1] है। परमात्मा ने उत्पाद्य वस्तु की आकृति आदि का विचार करके उसकी रचना का संकल्प किया। **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8) यह श्रुति परमात्मा की शक्ति और ज्ञान को स्वाभाविक कहती है।

सृष्टि

इस उपनिषत् में **तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः।**(तै.उ.2.1.2) इत्यादि मन्त्रों से सृष्टि प्रक्रिया कही गयी है। उसमें वर्णित पृथ्वी पर्यन्त भूतों की सृष्टि समष्टिसृष्टि है और इसके बाद भगवान् जीव के द्वारा भूतों में अनुप्रवेश करके नामरूप का विभाग करते हैं। यह नामरूप का विभाग पंचीकरण के अधीन है। भगवान् पंचीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड का निर्माण करके ब्रह्मा की उत्पत्तिपर्यन्त सृष्टि कार्य स्वयं करते

---

1. प्राचीनजगत्संस्थानपर्यालोचनपूर्वकसंकल्पः।(कू.भा.)।

हैं इसलिए इतनी सृष्टि अद्वारक(साक्षात्) सृष्टि कहलाती है। इसके पश्चात् ब्रह्मा द्वारा व्यष्टि सृष्टि करते हैं इसलिए परवर्ती सृष्टि सद्वारक सृष्टि कहलाती है। यह विषय **संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्**(ब्र.स.2.4.17) इस सूत्र के भाष्य में प्रतिपादित है।

आनन्दमय ब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं देव, मनुष्य, पशु पक्षी आदि व्यष्टिरूप से बहुत हो जाऊँ और इसके लिए आकाशादि समष्टिरूप से उत्पन्न होऊँ, ऐसा संकल्प उसने पूर्व कल्प के पदार्थों का विचार करके किया। इसके पश्चात् जो यह विविध विचित्र जडचेतनरूप जगत् है, उस की रचना की[1]। तैत्तिरीयश्रुति से स्पष्ट है कि परमात्मा ने पहले आकाशादि भूतों को उत्पन्न किया, जो कि **तस्माद् वा एतस्तमादात्मन आकाशः सम्भूतः**।(तै.उ.2.1.2) इस प्रकार पूर्व में वर्णित हैं। इसके पश्चात् छान्दोग्य[2] में उल्लिखित रीति से भूतों का पञ्चीकरण किया, उनसे ब्रह्माण्ड का निर्माण करके ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त विविध विवित्र स्थावर-जंगम सभी की सृष्टि करके उनमें अनुप्रवेश कर गया। जीव के द्वारा परमात्मा का प्रवेश अनुप्रवेश कहलाता है। अब प्रसंगानुसार इसी का विवेचन किया जाता है-

अनुप्रवेश और नामरूपव्याकरण

ब्रह्म सभी पदार्थों में अन्दर और बाहर से व्याप्त होकर रहता है-**अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**।(तै.ना.उ.94)। कोई वस्तु कभी भी ब्रह्म की व्याप्ति के विना नहीं रह सकती। उसके सभी में व्याप्त होकर रहने पर भी सृष्टिकाल के पूर्व पदार्थों के नामरूप का विभाग नहीं होता। परमात्मा का अनुप्रवेश होने पर ही विभाग होता है। इसके पश्चात् विभक्त नामरूप के सहित पदार्थों की प्रतीति होती है। इस प्रतीति को पुष्कल प्रतीति कहते हैं। जिस प्रकार गो के उदर में विद्यमान बछड़े में गोत्व जाति की स्थिति होती है, उसी प्रकार नामरूपविभाग के सहित प्रत्येक पदार्थ की प्रतीति का जनक सभी पदार्थों में ब्रह्म की जो स्थितिविशेष होती है, उसे अनुप्रवेश कहा जाता है-**गोजठरगतवत्से**

---

1. **धाता यथापूर्वमकल्पयत**।(ऋ.सं.8.8.48, तै.आ.10.1.14)।
2. छान्दोग्य में त्रिवृत्करण कहा गया है, जो कि पंचीकरण का उपलक्षण है।

गोत्वजातिवत्[1] सर्वव्याप्तस्य ब्रह्मणः प्रत्येकं सर्ववस्तुषु पुष्कलप्रतीत्यर्हस्थितिविशेष एवानुप्रवेशः।(र.भा.2.6.2) इस प्रकार नामरूपविभाग करने के संकल्प से विशिष्ट परमात्मा की स्थिति ही उसका अनुप्रवेश है।

देवताओं से अधिष्ठित इन तीनों भूतों में जीवशरीरक मैं अनुप्रवेश करके नामरूप का विभाग करूँ-**हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.6.3.2) यह श्रुति अनुप्रवेशपूर्वक नामरूपव्याकरण(सृष्टि) को कहती है तथा उस (जडचेतनात्मक जगत्) की रचना करके उसमें अनुप्रविष्ट हो गया-**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**(तै.उ.2.6.2) यह श्रुति नामरूपव्याकरणपूर्वक अनुप्रवेश को कहती है इसलिए यहाँ क्रम विवक्षित नहीं है बल्कि अनुप्रवेश और नामरूपव्याकरण का एक कर्ता विवक्षित है। परमात्मा जगत् में अनुप्रवेश करते हुए नामरूप का विभाग करता है-**तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति।**(वा.सं.31.21) यह श्रुति अनुप्रवेश और सृष्टि को समानकालिक कहती है। जैसे घटादि कार्यों में मृत्तिका की अनुवृत्ति और नामरूप का विभाग एक साथ होता है, वैसे ही जगत् में ब्रह्म का अनुप्रवेश और नामरूप का विभाग एक साथ होता है अतः अनुवृत्तरूप से प्रवेश अनुप्रवेश कहलाता है।

जैसे-लोक में पिता पुत्र का नाम रखता है, वैसे ही श्रीभगवान् सृष्टि कर के सभी पदार्थों के नाम रखते हैं, यही नामव्याकरण है। जैसे कुम्भकार मृत्तिका की घटत्व अवस्था कर देता है, वैसे श्रीभगवान् अपनी स्थूलावस्था कर देते हैं, इसे करना ही रूपव्याकरण है। रूप शब्द का अर्थ पदार्थ की आकृति या अवस्था होता है। **अनुप्रविश्य** यह ल्यप्प्रत्ययान्त शब्द अनुप्रवेश और व्याकरण कर्म के भेद का प्रतिपादन करता है। दोनों भिन्न होने पर भी एक काल में ही होते हैं। केवल अचेतन में परमात्मा का अनुप्रवेश होता हो, ऐसी बात नहीं, चेतन में भी उसका अनुप्रवेश होता है। यह जो कुछ जडचेतनात्मक जगत् है, उसकी रचना करके उसमें प्रवेश कर गया-**यदिदं किञ्च, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**(तै.उ.2.6.2) यह श्रुति अचेतन के समान चेतन में भी परमात्मा का अनुप्रवेश कहती है।

1- 'गोत्वादिवत्' इति पाठान्तरः।

अनेन जीवेनात्मना यहाँ पर आत्मशब्द को परमात्मा का बोधक मानने पर तीनों पदों की सार्थकता होती है। 'अनेन' इस प्रकार किया गया पराक्त्वेन निर्देश परमात्मा से जीव के भेद का प्रतिपादक है। जीव पद से परमात्मपर्यन्त अर्थ ग्रहण करना चाहिए, इस अभिप्राय का प्रतिपादक आत्म पद है। जीव भी आत्मा ही है, इसलिए जीवमात्र का अनुप्रवेश स्वीकार करने पर 'आत्मना' पद व्यर्थ होता है। जीव और परमात्मा की एकता मानकर केवल परमात्मा का अनुप्रवेश स्वीकार करने पर 'जीवेन' पद व्यर्थ होता है अतः जीव और परमात्मा का भेद होने पर ही सामानाधिकरण्य के बल से दोनों पदों का एक अर्थ स्वीकार करना चाहिए। जीव और परमात्मा दोनों का अनुप्रवेश होने से यह ज्ञात होता है कि नामरूप का सम्बन्ध अचेतन प्रकृति, चेतन जीव और परमात्मा इन तीनों में होता है।

शांकरमत में अनुप्रवेश श्रुति की असिद्धि

कुछ विद्वान् जीव को अनुप्रवेश का कर्ता तथा परमात्मा को नामरूपव्याकरण का कर्ता मानते हैं। वह उचित नहीं क्योंकि **तत् सृष्ट्वा** यहाँ पर **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले**(अ.सू.3.4.21) इस व्याकरणानुशासन से क्त्वा प्रत्यय के द्वारा नामरूपव्याकरण तथा अनुप्रवेश का एक ही कर्ता ज्ञात होता है। इसी प्रकार **अनुप्रविश्य** श्रुति में भी ल्यप् प्रत्यय के द्वारा दोनों का एक कर्ता ज्ञात होता है। यदि कोई कहना चाहे कि जीव और ईश्वर का वास्तविक अभेद होने से दोनों क्रियाओं का एक कर्ता संभव होता है तो यह भी उचित नहीं क्योंकि जिस प्रकार 'एक काल में भी घट और पट को बनाने वाले कुलाल और तन्तुवाय(जुलाहा) को एक कर्ता नहीं कहा जाता, उसी प्रकार यहाँ अनुप्रवेश और नामरूप व्याकरण करने वाले जीव और ईश्वर को एक कर्ता नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञतादि गुण वाले ईश्वर की उसके विपरीत गुण वाले जीव के साथ स्वरूपतः एकता नहीं हो सकती इसलिए जैसे 'सिंह होकर मैंने बहुतों को खाया', 'व्याघ्र होकर बहुतों को खाया'-सिंहेन भूत्वा बहवो मयात्तः, व्याघ्रेण भूत्वा बहवो मयात्तः। यहाँ पर सिंह और व्याघ्र का अर्थ है-सिंहशरीरक और व्याघ्रशरीरक। वैसे ही **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य** यहाँ जीवेन का अर्थ है-जीवशरीरक। इस प्रकार इस श्रुति से परमात्मा का

अनुप्रवेश सिद्ध होता है। वही नामरूपव्याकरण का भी कर्ता है। **यस्यात्मा शरीरम्।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) तथा **तदनुप्रविश्य**(तै.उ.2.6.2) इन श्रुतियों से अचेतन की तरह चेतन जीव में भी परमात्मा का अनुप्रवेश सुना जाता है। इस प्रकार जीव का भी शरीरी आत्मा परमात्मा सिद्ध होता है अतः शरीरवाचक शब्द मुख्यवृत्ति से शरीरी आत्मा का बोध कराते हैं, इसलिए यहाँ 'जीवेन' पद का मुख्यवृत्ति से ही जीवशरीरकेन अर्थ होता है।

शंका-अनुप्रवेश[1] भी एक प्रकार की गति ही है इसलिए अणु जीव का ही अनुप्रवेश संभव है, विभु परमात्मा का नहीं।

समाधान-जीव का गतिविशेषरूप अनुप्रवेश होने पर भी उसे परमात्मा के प्रयत्न से जन्य होने के कारण उसका कर्ता परमात्मा होता है। जिस प्रकार नैयायिक मत में जीवात्मा विभु होने के कारण गमन क्रिया का आश्रय नहीं होता, गमनक्रिया शरीर में होने पर भी गमन क्रिया का जनक प्रयत्न जीवात्मा में होता है इसलिए जीवात्मा गमनक्रिया का कर्ता होता है, उसी प्रकार वेदान्तमत में परमात्मा विभु होने के कारण अनुप्रवेश क्रिया का आश्रय नहीं होता। अनुप्रवेश क्रिया परमात्मा के शरीरभूत जीवात्मा में होने पर भी अनुप्रवेश क्रिया का जनक प्रयत्न परमात्मा में होता है इसलिये परमात्मा अनुप्रवेश क्रिया का कर्ता होता है।

जिस प्रकार एक तैजस पदार्थ दूसरे तैजस पदार्थ के प्रवेश का अवरोधक नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप जीवात्मा ज्ञानस्वरूप परमात्मा के प्रवेश का अवरोधक नहीं होता। सावयव पदार्थ प्रवेश का अवरोधक हो सकता है किन्तु निरवयव जीवात्मा वैसा नहीं हो सकता। जब तैजस पदार्थ सावयव होने पर भी दूसरे के प्रवेश का अवरोधक नहीं है, तब निरवयव आत्मा प्रवेश का अवरोधक कैसे हो सकती है? अतः जीवात्मा में परमात्मा का स्वरूपतः अनुप्रवेश है। इस प्रकार परमात्मा अनुप्रवेश क्रिया का कर्ता होता है। व्यापक परमात्मा का उससे अपृथक्सिद्ध सभी वस्तुओं में सर्वदा स्वरूपतः प्रवेश होने पर भी नामरूपविभाग के पूर्व जीव के द्वारा प्रवेश न होने से अनुप्रवेश कथन सार्थक होता है। **आरम्भणाधिकरण**(ब्र.सू.2.1.6)के श्रीभाष्य में **अनेन जीवेन आत्मना**

1- अनुप्रवेशो हि अन्तस्संयोगावच्छिन्नक्रियारूपो गतिविशेषः।

का अर्थ मदात्मकजीवेनात्मतया किया गया है। यहाँ जीव का अर्थ जीव ही है। आत्मा का अर्थ शरीर है, आत्मतया यहाँ हेतु में तृतीया है। अत: इस वाक्य का यह अर्थ होता है- जीव को अपना शरीर बनाने के लिए मैं परमात्मा मदात्मक(ब्रह्मात्मक) जीव के द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँ। परमात्मा का अन्दर प्रवेश होने पर उसके द्वारा नियाम्य वस्तु ही उसका शरीर होती है। इससे परमात्मा का नियन्तारूप से प्रवेश सिद्ध होता है अथवा **जीवेन आत्मना** का अर्थ जीवात्मा के द्वारा करने पर उक्त वाक्य का अर्थ होता है-मदात्मक जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके। इन दोनों पक्षों में नामरूपव्याकरण अंश में परमात्मा का साक्षात् कर्तृत्व होता है तथा सर्वव्यापक परमात्मा का प्रवेश संभव न होने से प्रवेश में उसका साक्षात् कर्तृत्व नहीं होता किन्तु प्रयोजक कर्तृत्व होता है।

प्रश्न-शरीर की प्रकृति बीजादि में जीव का पहले से ही संश्लेष रहता है। बीजादि का शरीररूप में परिणाम होने पर वही जीव उससे संश्लिष्ट रहता है। इसी प्रकार बीजादि में परमात्मा का पहले से संश्लेष रहता है। बीजादि का शरीररूप में परिणाम होने पर भी वह भी उससे संश्लिष्ट रहता है अत: अचेतनशरीर में जीव का अनुप्रवेश तथा इन दोनों में परमात्मा के अनुप्रवेश का क्या अर्थ है?

उत्तर-बीजादि में जीव का सम्बन्ध होने पर भी उसका शरीराकार परिणाम पहले नहीं होता अत: पहले शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध भी नहीं रहता। बीजादि का शरीररूप परिणाम होने पर उसके साथ जीव का जो सम्बन्ध होता है, वही जीव का अनुप्रवेश है। इसी प्रकार अचेतन शरीर में तथा उससे युक्त जीव में जो परमात्मा का सम्बन्ध होता है, वही परमात्मा का अनुप्रवेश है। व्यष्टिसृष्टि के समान समष्टिसृष्टि में भी नामरूपव्याकरण होता है। उसने 'भू' ऐसा उच्चारण किया, भूलोक की रचना की-**स भूरिति व्याहरत्, भुवम् असृजत**।(तै.ब्रा.2.2.4)। जीव धर्मभूतज्ञान के द्वारा अपने शरीर का नियमन करता है। परमात्मा जब व्यष्टि सृष्टि में देवादिशरीर की रचना करता है, तब उस शरीर में जीव को धर्मभूतज्ञान के द्वारा व्याप्ति वाला कर देता है। इस प्रकार जीव अपने शरीर का नियमन करने के लिए धर्मभूतज्ञान के द्वारा व्याप्त होकर शरीर में रहता है और परमात्मा स्वयं अचेतन शरीर और चेतन जीव के नियमन

के लिए उपयोगी अपने धर्मभूतज्ञान का विलक्षण परिणाम कर लेता है। उक्त परिणाम से विशिष्ट जो धर्मभुतज्ञान उससे विशिष्ट जीव का सृष्टिकाल में अचेतन के साथ जो सम्बन्ध होता है, वही जीव का अनुप्रवेश है तथा परिणाम से विशिष्ट जो धर्मभूतज्ञान उससे विशिष्ट परमात्मा का सृष्टिकाल में अचेतन तथा जीव के साथ जो सम्बन्ध होता है, वही परमात्मा का अनुप्रवेश है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा जैसे आत्मा का साक्षात् नियन्ता होता है, वैसे ही उसके शरीर का भी साक्षात् नियन्ता होता है। **अनेन जीवेनात्मना** यहाँ पर जीवशरीरक अर्थ का बोधक जीव पद से यह सिद्ध होता है कि देवमनुष्यादि शब्द अचिद्विशिष्टजीवविशिष्ट परमात्मा के बोधक होते हैं। इसलिए चेतनाचेतन सभी का आत्मा ब्रह्म होने के कारण सब ब्रह्म के शरीर होते हैं, इसी अनुप्रवेश का बृहदारण्यक श्रुति वर्णन करती है कि परमात्मा इस शरीर में नख के अग्रभाग से लेकर शिर तक प्रविष्ट है-**स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः।**(बृ.उ.1.4.7)। परमात्मा का समष्टि सृष्टि में उन द्रव्यों के नियमन के लिए उपयोगी धर्मभूतज्ञान की व्याप्तिरूप अनुप्रवेश करना ही रूपव्याकरण है। रूप शब्द आकृति अर्थ में प्रसिद्ध है। अब इस विषय में सूक्ष्म विचार प्रस्तुत हैं- वस्तुतः नामरूप की उत्पत्ति के जनक व्यापार(कार्य) को नामरूपव्याकरण कहा जाता है-**व्याकरणं नामरूपनिष्पत्त्यनुकूलव्यापारः।** यह उपादान में होने वाली एक क्रिया है, इसी को सृष्टि कहा जाता है। इस नामरूपव्याकरण के उत्तरक्षण में नामरूप की उत्पत्ति(विभाग) होती है। तैत्तिरीय में वर्णित अनुप्रवेश नामरूपनिष्पत्ति के समानकाल में होता है अतः उसकी सृष्टि करके उसमें अनुप्रवेश कर गया-**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**(तै.उ.2.6.2) इस प्रकार नामरूपव्याकरण के पश्चात् नामरूपनिष्पत्ति के समकाल में अनुप्रवेश कथन सार्थक होता है। 'नामरूप की उत्पत्ति के पश्चात् अनुप्रवेश कर गया' यह उक्त श्रुति का अर्थ नहीं है। छान्दोग्य में 'अनुप्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँ'-**अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.6.3.2) इस प्रकार सृष्टि के पूर्व जो परमात्मा का अनुप्रवेश कहा गया है, वह उत्पन्न होने वाले शरीर की प्रकृति(उपादान) के साथ सम्बन्ध है। सूक्ष्मशरीरविशिष्ट जीव का सम्बन्ध ही जीव का

अनुप्रवेश है तथा सृष्टि का जनक सामर्थ्यविशिष्ट जो परमात्मा का सम्बन्ध है, वह परमात्मा का अनुप्रवेश है। सृष्टि के पूर्व में होने वाला अनुप्रवेश सृष्टि करने के लिए होता है। सृष्टि के पश्चात् होने वाला अनुप्रवेश स्थिति करने के लिए होता है[1]। मैं पृथ्वी में प्रवेश करके स्वसामर्थ्य से चराचर सभी प्राणियों को धारण करता हूँ-**गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहम् ओजसा।**(गी.15.13) इत्यादि प्रकार से धारण आदि कार्यों के लिए परमात्मा का अनुप्रवेश सुना जाता है। वह कार्योप-धायकत्वशक्तिविशिष्ट परमात्मसम्बन्धरूप होता है। शक्ति तथा विग्रहविशेष से विशिष्ट परमात्मा का सम्बन्धरूप अनुप्रवेश उपासना के लिए होता है। जैसे तेजश्शरीरक परमात्मा जल का संकल्प करता है, बाद में जल की उत्पत्ति होती है, वैसे ही वह व्यष्टिशरीर के प्रकृति(उपादान) द्रव्य में भी अनुप्रवेश करके नामरूप का व्याकरण करता है, बाद में व्यष्टिशरीर की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रकृतिद्रव्य में ही अनुप्रवेश का कथन शरीर में प्रथमक्षण से ही जीवविशिष्ट परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञापक होता है, इससे यह स्पष्ट है कि परमात्मपर्यन्त सभी नामरूप होते हैं। परमात्मपर्यन्त नामव्याकरण का अर्थ है-नाम का वाच्य अचिद्विशिष्टचिद्विशिष्ट परमात्मा का होना अर्थात् अचेतन शरीर, चेतन जीवात्मा और परमात्मा तीनों ही नाम के वाच्य होते हैं। नाम अचेतन शरीर को, उसके अन्दर विद्यमान आत्मा को और उसके अन्दर विद्यमान परमात्मा को भी कहता है, यह तात्पर्य है। परमात्मपर्यन्त रूपव्याकरण का अर्थ है-अचेतन रूप(देह) में जीवसहित परमात्मा के अनुप्रवेश से जीव के रूप को परमात्मा का रूप होना। जैसे परमात्मा का शरीर जीवात्मा होता है, वैसे ही अनुप्रवेश से जीवात्मा का शरीर भी परमात्मा का शरीर होता है, यह तात्पर्य है। सृष्टि के पूर्व यह जगत् नामरूपविभाग से रहित ही था। उसने अपने को ही नामरूप के द्वारा व्यक्त किया-**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।**(बृ. उ.1.4.7)। परमेश्वर संकल्प से बहुत शरीर वाला होता है-**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।**(बृ.उ.2.5.19।) धीरपुरुष अपने सभी स्थावर-जंगम रूपों

1. सृष्टि करने के लिए जीव के द्वारा परमात्मा की अचेतन में स्थितिविशेष छान्दोग्य में वर्णित अनुप्रवेश है और स्थिति करने के लिए उसी के द्वारा परमात्मा की अचेतन में स्थितिविशेष तैत्तिरीय में वर्णित अनुप्रवेश है।

की रचना करके उनका नामकरण करके प्रजापति आदि आधिकारिक पुरुषों के समक्ष वर्णन करता है-**सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते।**(तै.आ.3.12.16) इत्यादि श्रुतियों से सभी नामरूप परमात्मा के सिद्ध होते हैं।

सत् शब्द के वाच्य परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं अपने-अपने अभिमानी देवताओं से अधिष्ठित तेज, जल और पृथिवी इन तीन भूतों में मदात्मक जीव के द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूप का विभाग करूँ- **हन्ताहमिमाः तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।** (छां.उ.6.3.2) इस श्रुति में तीन भूतों का उल्लेख अन्य भूतों के उपलक्षण के लिए है। ब्रह्माण्डनिर्माण के पूर्व महदादि से लेकर पञ्चभूतपर्यन्त जो सृष्टि होती है, वह समष्टि सृष्टि कहलाती है। ब्रह्माण्डों में अनन्त भोग्य, भोगोपकरण एवं भोगस्थान की जो सृष्टि होती है तथा चौरासी लाख योनियों के अन्तर्गत जो विविध भोक्ता जीवों की सृष्टि होती है, वह व्यष्टि सृष्टि कहलाती है। इस व्यष्टि सृष्टि को ही प्रस्तुत श्रुति में नामरूपव्याकरण कहा जाता है। जैसे-लोक में पिता पुत्र का नाम रखता है, यह नामव्याकरण है तथा कुम्भकार मृत्तिका को घटरूप देता है अर्थात् मृत्तिका को घटाकार में परिणत करता है, यह रूपव्याकरण है। परमात्मा ने व्यष्टि सृष्टि करने के पूर्व जीवात्माओं के द्वारा प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरण का संकल्प क्यों किया? यह एक विचारणीय विषय है। पिता पुत्र के अन्दर प्रविष्ट होकर नामकरण नहीं करता, बाहर रहकर ही नामकरण करता है। कुम्भकार मृत्तिका के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे घटरूप में परिणत नहीं करता है, बाहर रहकर उसे घटरूप में परिणत करता है। क्या भगवान् पिता और कुम्भकार के समान बाहर रहकर नामरूप का विभाग नहीं कर सकते? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि परमात्मा सब कुछ कर सकते हैं तथापि समस्त पदार्थों को सत्ता प्रदान करने एवं सभी शब्दों के वाच्य होने के लिए वे सबके भीतर प्रवेश करके ही नामरूपविभाग करते हैं। उपर्युक्त प्रकार से परमात्मा के संकल्प का तात्पर्य यह है कि जीवों को इन रूपों अर्थात् अचेतन शरीरों को प्राप्त कर कर्मफल भोगना है और मोक्ष के साधन में भी प्रवृत्त होना है इसलिए उन्हें इन पदार्थों में प्रविष्ट होना अनिवार्य है। जीवात्मा के द्वारा

परमात्मा भी उनमें प्रविष्ट होकर स्वपर्यन्त नामरूप का विभाग करता है इसलिए अचेतन शरीर के बोधक शब्द उन शरीरों का बोध कराते हुए उसके अन्दर रहने वाले जीव के और जीव के भी अन्दर रहने वाले परमात्मा के बोधक होते हैं। इस प्रकार सभी शब्दों से परमात्मा कहे जाते हैं। शरीर आत्मा का आश्रय लेकर रहता है तथा आत्मा शरीर का आधार बनकर रहती है। इनमें शरीर विशेषण होता है और आत्मा विशेष्य होती है। यह मनुष्य है, इस वाक्य का यही अर्थ है कि यह मनुष्यशरीर वाला है। इस प्रतीति में मनुष्यशरीर विशेषण(प्रकार)रूप से ज्ञात होता है और आत्मा विशेष्यरूप से ज्ञात होती है। यह घट शुक्ल है, इस प्रतीति का अर्थ है कि यह घट शुक्लरूप वाला है। इस प्रतीति में आधार घट विशेष्यरूप से ज्ञात होता है और उसके आश्रित रहने वाला शुक्लरूप विशेषणरूप से ज्ञात होता है। 'यह गौ है' इस प्रतीति में आधार गो व्यक्ति विशेष्यरूप से ज्ञात होती है तथा उसके आश्रित रहने वाली गोत्व जाति विशेषणरूप से ज्ञात होती है। जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसके प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहार का नियमन करता है। वह निरुपाधिक अमृतस्वरूप परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है-**यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा. पा.3.7.26) यह श्रुति जीव को परमात्मा का शरीर तथा परमात्मा को जीव का अन्तर्यामी कहती है, इससे जीव ब्रह्मात्मक सिद्ध होता है। जीवात्मा सदा परमात्मा को अपने अन्तर्यामी रूप से लेकर ही रहता है। ये ब्रह्मात्मक जीव उन शरीरों के अन्दर आत्मा के रूप में रहते हैं, जो शरीर देव, मनुष्य आदि शब्दों से कहे जाते हैं और आत्मा के विशेषण होते हैं। जीवात्मा ब्रह्मात्मक है, जड़ पदार्थ भी ब्रह्मात्मक हैं। जड़ पदार्थ परमात्मा के शरीर हैं, जीवात्मा भी परमात्मा का शरीर है। शरीरवाचक देव, मनुष्य आदि शब्द उन शरीरों में ही विश्रान्त न होकर उनमें रहने वाली आत्मा तक का प्रतिपादन करते हैं इसलिए प्रकृति और प्रत्यय से युक्त होकर विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाले देव, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, काष्ठ, शिला, तृण, घट, पट आदि शब्द लोकप्रसिद्ध विचित्र सन्निवेश वाले अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हुए, उनके अन्दर रहने वाले जीवों का प्रतिपादन करके उन(जीवों) के अन्दर

रहने वाले परमात्मा तक का प्रतिपादन करते हैं। इस विवरण से स्पष्ट है कि सभी शब्द जड़पदार्थ, जीव एवं परमात्मा का प्रतिपादन करें इसलिए परमात्मा जीवों के द्वारा प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरण करते हैं।

यह पूर्व में कहा गया है कि नामरूपव्याकरण उपादान में होने वाली एक क्रिया है, इसे ही सृष्टि कहते हैं, इससे नामरूप का विभाग होता है, यह विभाग और अनुप्रवेश एक काल में होते हैं, इसी अभिप्राय से **तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्** यह श्रुति प्रवृत्त होती है। परब्रह्म स्वरचित चेतनाचेतन सम्पूर्ण जगत् में प्रवेश करके सत् और त्यत्, निरुक्त और अनिरुक्त, निलयन और अनिलयन तथा विज्ञान और अविज्ञान हो गया। निर्विकार होने के कारण सतत एकरूप रहने वाला चेतन सत् शब्द से कहा जाता है और त्यद् शब्द से पूर्वावस्था का त्यागरूप विकार का आश्रय अचेतन कहा जाता है-**सच्छब्देन निर्विकारतया सततैकरूपश्चेतन उच्यते। त्यच्छब्देन पूर्वावस्थात्यागरूप- विकारास्पदमचेतनमुच्यते।**(र.भा.)। अचेतन पदार्थ विकारी होता है, वह एक जैसा नहीं रहता, उसमें पूर्व अवस्था के परित्यागपूर्वक उत्तर अवस्था होती है। जैसे मिट्टी में चूर्णत्व, पिण्डत्व और घटत्वादि अवस्थाएँ होती हैं, इसी प्रकार पूर्वावस्था के परित्यागरूप विकार और उत्तरावस्था की प्राप्तिरूप विकार का आश्रय अचेतन वस्तु होती है। प्रकृति के सम्बन्ध से युक्त संसारी आत्मा अनादि कर्मरूप अज्ञान के कारण धर्मतः विकारी[1] होने पर भी स्वरूपतः निर्विकार है इसलिए सदा एकरूप रहती है। सतत एकरूप रहने वाला यह चेतन आत्मा सत् कहा जाता है। ब्रह्म ही सत् और त्यत्रूप हो गया अर्थात् सत् और त्यत् के रूप ब्रह्म के रूप हो गये तथा उनके नाम भी ब्रह्म के नाम हो गये।

जाति और गुण के वाचक शब्दों से जिसे कहा जाता है, उस अचेतन पदार्थ को निरुक्त कहते हैं-**जातिगुणाभिधायि अचेतनं निरुक्तम् इत्युच्यते।**(प्रदी.) जाति और गुण का आश्रय होने से अचेतन पदार्थ उनके वाचक शब्दों से कहा जाता है। जैसे घट, पट, गो(गोशरीर) और

1. जीवात्मा बद्धावस्था में सुख, दुःख, शोक और मोह का आश्रय होता है इसलिए धर्मतः विकारी कहा जाता है।

मनुष्य(मनुष्य शरीर) आदि अचेतन पदार्थ घटत्व, पटत्व, गोत्व और मनुष्यत्वादि जाति के आश्रय होते हैं तथा शुक्लत्वादि गुणों के आश्रय होते हैं, इसलिए वे जाति के बोधक घटादि शब्दों से तथा गुण के बोधक शुक्लादि शब्दों से कहे जाते हैं, अतः वे निरुक्त हैं। जाति और गुण से रहित चेतन आत्माएं अनिरुक्त कही जाती हैं-**जातिगुणशून्यं चेतनजातम् अनिरुक्तमित्युच्यते।** घटत्व, पटत्व, गोत्व और मनुष्यत्वादि जाति का आश्रय चेतन आत्माएं नहीं होतीं तथा शुक्लत्वादि गुणों का भी आश्रय नहीं होतीं इसलिए वे अनिरुक्त कहलाती हैं। वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का शरीर है और सभी शब्द ब्रह्मपर्यन्त अर्थ के बोधक हैं। जाति और गुण के वाचक शब्द जाति और गुण को कहते हुए उसके आश्रय अचेतन में ही पर्यवसित नहीं होते अपितु अचेतन में विद्यमान चेतन जीवात्मा को और उसमें भी विद्यमान परमात्मा को कहते हैं किन्तु अचेतन देह के व्यवधान के विना जीवात्मा को नहीं कहते, ऐसा जानना चाहिए। ये अचेतन पदार्थ चेतनों में स्थित हैं-**एता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः।**(कौ.उ.3.61) इस प्रकारप्रतिपादित रीति से अचेतनों के आधार चेतन वर्ग निलयन कहलाते हैं और उनके आश्रित रहने वाले अचेतन पदार्थ अनिलयन कहलाते हैं-**अचेतनवर्गाधारभूतं चेतनजातं निलयनम्। आश्रितमचेतनजातं त्वनिलयनम्।**(रं.भा.)। स्वयंप्रकाश जीवात्मा को विज्ञान कहते हैं और उससे भिन्न अस्वयंप्रकाश(जड) को अविज्ञान कहते हैं-**विज्ञानं च विज्ञानस्वरूपं जीवजातमेव, स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानरूपतायाः तत्रैव सम्भवः। अविज्ञानं च विज्ञानभिन्नजड-स्वरूपाचेतनवर्गः।**(आ.भा.)।

प्रस्तुत तैत्तिरीय श्रुति से ब्रह्म और चेतनाचेतनात्मक जगत् में उपादान-उपादेय भाव सिद्ध होता है, इनमें जगत् उपादेय है और ब्रह्म उसका उपादानकारण। लोक में उपादानकारण विकारी देखा जाता है, जैसे मिट्टी। वह विकार(घटत्वावस्था) से युक्त होकर घट बनती है। ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर उसे भी विकारी मानना होगा, इस शंका के निराकरण के लिये ही श्रुति **सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्**[1] कहती है। यहाँ प्रथम सत्य पद से जड़ जगत् की अपेक्षा निर्विकार जीवात्मा को सत्य कहा

1. सत्यमेवाभवत् अजहन्निर्विकारत्वलक्षणस्वस्वभावमेव अभवदित्यर्थः। (रं.भा.)।

गया है तथा जीव की अपेक्षा विकारी अचेतन प्रकृति को अनृत कहा गया है। द्वितीय सत्य पद से ब्रह्म का निर्विकारत्व कहा गया है। परमात्मा अविकारी जीवात्मा और विकारी अचेतन होने पर भी स्वयं निर्विकार ही बना रहा, यह उक्त वाक्य का अर्थ है।

वेदान्तसिद्धान्त में ब्रह्म ही कारण है और ब्रह्म ही कार्य। स्थूलचेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म कारण है। चेतन और अचेतन विशेषण हैं, उनके अन्तर्यामीरूप से रहने वाला ब्रह्म विशेष्य है। सूक्ष्मचिदचिद् विशेषण से विशिष्ट परमात्मा का जगद्रूप से परिणाम होने पर भी उसके विशेष्यस्वरूप में कोई विकार नहीं होता। विशेषण अंश में ही विकार होता है। जैसे-मकड़ी जाले का उपादान कारण होने पर भी उसके विशेष्यस्वरूप में विकार नहीं होता, विकार तो उसके विशेषणभूत शरीर में होता है। शरीर विशेषण के द्वारा मकड़ी का विकार होता है। ब्रह्म का विशेषण के द्वारा जगद्रूप में परिणाम(विकार) होता है। बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मणमें **यस्य पृथिवी शरीरम्**(बृ.उ. 3.7.7) इत्यादि प्रकार से चेतन और अचेतन सभी को ब्रह्म का शरीर कहा गया है। इन शरीररूप विशेषणों में ही विकार होते हैं, विशेष्य ब्रह्म में नही होते। इस प्रकार चेतनाचेतन के द्वारा ब्रह्म उपादानकारण होता है अतः उसमें विकार की प्रसक्ति नहीं होती। यद्यपि बालत्व, युवत्व आदि धर्म शरीर में रहते हैं, आत्मा में नहीं, फिर भी जैसे बालक युवक होता है, ऐसा कथन होने पर शरीरद्वारा जीवात्मा का उपादानत्व मान्य है, वैसे ही चेतनाचेतनरूप विशेषणों के द्वारा एक ही ब्रह्म का उपादानत्व मान्य है। ऐसा स्वीकार न करके केवल शरीर को उपादान स्वीकार करने पर शरीर में जीवात्मा न रहने पर भी 'बालक युवक होता है', यह व्यवहार होना चाहिए किन्तु यह व्यवहार नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि केवल शरीर उपादान नहीं है, बल्कि शरीरविशिष्ट आत्मा उपादान है। निर्विकारत्वप्रतिपादक शास्त्र विशेष्य ब्रह्मस्वरूप को निर्विकार कहते हैं। विशिष्ट ब्रह्म में विकार मानना सिद्धान्त में इष्ट है। जिस प्रकार स्वरूपतः निर्विकार जीवात्मा मनुष्यादि शरीर से विशिष्ट होने पर बालत्व, युवत्व और वृद्धत्वरूप विकार को प्राप्त करती है, उसी प्रकार स्वरूपतः निर्विकार ब्रह्म चेतनाचेतनविशिष्टरूप से विकार को प्राप्त करता है, इससे

स्पष्ट है कि ब्रह्म चेतनाचेतनरूप होने पर भी स्वरूपतः अविकारी ही रहता है।

अभी यह विस्तार से बताया गया कि आकाशादि से लेकर तृणपर्यन्त समग्र जगत् सत्य नाम वाले ब्रह्म का ही रूप है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता समग्र जगत् को **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**(छां.उ.3.14.1), **ब्रह्मैवेदं विश्वम्।**(मु.उ. 2.2.12), **नेह नानास्ति किंचन।**(क.उ.2.1.11, बृ.उ.4.4.19), **हरेर्न किंचिद् व्यतिरिक्तमस्ति।**(वि.पु.2.7.43), **ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः।**(वि.पु.2.12.38) इस प्रकार ब्रह्म कहते हैं[1]।

अब ब्रह्म के बहुरूप होने के विषय में वक्ष्यमाण श्लोकात्मक मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है-

सप्तमोऽनुवाकः

असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति॥

अन्वय

इदम् अग्रे असत् वै आसीत्। ततः वै सत् अजायत। तत् स्वयम् आत्मानम् अकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते इति।

अर्थ

इदम्-जगत् **अग्रे**-सृष्टि के पूर्वकाल में **असत्**-नामरूप के विभाग से रहित ब्रह्म **वै**-ही **आसीत्**-था। **ततः**-उससे **वै**-ही **सत्**-जगत् अर्थात् नामरूप के विभाग वाला ब्रह्म **अजायत**-उत्पन्न हुआ। **तत्**-उसने **स्वयम्**-स्वयं **आत्मानम्**-अपने को(जगत्रूप में) **अकुरुत**-किया। **तस्मात्**-वैसा करने से **तत्**-जगत्कारण ब्रह्म को **सुकृतम्**-सुकृत **उच्यते**-कहा जाता है।

व्याख्या

जगत् की ब्रह्मरूपता-तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।(तै.उ.2.6.3) इत्यादि रीति से तैत्तिरीय श्रुति चेतनाचेतनात्मक जगत् को ब्रह्म का ही

1. कारण ब्रह्म का जगत् कार्य से अभेद होने के कारण जगत् को ब्रह्म कहा जाता है तथा जगत् में अनुप्रविष्ट होने से ब्रह्म उसका आत्मा है, इसलिए भी उसे ब्रह्म कहा जाता है।

कार्य कहती है इसलिए सब कुछ ब्रह्म ही है। कारण ब्रह्म है और कार्य भी ब्रह्म। प्रस्तुत **असद् वा इदमग्र आसीत्** श्रुति **इदम्** पद से जगत् का निर्देश करती है और **अग्रे** पद से सृष्टि के पूर्वकाल का। जगत् का अर्थ है-नामरूप के विभाग वाला ब्रह्म, इसे ही स्थूल चेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म कहते हैं। सृष्टि के पूर्वकाल में जगत् था या नहीं? इस शंका के परिहार के लिए श्रुति **आसीत्** पद के प्रयोग से पूर्व में भी जगत् की विद्यमानता को सूचित करती है। उस समय जगत् कैसा था? इस पर श्रुति कहती है-असत्। छान्दोग्यश्रुति **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**।(छां.उ. 6.2.1)इस प्रकार जगत्कारण ब्रह्म को सत् कहती है तो यह श्रुति उसे असत् क्यों कहती है? नामरूपविभाग का अभाव होने से असत् कहती है। उक्त उभय श्रुतियाँ जगत्कारणता के प्रसंग में हैं, वे एक ब्रह्म की ही जगत्कारणता का प्रतिपादन करती हैं।

अभिन्ननिमित्तोपादान कारण

यह जगत् सृष्टि के पूर्व ब्रह्मरूप था, इससे स्पष्ट है कि जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही है किन्तु उसका निमित्तकारण कौन है? इस शंका के परिहार के लिए श्रुति **तदात्मानं स्वयमकुरुत** कहती है। **तद्**-परमात्मा ने **आत्मानम्**-अपने को उपादानरूप से स्वीकार करके और **स्वयम्**-स्वयं ही निमित्तकारण होकर **अकुरुत**-जगत् की रचना की। अन्य निमित्त की अपेक्षा न करके अनभिव्यक्त नामरूप वाले ब्रह्म से अभिव्यक्त नामरूप वाला ब्रह्म हुआ अर्थात् सूक्ष्म चिदचिदविशिष्ट ब्रह्म का स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट होना ही जगत् की उत्पत्ति है।

सुकृत

लोक में कार्य-कारणभाव भिन्न पदार्थों में देखे जाते हैं, उपादान और निमित्त का भेद भी देखा जाता है किन्तु जगत्कारण के प्रसंग में ऐसा नहीं है, इसलिए इसे सुकृत कहा जाता है, इसका अर्थ है-सुन्दर कार्य करने वाला-**सुन्दरं कृतं कार्यमस्य तद् सुकृतम्**। कारण ब्रह्म का सुकृतत्व सकलेतरवैलक्षण्यरूप है। कारण ही कार्यरूप में परिणत होता है अतः कारण से भिन्न कार्य नहीं होता तथा निमित्त और उपादान का भेद भी यहाँ नहीं है। **सुखेन कृतं कार्यमस्य** इस प्रकार अनायास जगत् की

सृष्टि करने से भी उसे सुकृत कहा जाता है।

जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण, उपास्य और प्राप्य, सुकृत ब्रह्म कैसा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर सहस्त्रों माता-पिता से भी बढ़कर वात्सल्य रखने वाली भगवती श्रुति कहती है-

यद् वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्[1]। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवाऽऽनन्दयाति॥1॥

अन्वय

यत् तत् वै सुकृतम्। सः वै रसः। अयं हि रसं लब्ध्वा आनन्दी एव भवति। यत् एषः आकाशः आनन्दः न स्यात्? हि कः एव अन्यात्, कः प्राण्यात्। हि एषः एव आनन्दयाति।

अर्थ

यत्-जो **तत्**-ब्रह्म **वै**-ही **सुकृतम्**-सुकृत कहा गया है। **सः**-वह **वै**-ही **रसः**-आनन्द है। **अयम्**-उपासक जीवात्मा **हि**-भी **रसम्**-आनन्द को **लब्ध्वा**-प्राप्त करके **आनन्दी**-आनन्दित **एव**-ही **भवति**-हो जाता है। **यत्**-यदि **एषः**-यह **आकाशः**-अपरिच्छिन्न **आनन्दः**-आनन्दरूप ब्रह्म **न**-नहीं **स्यात्**-होता, **हि**-तो **कः**-कौन **एव**-ही **अन्यात्**-लौकिक आनन्द प्राप्त करता? और **कः**-कौन **प्राण्यात्**-मोक्षरूप आनन्द प्राप्त करता? **हि**-क्योंकि **एषः**-यह परमात्मा **एव**-ही **आनन्दयाति**-आनन्द प्रदान करने वाला है।

व्याख्या

आनन्दरूप परमात्मा और आनन्दित आत्मा-पूर्व वाक्य से जिस ब्रह्म को सुकृत कहा गया था, वह ही आनन्द है और उपासक जीवात्मा भी उस आनन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त करके आनन्दित अर्थात् सुखी हो जाता है, ऐसा होने से वह ही उपास्य और प्राप्यरूप से सहज स्वीकृत होता है। आनन्दात्मक ब्रह्म परिच्छिन्न नहीं है अपितु अपरिच्छिन्न है, इससे स्पष्ट है कि सांसारिक विषय आनन्द नहीं हैं और उनका अनुभव भी आनन्द

1. अननलक्षणं लौकिकसुखयोगं प्राणनलक्षणम् आपवर्गिकं सुखं च।(सु.)।

नहीं है, जीव ने उन्हें भ्रम से आनन्द समझ रखा है। जीवात्मा आनन्दरूप होने पर भी अपरिच्छिन्न आनन्दरूप नहीं है। पूर्व (तै.उ.2.5.2) में प्रतिपादित आनन्दमय ब्रह्म की आनन्दरूपता का इस वाक्य से प्रतिपादन किया जाता है।

आनन्दप्रद परमात्मा

आनन्दरूप परमात्मा ही सभी प्रकार के आनन्द का हेतु है। लौकिक सुख को प्रदान करने वाला वही है और अलौकिक आनन्दरूप स्वस्वरूप को भी प्रदान करने वाला है। अन्यात् और प्राण्यात् का निःश्वास और उच्छ्वासरूप अर्थ प्रसिद्ध है किन्तु आनन्दरूप और आनन्दप्रदाता परमात्मा का प्रकरण होने से यहाँ लौकिक और अलौकिक आनन्द को प्रदान करना अर्थ किया गया है। सभी प्रकार के आनन्द का हेतु होने से वह ही उपास्य और प्राप्य है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति॥2॥

अन्वय

यदा हि एषः एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने एव अभयं प्रतिष्ठाम् विन्दते। अथ सः अभयं गतः भवति। यदा हि एषः एव एतस्मिन् अरम् उत् अन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तु अमन्वानस्य विदुषः तत् एव भयम्। तत् एषः श्लोकः अपि भवति।

अर्थ

यदा-जब **हि**-भी **एषः**-यह उपासक **एतस्मिन्**-इस **अदृश्ये**-इन्द्रियों का अविषय **अनात्म्ये**-शरीररहित **अनिरुक्ते**-देव, मनुष्यादि शब्दों का अवाच्य **अनिलयने**-आधाररहित परमात्मा में **एव**-ही **अभयम्**[1]-अभय का साधन **प्रतिष्ठाम्**-निरन्तर स्मृतिरूप निष्ठा को **विन्दते**-प्राप्त करता

---

1. अभयम् अभयाय। **नाव्ययीभावात्**(अ.सू.2.4.83) इति चतुर्थ्या अम्भावः। 'अर्थाभावे यदव्ययम्' इति अव्ययीभावसमासः।(रं.भा.)।

है, **अथ**-इसके पश्चात् **सः**-वह **अभयम्**-अभय को **गतः**-प्राप्त **भवति**-होता है। **यदा**-जब **हि**-भी **एषः**-यह उपासक **एव**-ही **एतस्मिन्**-इस परमात्मा में ध्यान का **अरम्**-थोड़ा **उत्**-भी **अन्तरम्**-विच्छेद **कुरुते**-करता है, तो इसके **अथ**-अनन्तर **तस्य**-उसे **भयम्**-भय **भवति**-होता है। **तु**-किन्तु **अमन्वानस्य**-चिन्तन(ध्यान) न करने वाले **विदुषः**-विद्वान् का **तत्**-चिन्तन न करना **एव**-ही **भयम्**-भय है। चिन्तन न करने पर **तत्**-भय का हेतु आनन्दमय परमात्मा के विषय में **एषः**-यह वक्ष्यमाण **श्लोकः**-श्लोक **अपि**-भी **भवति**-होता है।

व्याख्या

अभय का साधन-आनन्दगुण वाला और अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूप ब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह ब्रह्म व्यापक है, इसलिए उसे आत्मा कहा जाता है और उससे व्याप्य वस्तु को आत्म्य कहा जाता है। आत्मा(ब्रह्म) शरीर में व्याप्त होकर रहती है, उससे व्याप्य शरीर होता है, उस शरीर को आत्म्य कहते हैं और शरीर से रहित ब्रह्म को अनात्म्य कहते हैं। यहाँ उसके कर्मकृत शरीर का ही निषेध जानना चाहिए क्योंकि शास्त्र उसके सकलचेतनाचेतनात्मक शरीर का प्रतिपादन करते हैं। वह अनिरुक्त अर्थात् अवाच्य है। अनिरुक्त पद से ब्रह्म के सर्वथा वाच्यत्व का निषेध नहीं किया जाता किन्तु स्वकर्ममूलक उसका देह न होने से वह उस (स्वकर्ममूलक) देह के बोधक देवादि पदों का वाच्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। निलयन का अर्थ आधार होता है। परमात्मा सबका आधार है, उसका कोई आधार नहीं इसलिए वह अनिलयन कहलाता है। इस मन्त्र में अदृश्य कहने से अचेतन पदार्थ की व्यावृत्ति होती है क्योंकि वह दृश्य(इन्द्रियों का विषय) होता है। अनात्म्य कहने से बद्ध जीव की व्यावृत्ति होती है क्योंकि वह कर्मानुसार शरीर से युक्त होता है। परमात्मा का कोई कर्म नहीं अतः वह कर्मानुसार किसी शरीर से युक्त नहीं होता। अनिरुक्त कथन से मुक्त की व्यावृत्ति होती है क्योंकि वह बद्धावस्था में स्वकर्ममूलक शरीर के बोधक देव, मनुष्यादि शब्दों का वाच्य था किन्तु परमात्मा का कोई कर्म न होने से वह स्वकर्ममूलक शरीर के बोधक शब्दों का वाच्य कभी नहीं होता।

अनिलयन कहने से नित्य की[1] व्यावृत्ति होती है क्योंकि वह आधाररहित नहीं है, उसका आधार परमात्मा है। यहाँ अभय का अर्थ संसार के सम्बन्ध से होने वाले भय का आत्यन्तिक अभाव है, इसे ही मोक्ष कहते हैं। इसका साधन प्रतिष्ठा अर्थात् परमात्मा का तैलधारावदविच्छिन्न निरन्तर ध्यान है। दृढ सम्बन्ध को प्रतिष्ठा कहते हैं- **दृढसम्बन्धो हि प्रतिष्ठा।**(श्रु.प्र.), वह ध्यान अर्थात् उपासनारूप है। जब मुमुक्षु ब्रह्मोपासक अभय के लिए अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन परमात्मा का दीर्घकाल तक निरन्तर प्रीतिरूप ध्यान करता है, तब मोक्ष को प्राप्त करता है।

भय का साधन

मोक्ष के लिए परमात्मा का निरन्तर ध्यान करने वाला उपासक यदि उस ध्यान में थोड़ा भी विच्छेद करता है तो उसे भय प्राप्त होता है। पूर्व श्रुतिवाक्य में सतत ध्यान का वाचक प्रतिष्ठा शब्द से ध्यान का सातत्य(निरन्तरता) विहित है, इसलिए प्रस्तुत वाक्य में अन्तर शब्द से उसी ध्यान के सातत्य के विरोधी ध्यान के विच्छेद को ग्रहण करना उचित है। आचार्य शंकर की रीति से **ब्रह्मणि अन्तरं छिद्रं भेददर्शनं कुरुते।**(शां.भा.) इस प्रकार अन्तर शब्द का भेद अर्थ करना उचित नहीं। वस्तुतः ब्रह्मैक्यवादी हम सविशेषाद्वैतवेदान्तियों के मत में ब्रह्म के भेद का निषेध इष्ट ही है क्योंकि हम ब्रह्म के नानात्व को स्वीकार नहीं करते फिर भी प्रकरण के अनुरोध से उक्त अर्थ ही उचित है, ऐसा जानना चाहिए। चिन्तन(ध्यान) न करने वाले विद्वान् का अचिन्तन ही भय है। श्रुति में आया तु पद संसारी जीव से ध्यानयोगी की विलक्षणता को सूचित करने के लिए है। संसारी जीव का संसार की प्राप्ति भय है और इस ध्यानयोगी का विषयान्तर में स्पृहा के कारण निरन्तर चिन्तन न करना ही भय है, इससे अतिरिक्त दूसरा भय नहीं। ध्यानयोगी का अभीष्ट ध्यान होता है। ध्यान न करना अभीष्ट की हानिरूप होने से प्रथम भय है। महर्षियों ने कहा है कि मुहूर्त भर अथवा क्षण भर जो वासुदेव का चिन्तन नहीं किया जाता, वह हानि है, वह महान् दोष है, वह भ्रान्ति है और वही विकार है-**यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते। सा हानिः**

1. जो आत्माएँ संसारबन्धन में कभी भी नहीं आतीं, वे नित्य कही जाती हैं।

तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया॥(ग.पु.पू.222.22)। अग्नि की ज्वालाओं के घेरे के भीतर रहना भी उचित है किन्तु श्रीकृष्णचिन्तन से विमुख जनों से मिलकर अपना अधोपतनरूप हिंसा करना उचित नहीं-**वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः। न शौरिचिन्ताविमुखजन-संवासवैशसम्॥** जो पुनः पुनः चिन्तन नहीं करता, उसे केवल अचिन्तनरूप भय नहीं होता अपितु वह भय के जनक दुःखालय संसार में भयभीत होकर एक योनि से दूसरी योनि में भटकता रहता है।

ध्यान न करने से भय का हेतु आनन्दात्मक ब्रह्म के विषय में निम्न श्लोक प्रवृत्त होता है-

अष्टमोऽनुवाकः

भीषाऽस्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति॥

अन्वय

अस्मात् भीषा वातः पवते। भीषा सूर्यः उदेति। अस्मात् भीषा अग्निः च इन्द्रः च पञ्चमः मृत्युः धावति इति।

अर्थ

अस्मात्-इस परमात्मा के **भीषा**-भय से **वातः**-वायु **पवते**-चलती है। इसके **भीषा**-भय से **सूर्यः**-सूर्य **उदेति**-उदय होता है। **अस्मात्**-इसके **भीषा**-भय से **अग्निः**-अग्नि देवता **च**-और **इन्द्रः**-इन्द्र देवता **च**-तथा **पञ्चमः**-पञ्चम **मृत्युः**-मृत्यु देवता (अपना कार्य करने के लिए) **धावति**-प्रवृत्त होते हैं।

व्याख्या

आनन्दमय का ऐश्वर्य-प्राणियों के जीवन में वायु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि वह प्रवहित न हो तो उनकी मृत्यु ध्रुव है, वह आनन्दमय परमात्मा के भय से अहर्निश प्रवहित होती रहती है। इसके भय से सूर्य देवता यथासमय उदय होता है और अस्त भी। इसी के भय से अग्नि देवता शीतनिवारण करता है और जलाता है। इन्द्र देवता इसके भय से त्रिलोकी पर शासन करता है और मृत्यु देवता सतत जागरूक रहकर

अपना कार्य करता रहता है, इसी विषय का **भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥**(क.उ.2.3.3) यह कठश्रुति भी प्रतिपादन करती है। अग्नि, सूर्य, इन्द्रादि प्रमुख देवता भी 'परमात्मा के शासन का अतिक्रमण करने पर क्या होगा?' इस प्रकार होने वाले भय से जागरूक रहकर अपना कार्य करते रहते हैं। बड़े कहे जाने वाले इन्द्रदि देवताओं के पद भी दुःख के हेतु होने से त्याज्य हैं अतः उन पदों की कामना से मोक्ष के साधन ध्यान का विच्छेद जन्म-मरण का हेतु होने से अत्यन्त भय का जनक है किन्तु सतत ध्यान करने वाले को भय नहीं होता अतः अभय का साधन ब्रह्मानुसन्धान निरन्तर करते रहना चाहिए, इसी से मानवजीवन की सार्थकता है।

जिसके होने से ब्रह्म को आनन्दमय कहा जाता है। वह आनन्द क्या है? और कितना है? अब इन विषयों का विचार किया जाता है-

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधु युवाध्यायकः आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः॥1॥

अन्वय

सा आनन्दस्य एषा मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधु युवाध्यायकः आशिष्ठः द्रढिष्ठः बलिष्ठः। वित्तस्य पूर्णा इयं सर्वा पृथिवी तस्य स्यात्। सः मानुषः एकः आनन्दः।

अर्थ

सा[1]-पूर्वोक्त **आनन्दस्य**-आनन्द का **एषा**-यह **मीमांसा**-विचार (आरम्भ) **भवति**-होता है। यदि कोई **युवा**-यौवनसम्पन्न **स्यात्**-हो, **साधु**-विधि के अनुसार स्वर, वर्णादि के दोष से रहित(तथा) **युवाध्यायकः**-विस्मृति न होने से जैसा नित्य नूतन बना रहे, वैसा अध्ययन करने वाला हो, **आशिष्ठः**-अत्यन्त शीघ्र कार्य करने वाला **द्रढिष्ठः**-अत्यन्त शारीरिक बल से सम्पन्न(और) **बलिष्ठः**-अत्यन्त मानसिक बल से सम्पन्न हो, **वित्तस्य**[1]- धन से **पूर्णा**-पूर्ण **इयम्**-यह

1. अत्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा स्त्रीत्वं च।

सर्वा-सम्पूर्ण **पृथिवी**-पृथ्वी **तस्य**-उसकी **स्यात्**-हो, तो **सः**-वह सब **मानुषः**-मनुष्यसम्बन्धी **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है।

व्याख्या

आनन्दमीमांसा-आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचनेति। (तै. उ.2.4.1) इस प्रकार पूर्व में प्रतिपादित ब्रह्मानन्द की मीमांसा का मनुष्य के आनन्द से आरम्भ किया जाता है-

मनुष्य का आनन्द

मन्त्र में पठित साधु शब्द का अर्थ सम्यक् अर्थात् स्वर, वर्णादि के दोष से रहित है-**साधु सम्यक् स्वरवर्णादिदोषरहितम्।**(सु.)। **युवाध्यायकः** यहाँ युव शब्द से नूतनत्व विवक्षित है, विस्मृति न होने से नित्य नूतन जैसा बना रहे, वैसा अध्ययन करने वाला हो, यह अर्थ है-**युवशब्देन प्रत्यग्रत्वं विवक्षितम्। अविस्मरणान्नित्यं नवं यथा भवति, तथा अध्ययनवानित्यर्थः।**(रं.भा.) अथवा साधु का अर्थ दोषरहित आचरण वाला -**साधवः क्षीणदोषाः।**(कू.भा.)। अपने समान आयु वाले सभी को पढ़ाने वाला अध्यापक युवाध्यायक कहलाता हैं-**यद् वा स्वसमवयस्कानां सर्वेषामध्यायकः अध्यापकः।**(रं.भा.) अर्थात् अपने समवयस्कों से भी अधिक ज्ञानवान्। आलस्यरहित होकर शीघ्र कार्य सम्पन्न करने वाले को आशिष्ठ कहते हैं-**आशिष्ठः अनलसतया क्षिप्रकारी।**(आ.भा.) और भोजन करने में समर्थ अर्थात् रोगरहित को आशिष्ठ कहते हैं-**आशिष्ठः अशनक्षमः, अरोग इत्यर्थः।**(रं.भा.) अथवा सभी के आशीर्वाद का पात्र आशिष्ठ कहलाता है, वह सभी को आह्लादित करने वाला होता है-**यद् वा आशीर्वादविषयभूतः, सर्वानुरञ्जक इत्यर्थः।**(रं.भा.)। आनन्दमीमांसा के आरम्भ में मनुष्यलोक के भोगों से सम्भावित बड़े बड़े आनन्दों की मीमांसा की गयी है। आजकल कुछ लोग युवावस्था में ही रुग्ण और दुर्बल होने से क्षीण यौवन वाले हो जाते हैं, ऐसा न हो बल्कि यौवन से सम्पन्न हो, साधु स्वभाव वाला हो, विद्वान् हो, समवयस्कों को पढ़ाने वाला हो अर्थात् छोटे लोग बड़ों को सम्मानित करते ही हैं किन्तु यह योग्यता के कारण समान आयु वालों के द्वारा भी सम्मानित हो। रोगरहित,

1. वित्तेन।(रं.भा.)।

शारीरिक तथा मानसिक सामर्थ्य से पूर्णतः सम्पन्न हो तथा धन-धान्य, सेवक-सेविकाओं से भरपूर समग्र भूमण्डल का सम्राट हो तो वह सभी (गुणसमूह और ऐश्वर्य) मनुष्य को प्राप्त होने वाला एक उत्कृष्ट आनन्द है।

शंका-अनुकूलत्वेन अनुभव में आने वाले ज्ञान को आनन्द कहा जाता है तो बाह्य विषय गुण और ऐश्वर्य को आनन्द कहना कैसे संभव होता है?

समाधान-अनुकूल वस्तु को ही आनन्द कहते हैं-**अनुकूलत्वं ह्यानन्दत्वम्**।(रं भा.)। जैसे कोई ज्ञान अनुकूल प्रतीत होने से आनन्द कहा जाता है, वैसे ही उसका विषय भी अनुकूल प्रतीत होने से आनन्द कहा जाता है और ज्ञान की अनुकूलता भी विषय की अनुकूलता के कारण होती है इसलिए श्रुति मनुष्यलोक में प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के गुण, विभूति और ऐश्वर्यात्मक विषयों को आनन्द पद से अभिहित करती है।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अन्वय

ते ये मानुषाः शतम् आनन्दाः। सः मनुष्यगन्धर्वाणाम् एकः आनन्दः। च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **मानुषाः**-मनुष्यसम्बन्धी **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **मनुष्यगन्धर्वाणाम्**-मनुष्यगन्धर्वों का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**-और (वह) **अकामहतस्य**-कामना से रहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

मनुष्यगन्धर्व का आनन्द-गन्धर्व देवकोटि के अन्तर्गत आते हैं, ये संगीत और गानकला में प्रवीण होते हैं। जो मनुष्य होते हुए ही कर्मविशेष से या उपासनाविशेष से अन्तर्धानादि शक्तियों से युक्त होकर गन्धर्व हो जाते हैं, वे मनुष्यगन्धर्व कहलाते हैं। पूर्व वाक्य में मनुष्य को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो मनुष्यों के 100 आनन्द

हैं, वे सभी मिलकर मनुष्यगन्धर्वों के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् मनुष्य के आनन्द से सौ गुना मनुष्यगन्धर्व का आनन्द है। वह समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ मुक्त का भी आनन्द है। वह अनन्त कल्याणगुणगणविशिष्ट सर्वशरीरक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। जैसे असंख्य धन वाले के धन के अन्तर्गत एक रुपया, दो रुपया होते ही हैं, वैसे ही मुक्तात्मा के अनुभूयमान अनन्त आनन्द के अन्तर्गत मनुष्यगन्धर्व का भी आनन्द होता है।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अन्वय

ते ये मनुष्यगन्धर्वाणां शतम् आनन्दाः। सः देवगन्धर्वाणाम् एकः आनन्दः। च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **मनुष्यगन्धर्वाणाम्**-मनुष्यगन्धर्वों के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **देवगन्धर्वाणाम्**-देवगन्धर्वों का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**-और (वह) **अकामहतस्य**-कामना से रहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

देवगन्धर्व का आनन्द-जो देवता होते हुए गन्धर्व हैं, वे अन्तरिक्षलोक निवासी देवगन्धर्व कहलाते हैं। पूर्व वाक्य में मनुष्यगन्धर्व को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो मनुष्यगन्धर्वों के 100 आनन्द हैं, वे सभी मिलकर देवगन्धर्वो के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् मनुष्यगन्धर्व के आनन्द से सौ गुना देवगन्धर्व का आनन्द है। वह समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ मुक्त का भी आनन्द है।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोक-लोकानाम् आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अन्वय

ते ये देवगन्धर्वाणां शतम् आनन्दाः। सः चिरलोकलोकानां पितॄणाम्

एकः आनन्दः च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **देवगन्धर्वाणाम्**-देवगन्धर्वों के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **चिरलोकलोकानाम्**-चिरकालस्थायी लोकों में निवास करने वाले **पितृणाम्**-पितृदेवताओं का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**- और (वह) **अकामहतस्य**-कामनारहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

पितृदेवता का आनन्द-दीर्घकाल स्थायी लोकविशेष में निवास करने वाले पितृदेवता चिरलोकलोक कहलाते हैं-**चिरकालस्थायी लोकः चिरलोकः। चिरलोको लोको येषां ते चिरलोकलोकाः पितरः।**(रं.भा.)। पूर्व वाक्य में देवगन्धर्व को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो देवगन्धर्वों के 100 आनन्द हैं, वे सभी मिलकर पितृदेवता के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् देवगन्धर्व के आनन्द से सौ गुना पितृदेवता का आनन्द है। वह आनन्द समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ मुक्त को सहज प्राप्त है।

ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥2॥

अन्वय

ते ये चिरलोकलोकानां पितृणां शतम् आनन्दाः। सः आजानजानां देवानाम् एकः आनन्दः च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **चिरलोकलोकानाम्**-दीर्घकालस्थायी लोकों में निवास करने वाले **पितृणाम्**-पितृदेवताओं के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **आजानजानाम्**-आजानज **देवानाम्**-देवताओं का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**-और (वह) **अकामहतस्य**-कामनारहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

आजानजदेवता का आनन्द-देवलोक को आजान कहते हैं, उनमें स्मार्तकर्मविशेष से उत्पन्न होने वाले देवता आजानज कहे जाते हैं-**आजानः देवलोकः, तत्र जाताः आजानजाः। स्मार्तकर्मविशेषतो देवस्थानेषु जाता इत्यर्थः।**(रं.भा.) पूर्व वाक्य में पितृदेवता को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो पितृदेवताओं के 100 आनन्द हैं, वे सभी मिलकर आजानज देवता के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् पितृ देवता के आनन्द से सौ गुना आजानज देवता का आनन्द है। वह आनन्द समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ मुक्त को सहज प्राप्त है।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अन्वय

ते ये आजानजानां देवानां शतम् आनन्दाः। सः कर्मदेवानां देवानाम् एकः आनन्दः। ये कर्मणा देवान् अपियन्ति। च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **आजानजानाम्**-आजानज **देवानाम्**-देवताओं के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह(उन) **कर्मदेवानाम्**-कर्मदेव नाम वाले **देवानाम्**-देवताओं का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है, **ये**-जो **कर्मणा**-अग्निहोत्रादि कर्मों से **देवान्**-देवरूपों को **अपियन्ति**-प्राप्त हुए हैं **च**-और (वह) **अकामहतस्य**-कामना से रहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

कर्मदेव का आनन्द-अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान से अग्नि और इन्द्रादि के सायुज्य को प्राप्त करने वाले देवता कर्मदेव कहे जाते हैं-**अग्निहोत्रादि- कर्मणा अग्नीन्द्रादिसायुज्यं प्राप्ताः कर्मदेवाः।**(रं. भा.)। .पूर्व वाक्य में आजानज देवता को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो आजानज देवताओं के 100 आनन्द हैं,

वे सभी मिलकर कर्मदेव नाम वाले देवता के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् आजानज देवता के आनन्द से सौ गुना कर्मदेव नाम वाले देवता का आनन्द है। वह आनन्द समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ को सहज प्राप्त है।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अन्वय

ते ये कर्मदेवानां देवानां शतम् आनन्दाः। सः देवानाम् एकः आनन्दः। च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **कर्मदेवानाम्**-कर्मदेव नाम वाले **देवानाम्**-देवताओं के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **देवानाम्**-हविष् ग्रहण करने वाले देवताओं का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**-और (वह) **अकामहतस्य**- कामना से रहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

हविष्भोक्ता देव का आनन्द-हविष् को खाने वाले वसु, रुद्र आदि 33 देव कहे जाते हैं-**देवास्तु वसुरुद्रादयः त्रयस्त्रिंशत् हविर्भुजः**।(रं.भा.) पूर्व वाक्य में कर्मनाम वाले देवता को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो उन देवताओं के 100 आनन्द हैं, वे सभी मिलकर हविष् ग्रहण करने वाला देवता के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् कर्मनाम वाले देवता के आनन्द से सौ गुना अधिक हविष ग्रहण करने वाले देवता का आनन्द है। वह आनन्द समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ को अनायास प्राप्त है।

ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥3॥

अन्वय

ते ये देवानां शतम् आनन्दाः। सः इन्द्रस्य एकः आनन्दः च अकामहतस्य

श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **देवानाम्**-हविष्भोजी देवताओं के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **इन्द्रस्य**-इन्द्रदेवता का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**-और (वह) **अकामहतस्य**-कामना से रहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

इन्द्र का आनन्द-इन्द्र देवताओं का राजा है। पूर्व वाक्य में हविष्भोजी देवता को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो उन देवताओं के 100 आनन्द हैं, वे सभी मिलकर इन्द्र देवता के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् उन देवताओं के आनन्द से सौ गुना इन्द्र देवता का आनन्द है। वह आनन्द समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ को अनायास प्राप्त है।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अन्वय

ते ये इन्द्रस्य शतम् आनन्दाः। सः बृहस्पतेः एकः आनन्दः च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **इन्द्रस्य**-इन्द्र देवता के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **बृहस्पतेः**-बृहस्पति देवता का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**- और (वह) **अकामहतस्य**-कामना से रहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

बृहस्पति का आनन्द-बृहस्पति देवताओं के गुरु हैं। पूर्व वाक्य में इन्द्र देवता को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो उस के 100 आनन्द हैं, वे सभी मिलकर बृहस्पति देवता के एक आनन्द के

समान हैं अर्थात् देवराज इन्द्र के आनन्द से सौ गुना अधिक देवगुरु बृहस्पति का आनन्द है। वह आनन्द समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ को स्वभाव से प्राप्त है।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अन्वय

ते ये बृहस्पतेः शतम् आनन्दाः। सः प्रजापतेः एकः आनन्दः च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **बृहस्पतेः**-बृहस्पति देवता के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **प्रजापतेः**-चतुर्मुख ब्रह्मा का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**-और (वह) **अकामहतस्य**-कामना से रहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

चतुर्मुख का आनन्द-इस मन्त्र में प्रजापति शब्द से चतुर्मुख ब्रह्मा को लिया जाता है, दक्षादि को नहीं क्योंकि वे बहुत हैं और यहाँ एकवचन है। चतुर्मुख सभी देवताओं में प्रधान है। पूर्व वाक्य में देवगुरु बृहस्पति को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा गया था, वैसे जो उस के 100 आनन्द हैं, वे सभी मिलकर चतुर्मुख के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् बृहस्पति के आनन्द से सौ गुना चतुर्मुख का आनन्द है। वह आनन्द समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ को स्वभाव से प्राप्त है।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥4॥

अन्वय

ते ये प्रजापतेः शतम् आनन्दाः। सः ब्रह्मणः एकः आनन्दः च अकामहतस्य श्रोत्रियस्य।

अर्थ

ते-वे **ये**-जो **प्रजापतेः**-प्रजापति के **शतम्**-सौ **आनन्दाः**-आनन्द हैं, **सः**-वह **ब्रह्मणः**-परमात्मा का **एकः**-एक **आनन्दः**-आनन्द है **च**-और (वह) **अकामहतस्य**-कामना से रहित **श्रोत्रियस्य**-ब्रह्मनिष्ठ का आनन्द है।

व्याख्या

ब्रह्म का आनन्द-इस मन्त्र में ब्रह्म शब्द प्रस्तुत ब्रह्मानन्द वल्ली के उपक्रम में **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**(तै.उ.2.1.1) इस प्रकार कहे गये परब्रह्म का वाचक है। पूर्व वाक्य में चतुर्मुख को प्राप्त होने वाला सर्वोत्कृष्ट आनन्द कहा था, वैसे जो उस के 100 आनन्द हैं, वे सभी मिलकर ब्रह्म के एक आनन्द के समान हैं अर्थात् चतुर्मुख के आनन्द से सौ गुना परमात्मा का आनन्द है। वह आनन्द समस्त सांसारिक भोगों से उपरत ब्रह्मनिष्ठ को स्वाभाविकरूप से प्राप्त है। अब पूर्व में 100 गुना उत्तरोत्तर अधिक वर्णित आनन्द को संग्रह करके कहते हैं-

मनुष्यों के 100 आनन्द=मनुष्यगन्धर्वों का 1 आनन्द
मनुष्यगन्धर्वों के 100 आनन्द=देवगन्धर्वों का 1 आनन्द
देवगन्धर्वों के 100 आनन्द=पितृदेवता का 1 आनन्द
पितृदेवता के 100 आनन्द=आजानज देवता का 1 आनन्द
आजानज देवता के 100 आनन्द=कर्मदेव का 1 आनन्द
कर्मदेव के 100 आनन्द=हविष्भोक्ता देवता का 1 आनन्द
हविष्भोक्ता देवताओं के 100 आनन्द=इन्द्र का 1 आनन्द
इन्द्र के 100 आनन्द=बृहस्पति का 1 आनन्द
बृहस्पति के 100 आनन्द=चतुर्मुख का 1 आनन्द
चतुर्मुख के 100 आनन्द=ब्रह्म का 1 आनन्द

शंका-ब्रह्मानन्द अनन्त होता है किन्तु **ते ये शतम्....**इस प्रकार प्रजापति के सौ आनन्द के समान ब्रह्मानन्द को कहने से उसकी परिच्छिन्नता सिद्ध होती है।

समाधान-ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि जिस प्रकार आधे क्षण

में सूर्य के अनेकों योजन जाने पर 'बाण के समान सूर्य जाता है-इषुवद् गच्छति सविता' यह बाण से सूर्य की समानता का प्रतिपादक वाक्य सूर्य की गति की अधिकतामात्र का बोधक होता है, वह बाण की गति की अपेक्षा सूर्य की गति की तीव्रता के अभाव का बोधक नहीं है। उसी प्रकार **ते ये शतम्** यह वाक्य चतुर्मुख के आनन्द से ब्रह्मानन्द की अधिकतामात्र का बोधक है। वह चतुर्मुख के सौ गुने आनन्द से अधिक आनन्द के अभाव का बोधक नहीं है अतः उक्त वाक्य से ब्रह्मानन्द की परिच्छिन्नता सिद्ध नहीं होती।

ऊपर विस्तार से वर्णित आनन्दमय ब्रह्म जो कि ***यो वेद निहितं गुहायाम्***।*(तै.उ.2.1.1)इस रीति से हृदयगुहानिहितत्वेन उपास्यमान है, वह कैसे विग्रह से विशिष्ट है, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं-*

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।

अन्वय

असौ यः आदित्ये च सः यः अयं पुरुषे च। सः एकः।

अर्थ

पूर्वोक्त **असौ**-वह **यः**-जो आनन्दमय ब्रह्म **आदित्ये**-आदित्यमण्डल में है **च**-और **सः**-वही **यः**-जो **अयम्**-आनन्दमय **पुरुषे**-मनुष्य की हृदय गुहा में है। **सः**-वह **एकः**-एक ही है।

व्याख्या

उपास्य ब्रह्म-आदित्यमण्डल में और मनुष्य की हृदयगुहा में एक ही आनन्दमय परमात्मा स्थित है। आदित्यमण्डलस्थ परमात्मा का छान्दोग्य श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है कि आदित्यमण्डल के मध्य में कमनीय कान्ति वाला, आकर्षक श्मश्रुवाला और नख से लेकर शिरपर्यन्त आकर्षक अङ्गों वाला जो पुरुष दिखायी देता है। वह गम्भीर जल से उत्पन्न, पुष्टनाल से युक्त तथा सूर्य की किरणों से विकसित कमलदल के समान विशाल नेत्रों वाला है-**अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवम् अक्षिणी**।(छां.उ.1.6.6-7), इस

प्रकार छान्दोग्यश्रुति में वर्णित आदित्यमण्डल के अन्तर्गत कमनीय विग्रह से युक्त पुण्डरीकाक्ष परमात्मा है, वही विज्ञानमय का अन्तरात्मा हृदयगुहा में रहने वाला है। पुण्डरीकाक्षत्वादि से युक्त दिव्यमंगलविग्रह[1] वाले श्रीभगवान ही आनन्दमय हैं इसलिए विग्रहविशिष्टत्वेन हृदयगुहावर्ती परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

प्रस्तुत वल्ली में **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।**(तै.उ.2.6.2) इस प्रकार परमात्मा का विज्ञानमय जीवात्मशरीरकत्वेन और जडशरीरकत्वेन अनुसन्धान कहा गया तथा **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**(तै.उ.2.1.1) इस प्रकार स्वरूपेण अनुसंधान कहा गया। यह विषय **जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यात्।**(ब्र. सू.1.1.32) सूत्र के भाष्य में प्रतिपादित है। वहीं पर यह भी कहा गया है कि ब्रह्म का आदित्यमण्डलान्तर्वर्तिपुण्डरीकाक्षविग्रहविशिष्टत्वेन स्वरूपेण अनुसन्धान करना चाहिए।

श्रुति आनन्दमय के उपास्य होने में उपयुक्त वचनों को कहकर अब ***उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य***(*तै.उ.2.6.1*) *इस प्रकार किये गये प्रश्नों का उत्तर देती है-*

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति॥4॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

यः एवंवित्। सः अस्मात् लोकात् प्रेत्य। एतम् अन्नमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति। एतं प्राणमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति। एतं मनोमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयम् अत्मानम् उपसंक्रामति। एतम् आनन्दमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति। तद् एषः श्लोकः अपि भवति।

---

1. शिक्षावल्ली के षष्ठ अनुवाक की व्याख्या में दिव्य मंगलविग्रह का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। **सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्। नमामि पुण्डरीकाक्षममेयं गुरुतत्परम्॥**(स.स.)।

अर्थ

यः-जो (ब्रह्म) की **एवंवित्**-इस प्रकार उपासना करता है **सः**-वह (देहत्याग करके) **अस्मात्**-इस **लोकात्**-लोक से **प्रेत्य**-जाकर **एतम्**-इस **अन्नमयम्**-अन्नमयशरीरक **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रामति**-अनुभव करता है। **एतम्**-इस **प्राणमयम्**-प्राणमयशरीरक **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रामति**-अनुभव करता है। **एतम्**-इस **मनोमयम्**-मनोमयशरीरक **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रामति**-अनुभव करता है। **एतम्**-इस **विज्ञानमयम्**-विज्ञानमयशरीरक **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रामति**-अनुभव करता है। **एतम्**-इस **आनन्दमयम्**-आनन्दमय **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रामति**-अनुभव करता है। **तद्**-अभयप्रतिष्ठा के विषय में **एषः**-यह **श्लोकः**-मन्त्रात्मक श्लोक **अपि**-भी **भवति**-है।

व्याख्या

आनन्दमय का अनुभव-एतमन्नमयम् इत्यादि पाँचों स्थलों में एतत् शब्द परमात्मा का बोधक है-**एतमन्नमयमित्यादिषु पञ्चस्वपि पर्यायेषु एतच्छब्दः परमात्मपरः।** (रं.भा.)। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय शब्द अन्नमयादि के अन्तरात्मा परमात्मा के बोधक हैं-**अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमय- शब्दाः तच्छरीरकपरमात्मपराः।**(रं भा.) जैसे अन्नमयादि चारों पर्यायों में **तस्माद् वा एतस्मात्** इस प्रकार अन्नमयादि से भिन्न उनका अन्तरात्मा कहा गया था, वैसे आनन्दमय से भिन्न कुछ भी नहीं कहा गया, वह आनन्दमय ही सभी का अन्तरात्मा ब्रह्म है अतः आनन्दमय का अर्थ आनन्दमयशरीरक नहीं हो सकता। जो सत्यत्वेन, ज्ञानत्वेन, अनन्तत्वेन, आनन्दप्रदत्वेन, अभयप्रदत्वेन और दिव्यमंगलविग्रहविशिष्टत्वेन हृदयगुहान्तर्वर्ती आनन्दमय ब्रह्म की दर्शनसमानाकार उपासना करता है, वह प्रारब्ध कर्म के अवसानकाल में इस देह का त्याग कर अर्चिरादि मार्ग से त्रिपादविभूति जाकर अन्नमयशरीरक, प्राणमयशरीरक, मनोमयशरीरक और विज्ञानमयशरीरक आनन्दमय ब्रह्म का अनुभव करता है।

प्रस्तुत मन्त्र में **आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।**(तै.उ.2.8.5)इस

प्रकार मुक्तावस्था में भी अनुभाव्य-अनुभविताभाव का प्रतिपादन होने से मुक्ति में आत्मा और परमात्मा की स्वरूप एकता का पक्ष श्रुति से ही निराकृत हो जाता है।

नवमोऽनुवाकः

अभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। *(तै.उ.2.7.2)*

इस विषय में साक्षीरूप यह श्लोक कहा जाता है-

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति॥

अन्वय

मनसा सह वाचः यतः अप्राप्य निवर्तन्ते। ब्रह्मणः आनन्दं विद्वान् कुतश्चन न बिभेति इति।

अर्थ

मनसा-मन के **सह**-साथ **वाचः**-वाणी **यतः**-जहाँ से (जिस ब्रह्मानन्द से उसकी इयत्ता को) **अप्राप्य**-प्राप्त किये विना **निवर्तन्ते**-लौट आती हैं, (उस) **ब्रह्मणः**-ब्रह्म के **आनन्दम्**-आनन्द को **विद्वान्**-जानने वाला **कुतश्चन**- किसी से भी **न बिभेति**-भय नहीं करता।

व्याख्या

मन के साथ वाणी जिस ब्रह्मानन्द को पाये विना लौट आती है, उस आनन्द का अनुसन्धान करने वाला किसी से भी भय को प्राप्त नहीं होता। आनन्दगुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना से सभी भयों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

ब्रह्म के गुण अनन्त होने से वह वाणी और मन का अविषय

मन के सहित वाणी जिस ब्रह्मानन्द की इयत्ता(सीमा या परिच्छेद) को न पाकर जहाँ से लौट आती है, उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला व्यक्ति किसी से भी भय को प्राप्त नहीं होता-**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥**

'यतो वाचो निवर्तन्ते' यहाँ पर 'यतः' शब्द से निर्दिष्ट अर्थ का 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस वाक्य में आनन्द शब्द से निर्देश करके वह ब्रह्म का गुण है, इसका निर्देश 'ब्रह्मणः' इस पदमें व्यतिरेक षष्ठी से किया गया है। यदि इसे वाणी और मन का अविषय माना जाय, तो 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस वाक्य का अर्थ होगा-'वाणी और मन के अविषय ब्रह्मानन्द को जानने वाला' इस प्रकार अविषय ब्रह्मानन्द को विषय कहने पर व्याघात दोष उपस्थित होगा और यह श्रुति अनर्थक होगी। इसलिए सौ गुना उत्तरोत्तर ब्रह्मानन्द की अतिशय इयत्ता को कहने के लिए उद्यत होकर श्रुति उसकी इयत्ता का अभाव होने से ही इयत्ता को न पाकर वाणी और मन की वहाँ से निवृत्ति को कहती है। सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों के द्वारा एकाग्रता से युक्त, शुद्ध(बाह्य और आन्तरिक विषयों में प्रवृत्ति से रहित, सूक्ष्म अर्थ को जानने में समर्थ) मन से परमात्मा जाना जाता है-**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**।(क.उ.1.3.12), विशुद्ध मन से परमात्मा का साक्षात्कार होता है-**मनसा तु विशुद्धेन**।(व्या.स्मृ.) ये वाक्य परमात्मा को विशुद्ध मन का विषय कहते हैं। अतः तैत्तिरीयश्रुति का अर्थ यह है-अनन्त(इयत्तारहित) ब्रह्मानन्द की इयत्ता न पाने के कारण मन के सहित वाणी जहाँ से लौट आती है। उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला व्यक्ति संसार भय को प्राप्त नहीं होता।

निर्विशेषाद्वैतियों के मत में **यतो वाचो निवर्तन्ते** यह वाक्य वाणी और मन की ब्रह्म से सर्वथा निवृत्ति को कहता है, वह उचित नहीं क्योंकि वैसा मानने पर निर्विशेष वस्तु का बोध नहीं होगा बल्कि वाणी(शास्त्र) और मन उसके विषय में प्रमाण नहीं हैं, ऐसा बोध होने पर निर्विशेष के तुच्छत्व की सिद्धि होगी। **ब्रह्मविदाप्नोति परम्**।(तै.उ. 2.1.1.) यहाँ से आरम्भ करके ब्रह्म का विपश्चित्त्व(सर्वज्ञता), जगत्कारणत्व, ज्ञानानन्दैकतानता, दूसरों को आनन्द प्रदान करना, संकल्प से ही सम्पूर्ण संसार का कर्तृत्व, रचित पदार्थों में अनुप्रवेश करके सबका अन्तरात्मा होना, भय और अभय का कारणत्व, शतगुणित उत्तरोत्तर आनन्द के क्रम से निरतिशय आनन्दत्व तथा अन्य अनेक गुणों का कथन है। ऐसा होने पर भी 'वाक् और मन की ब्रह्म में प्रवृत्ति न होने से वह निर्विशेष है' यह कथन भ्रान्ति से सिद्ध है। इस विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि

ब्रह्म निर्विशेष होने से उसे वाक्, मन का अविषय नहीं कहा गया है बल्कि ब्रह्म के गुणों की इयत्ता न होने से इयत्ता को वाक् मन का अविषय कहा गया है। अपरिच्छिन्न(इयत्ता रहित) रूप से ब्रह्मानन्द वाक् और मन का विषय होता ही है, इसलिए **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्** ऐसा श्रुति कहती है।

वाच्यत्व और वेद्यत्व

वेद के आदि में जो प्रणव कहा जाता है तथा जो वेद के अन्त में भी रहता है, अपनी प्रकृति अकार में लीन हुए उस प्रणव का जो वाच्य है, वह महेश्वर है-**यद् वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः। तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परस्सः महेश्वरः॥**(तै.ना.उ.89), परमात्मा का नाम सत्य का सत्य है-**अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्।** (बृ.उ.2.3.6), परमात्मा का नाम उत् है-**तस्योदिति नाम।**(छां.उ.1.6.7) इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्म को प्रणव, सत्य तथा उत् पद का वाच्य कहती हैं। सम्पूर्ण वेद जिस प्राप्य का वर्णन करते हैं-**सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति।**(क.उ.1.2.15), जो हृदय गुहा में स्थित परमात्मा का साक्षात्कार करता है-**यो वेद निहितं गुहायाम्।**(तै.उ.2.1.1), परमात्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए-**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।** (बृ.उ.2.4.5), उपनिषत्प्रतिपाद्य पुरुष को पूँछता हूँ-**औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।** (बृ.उ.3.9.26), जिस ब्रह्मविद्या के द्वारा स्वरूपतः विकाररहित तथा गुणतः विकाररहित परब्रह्म को तत्त्वतः जाना जाता है, उस ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिए-**येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।**(मु.उ.1.2.13), सभी शब्दों का श्रेष्ठ वाच्य परब्रह्म है-**वचसां वाच्यमुत्तमम्।** सम्पूर्ण वेदों के द्वारा वेद्य मैं ही हूँ-**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।**(गी.15.15) इत्यादि शास्त्रवचन ब्रह्म को वेद्य(ज्ञेय) कहते हैं। **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ.2.1.1) यहाँ ब्रह्मविद् पद ही ब्रह्म के वेद्यत्व का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म को वेद्य न मानने पर ब्रह्मविद् पद व्यर्थ होता है। ब्रह्म को वेद्य मानकर ही **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**(ब्र.सू.1.1.1) इस प्रकार ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का आरम्भ होता है। वेद्य न मानने पर यह सूत्र भी निर्विषयक होता है। स्वयंप्रकाश परब्रह्म का वाच्यत्व और वेद्यत्व श्रुतियों से ही सिद्ध होने के कारण स्वयंप्रकाशत्व और वाच्यत्व में तथा

स्वयंप्रकाशत्व और वेद्यत्व में कोई विरोध नहीं है।

निर्विशेषाद्वैतमत

मन के सहित वाणी जिसे विना प्राप्त किये लौट आती है-**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**(तै.उ.2.9.1) यह श्रुति 'वाणी का अविषय अर्थात् शब्द का वाच्य परमात्मा नहीं है तथा मन का अविषय अर्थात् परमात्मा वेद्य नहीं है' यह कहती है। ऊपर परमात्मा को वाच्य एवं वेद्य कहा गया है, ऐसी स्थिति में इस श्रुति के अर्थ की क्या संगति होगी?

सविशेषाद्वैतमत

उक्त श्रुति परमात्मा को अवाच्य एवं अवेद्य नहीं कहती, वह तो परमात्मा की अपरिच्छिन्नता का प्रतिपादन करती है। अपरिच्छिन्न परमात्मा का परिच्छेद नहीं होता है, इसलिए वाणी से उसके परिच्छेद का प्रतिपादन नहीं कर सकतें तथा मन से उसके परिच्छेद को नहीं जान सकते। अपरिच्छिन्न ब्रह्म तो वाच्य है और वेद्य भी है। उसकी परिच्छिन्नता वाच्य और वेद्य नहीं है। ब्रह्म को सर्वथा अवेद्य माननेपर वेद्यत्वनिरूपण में उक्त श्रुतियाँ और **यतो वाचो** श्रुति से पूर्वपठित ब्रह्मवेत्ता पर को प्राप्त करता है- **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ.2.1.1) तथा उत्तरपठित **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।**(तै.उ. 2.9.1) इत्यादि वाक्यों से विरोध होता है। यदि कहें कि अज्ञाननाश के लिए केवल वृत्तिव्याप्ति ब्रह्म में होती है, फलव्याप्ति नहीं होती अत: ब्रह्म वेद्य नहीं होता, तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि केवल वृत्ति जड़ होने के कारण उससे अज्ञान का नाश नहीं हो सकता, ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है। फल(ज्ञान) से युक्त हुए विना वृत्ति किसी वस्तु के आकार की नहीं हो सकती, अत: ब्रह्म के आकार की वृत्ति होने से उसमें फलव्याप्ति स्वत: सिद्ध हो जाती है, इस प्रकार ब्रह्म वेद्य ही सिद्ध होता है। ब्रह्म को अवेद्य मानने पर एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भी व्यर्थ होती है। ब्रह्म को अवेद्य मानने पर ब्रह्म वेद्य नहीं है, इस वचन से भी विरोध होता है क्योंकि वेद्यत्वाभाव के ज्ञान में वेद्यत्व ज्ञान कारण होता है। अत: वेद्यत्व का ज्ञान न

होने पर उसके अभाव का भी ज्ञान नहीं हो सकता। 'ब्रह्म अवाच्य है' ऐसा कहने पर ब्रह्म पद से किसी अर्थ का बोध होता है या नहीं? यदि बोध नहीं होता है तो उसके वाच्यत्व का निषेध करना व्यर्थ है, यदि बोध होता है, तब तो वह वाच्य ही सिद्ध हो जाता है। ब्रह्म को अवाच्य मानने पर उसे प्रणव आदि का वाच्य कहने वाली पूर्वोक्त श्रुतियों से विरोध होता है तथा 'तत्त्वमसि' यह वाक्य ब्रह्म का बोधक है, वादी के इस कथन से भी विरोध होता है। ब्रह्म को अवाच्य और अवेद्य मानने पर सम्पूर्ण उपनिषदों से भी विरोध होता है। ब्रह्म को अवाच्य स्वीकार करने पर उसके वाचक शब्दरूप उपनिषत् से विरोध होता है। उपनिषत् शब्द का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या ही है। ब्रह्म को अवेद्य(ज्ञान का अविषय) मानने पर ब्रह्मविद्यारूप उपनिषत् से विरोध होता है इसलिए शास्त्रप्रमाण के अनुसार ब्रह्म को वाच्य और वेद्य स्वीकार करना चाहिए।

निर्विशेषाद्वैतमत

ब्रह्म अवाच्य है, स्वयंप्रकाश होने से-**ब्रह्म अवाच्यं स्वयंप्रकाशत्वात्।** ब्रह्म वेद्य नहीं है, स्वयंप्रकाश होने से-**ब्रह्म अवेद्यं स्वयंप्रकाशत्वात्** इन अनुमान वाक्यों से ब्रह्म को अवाच्य और अवेद्य सिद्ध किया जाता है।

सविशेषाद्वैतमत

उक्त अनुमान वाक्यों में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द से ब्रह्म अर्थ का बोध होता है या नहीं? यदि बोध होता है तो पक्षबोधक ब्रह्म शब्द का ब्रह्म वाच्य होने पर एवं विशुद्ध मन से वेद्य होने पर उससे विरुद्ध अवाच्यत्व और अवेद्यत्व साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है तथा 'मम माता वन्ध्या' इस वाक्य के समान वे अनुमान वाक्य होते हैं। ब्रह्म शब्द से ब्रह्म अर्थ का बोध न होने पर आश्रयासिद्धि आदि दोष प्रसक्त होते हैं। उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि किसी भी प्रकार ब्रह्म के अवाच्यत्व एवं अवेद्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे एक छोटी चक्षु इन्द्रिय के द्वारा विशाल पर्वत और महासागर वेद्य होता है, वैसे ही शुद्ध मन के द्वारा परमात्मा वेद्य होता है। यदि कहना चाहें कि पर्वत और सागर सावयव होने के कारण उनके एक भाग के साथ इन्द्रियसंयोग होने से वे ज्ञात होते

हैं किन्तु परमात्मा निरवयव होने से कैसे ज्ञात होगा? ऐसी शंका उचित नहीं क्योंकि परमात्मा सर्वत्र है, इसलिए वह मन के साथ भी संयुक्त है, अतः विशुद्ध मन से उसे वेद्य होने में कोई बाधा नहीं है। संसारी जनों का प्रसिद्ध दूषित मन ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन नहीं है, यह **यन्मनसा न मनुते।**(के.उ.1.6) इत्यादि श्रुतियों का प्रतिपाद्य है तथा उपासकों का विशुद्ध मन ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन है।

निर्विशेषाद्वैतमत

ब्रह्मबोधकत्वेन अभिमत ब्रह्मादि सभी शब्द लक्षणा से ही निर्विशेष ब्रह्म का बोध कराते हैं अतः ब्रह्म शब्द लक्षणा से ब्रह्म का बोधक है। शब्द की मुख्य वृत्ति का विषय ब्रह्म नहीं है।

सविशेषाद्वैतमत

यह शंका उचित नहीं है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म शब्द का कोई मुख्यार्थ(शक्यार्थ) है या नहीं? यदि मुख्यार्थ है तो उसका त्याग करके लक्ष्यार्थ ग्रहण करने की क्या आवश्यकता? तात्पर्य की असिद्धि होने पर लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है। जैसे-'गंगायां घोषः' यहाँ गंगा पद के मुख्यार्थ गंगाप्रवाह को ग्रहण करने पर तात्पर्य की सिद्धि नहीं होती क्योंकि गंगा पद के मुख्यार्थ गंगाप्रवाह में घोष(पशुपालक की झोपड़ी) संभव नहीं, इसलिए गंगा पद के मुख्यार्थ का त्याग करके लक्ष्यार्थ तीर को ग्रहण किया जाता है। यहाँ ब्रह्म पद के शक्यार्थ का त्याग करने में कोई भी असिद्धि दिखाई नहीं देती, अतः उसका त्याग उचित नहीं। यदि ब्रह्म पद का कोई शक्यार्थ नहीं है तो लक्षणा भी नहीं कर सकते क्योंकि शक्य से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ में ही लक्षणा की जाती है-**शक्यसम्बन्धो लक्षणा।** इस प्रकार मुख्यवृत्ति(शक्तिवृत्ति) स्वीकार न करने पर ब्रह्म शब्द का साधुत्व भी नहीं हो सकता क्योंकि शक्तिमूलक अनादि प्रयोग के विषय जो शब्द होते हैं, वे ही साधु माने जाते हैं। शक्ति का अभाव होने पर तन्मूलक अनादि प्रयोग का विषय शब्द नहीं हो सकता। यदि कहना चाहें कि लक्ष्य निर्विशेष ब्रह्म को ही हम काल्पनिक वाच्य स्वीकार करते हैं तो यह भी उचित नहीं क्योंकि एक ही वस्तु शक्य और लक्ष्य नहीं हो सकती। आपके मत में तो काल्पनिक वाच्यत्व

ब्रह्म से इतर वस्तुओं में भी रहता है, इस प्रकार अन्य पदार्थों के समान ही ब्रह्म सिद्ध होता है। शंकाकार के मत में **यतो वाचो निवर्तन्ते**।(तै.उ. 2.9.1) इस श्रुति का विरोधपरिहार करने के लिए ब्रह्म को वाच्य न मानकर लक्ष्य माना जाता है किन्तु इससे भी परिहार नहीं होता क्योंकि ब्रह्म को वाच्य मानें या लक्ष्य, वह दोनों ही पक्षों में शब्द से वेद्य ही सिद्ध होता है। 'बृहत्त्व गुण से विशिष्ट शक्य है एवं इससे भिन्न निर्विशेष लक्ष्य है' ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि लक्ष्यताऽवच्छेदक के आश्रय में ही लक्षणा होती है। लक्ष्यताऽवच्छेदक धर्म का आश्रय स्वीकार करने पर ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है। इस धर्म को भी न मानने पर उसमें लक्षणा नहीं हो सकती। **यतो वाचो निवर्तन्ते** इस श्रुति से वाणी और मन की निवृत्ति प्रतीत होती है, सम्बन्धविशेष की निवृत्ति प्रतीत नहीं होती है, इस प्रकार सम्बन्धविशेष का आश्रय ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है, निर्विशेष सिद्ध नहीं होता। निर्विशेषाद्वैतवादी इस श्रुति के अनुसार शब्द की शक्तिवृत्ति की निवृत्ति कहता है किन्तु इसमें प्रमाण नहीं है, इसलिए लक्षणा वृत्ति की ही निवृत्ति क्यों न स्वीकार की जाय? इसमें कोई विनिगमना नहीं है।

लक्ष्य किसी न किसी पद का वाच्य अवश्य होता है। जैसे गंगा पद का लक्ष्य तीर है, वह तीर पद का वाच्य है। जो किसी पद का वाच्य नहीं होता, वह लक्ष्य भी नहीं हो सकता। वादी के मत में निर्विशेष ब्रह्म किसी पद का वाच्य नहीं है, इसलिए वह कभी भी किसी पद का लक्ष्य नहीं हो सकता, इस प्रकार **ब्रह्मादिपदं न ब्रह्मलक्षकं ब्रह्मवाचक-पदभिन्नत्वात्, विगीतं शब्दान्तरवाच्यं लक्ष्यत्वात्** ये अनुमान प्रवृत्त होते हैं।

एतं ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम्। किमहं पापम् अकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥1॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

अहं साधु किं न अकरवम्। अहं पापं किम् अकरवम् इति। ह वाव

एतं न तपति। यः एते एवं विद्वान्। सः आत्मानं स्पृणुते। यः एते उभे एवं वेद। एषः हि आत्मानं स्पृणुते एव। इति उपनिषत्।

अर्थ

अहम्-मैंने **साधु**-पुण्य **किम्**-क्यों न-नहीं **अकरवम्**-किया। **अहम्**-मैंने **पापम्**-पाप **किम्**-क्यों **अकरवम्**- किया। अन्तिमकाल में होने वाली **इति**-यह **ह**-प्रसिद्ध चिन्ता **वाव**-केवल **एतम्**-ब्रह्मज्ञानी को **न**-नहीं **तपति**-संतप्त करती। **यः**-जो **एते**-पुण्यपाप को **एवम्**-संताप का हेतु **विद्वान्**-जानने वाला है, **सः**-वह विद्वान् ब्रह्मोपासक **आत्मानम्**-अपनी आत्मा की (पुण्यपाप से) **स्पृणुते**-रक्षा कर ही लेता है, **यः**-जो **एते**-पुण्यपाप **उभे**-दोनों को **एवम्**-संताप का हेतु **वेद**-जानता है। **एषः**-यह ब्रह्मोपासक **हि**-ही (पुण्यपाप से) **आत्मानम्**-अपनी **स्पृणुते एव**-अपनी रक्षा कर ही लेता है। **इति**-यह **उपनिषत्**-परम रहस्य है।

व्याख्या

जो जीवनकाल में ब्रह्मविद्या और उसके साधन शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त नहीं होते और अपने दुर्लभ मानवजीवन को पापमय आचरण करके पशुतुल्य भोग भोगने में व्यर्थ गंवा देते हैं, वे अन्तिम समय में 'मैंनें स्वर्गादि के साधन पुण्य कर्मों को क्यों नहीं किया? और नरक के साधन पाप कर्मों को क्यों किया'? ऐसी चिन्ता से सन्तप्त होते रहते हैं किन्तु ब्रह्मवेत्ता उससे बिल्कुल सन्तप्त नहीं होता। उसे स्वर्गादि लोक को प्राप्त करने की इच्छा का अभाव होने से पुण्य कर्म न करने का संताप नहीं होता और ब्रह्मज्ञानाग्नि से पाप कर्मों के दग्ध हो जाने से नरक का भी भय नहीं रहता, इस कारण वह पाप कर्म करने का भी संताप नहीं करता। ज्ञानी की यह महिमा ब्रह्मविद्या के कारण ही होती है। जो ब्रह्मोपासक पुण्यपापात्मक कर्मों को सन्ताप का हेतु जानता है, वह उनका परित्याग करके साधनसहित ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर उन कर्मों से अपनी रक्षा कर ही लेता है अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त करता है। वाक्य की आवृत्ति पुण्यपाप कर्मों की पूर्णतः निवृत्ति के लिए ध्यान की निरन्तरता को और अनुवाक की समाप्ति को सूचित करने के लिये है। यह महत्त्वपूर्ण रहस्य है अतः योग्य शिष्य को ही इसका उपदेश करना

चाहिए

आनन्दमयाधिकरण का विचार

प्रस्तुत उपनिषत् के इस प्रकरण का ब्रह्मसूत्र के समन्वयाध्याय के प्रथम पाद में विचार किया गया है। **तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार प्रतिपादन किया जाने वाला आनन्दमय जीवात्मा ही है क्योंकि **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः**(अ.सू.4.3.144) इस सूत्र से आनन्द शब्द से विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय का विधान किया गया है और अविकारी परमात्मा किसी का विकार(मयट् प्रत्यय का अर्थ) नहीं हो सकता। **तस्यैष शारीर आत्मा।**(तै.उ.2.5.1) इस प्रकार आनन्दमय का शरीर के साथ सम्बन्ध सुने जाने से वह जीवात्मा ही प्रतीत होता है। **अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञान-मयानन्दमया मे शुद्ध्यन्ताम्।**(तै.ना.उ.142) इस प्रकार आनन्दमय की शुद्धि सुने जाने से भी वह जीव ही सिद्ध होता है क्योंकि नित्य शुद्ध परमात्मा की शुद्धि करना संभव नहीं, यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर **आनन्दमयोऽभ्यासात्**(ब्र.सू.1.1.13) सूत्र उपस्थित होता है। **आनन्दमयः**-आकाशादि के कारणरूप से कहा गया आनन्दमय ब्रह्म ही है। **अभ्यासात्**-क्योंकि **ते ये शतमानन्दाः**(तै.उ.2.8.2) इत्यादि रीति से आवृत्ति करके बताने से आनन्दमय का ही अपरिच्छिन्न आनन्द प्रतीत होता है, वैसा आनन्द जीवात्मा का असंभावित है। ब्रह्मसूत्रकार महर्षि वेदव्यास ने **विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्**(ब्र.सू.1.1.14) इस सूत्र से बताया है कि आनन्दमय शब्द में विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय नहीं है अपितु प्रचुरता अर्थ में है। **मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः**(अ. सू.4.3.143)इस पूर्व सूत्र से **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** सूत्र में 'भाषायाम्' की अनुवृत्ति आने से विकार और अवयव अर्थ में मयट् प्रत्यय लोक में ही संभव है, वेद में नहीं। **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति** इस वैदिक वाक्य के अन्तर्गत पर्णमयी शब्द में **द्व्यच्छन्दसि**(अ.सू.4.3.150) इस विधान के बल से मयट् संभव है। आनन्द पद में दो अच् न होने से उससे विकार अर्थ में मयट् संभव नहीं इसलिए आनन्द की प्रचुरता वाला परमात्मा ही आनन्दमय है, ऐसा जानना चाहिए।

शंका-ब्राह्मणों की प्रचुरता वाला ग्राम-ब्राह्मणप्रचुरो ग्रामः, ऐसा कहने पर उस ग्राम में अब्राह्मणों की अल्पता प्रतीत होती है, इसी प्रकार आनन्द की प्रचुरता वाला-आनन्दमय, ऐसा कथन होने पर उसमें दुःख की अल्पता प्रतीत होती है इसलिए दुःख के लेश से भी रहित ब्रह्म को आनन्दमय कहना संभव नहीं।

समाधान-सूर्य प्रचुर प्रकाश वाला है-प्रचुरप्रकाशः सविता, ऐसा कहने पर जिस प्रकार उसमें अन्धकार की अल्पता प्रतीत नहीं होती। उसमें अन्धकार का लेश भी संभव नहीं अतः चन्द्र के प्रकाश की अल्पता की अपेक्षा उसके प्रकाश की अधिकता कही जाती है, इसी प्रकार जीव के आनन्द की अल्पता की अपेक्षा ब्रह्म के आनन्द की अधिकता कही जाती है। ब्रह्म के दुःख की अपेक्षा आनन्द की अधिकता नहीं कही जाती, इस प्रकार ब्रह्म में आनन्द की प्रचुरता संभव होने से आनन्दमय ब्रह्म ही है। यह आनन्दमय परमात्मा ही आनन्दप्रदान करने वाला है-**एष ह्येवाऽऽनन्दयाति।**(तै.उ.2.7.1) यह श्रुति जीव का आनन्दप्रदाता परमात्मा को कहती है, इससे भी आनन्दमय परमात्मा ही सिद्ध होता है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**(तै.उ.2.1.1) इस मन्त्रवर्ण में कहा गया ब्रह्म ही **आत्मन आकाशः सम्भूतः।** (तै.उ.2.1.2) इत्यादि रीति से आकाशादि का कारण और आनन्दमय कहा जाता है।

शंका-पूर्वोक्त मन्त्रवर्ण से प्रतिपाद्य जीवात्मा ही है, ब्रह्म नहीं।

समाधान-इस शंका के समाधान के लिये **नेतरोऽनुपपत्तेः**(ब्र.सू.1.1.17) यह सूत्र है इसका अर्थ है कि ब्रह्म से भिन्न मुक्तात्मा भी **सत्यं ज्ञानम्** इत्यादि मन्त्रवर्ण से प्रतिपाद्य नहीं है क्योंकि उसमें प्रकरण में प्रतिपादित निरुपाधिकविपश्चित्त्व, सकलजगत्कारणत्व, भयहेतुत्व और अभयहेतुत्व आदि धर्म संभव नहीं। वे परमात्मा में ही संभव होने से वही उससे प्रतिपाद्य है। **तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार विज्ञानमय शब्द से कहे गये बद्ध और मुक्त सभी जीवों से भिन्न आनन्दमय का प्रतिपादन होने से वह मुक्तात्मा नहीं हो सकता। **सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**(तै.उ.2.6.2) इस प्रकार संकल्पमात्र से जगत् की सृष्टि कही जाती है, मुक्त

उसे नहीं कर सकता, ब्रह्म ही कर सकता है। **रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**(तै.उ.2.7.1) इस प्रकार जिस आनन्दमय की प्राप्ति होने से मुक्तात्मा आनन्दी कहा जाता है, वह उससे भिन्न ही है।

शंका-आनन्दमय को ब्रह्म कहना संभव नहीं क्योंकि पुच्छ के समान आधार होने से ब्रह्म पुच्छ है-**ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार आनन्दमय का आधार होने के कारण पुच्छ शब्द से ब्रह्म कहा गया है। आनन्दमय को ही प्रधान प्रतिपाद्य मानने पर **असन्नेव स भवति।** (तै.उ.2.6.1)इस श्लोक को भी आनन्दमय का ही प्रतिपादक होना चाहिए किन्तु उसमें आनन्दमय का निर्देश नहीं है क्योंकि उसमें ब्रह्म शब्द सुना जाता है अतः पुच्छ ही ब्रह्म है, आनन्दमय नहीं।

समाधान-आनन्दमय ब्रह्म के ही किसी भेद की विवक्षा से अवयव-अवयवी का विभाग करके वैसा निर्देश संभव है अन्यथा 'आनन्द मध्यभाग है'-**आनन्द आत्मा।**(तै.उ.2.5.2) इस प्रकार मध्य अवयवरूप से निर्दिष्ट आत्मा का भी पुच्छरूप से निर्दिष्ट ब्रह्म से भेद प्राप्त होगा क्योंकि मध्य अवयव और पुच्छ का भेद अवश्यंभावी है, इसे इष्ट नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा भेद स्वीकार करने पर मध्य अवयव आत्मा आनन्दरूप होने पर पुच्छरूप से निर्दिष्ट ब्रह्म आनन्दरूप नहीं होगा। यदि किसी भेद की विवक्षा से एक ब्रह्म का ही पुच्छरूप से और मध्य अवयवरूप से निरूपण मानेंगे तो अभेद में भी अवयव-अवयवी के भेद की कल्पना संभव होती है, इसलिए आनन्दमय और ब्रह्म का भेद हो ही नहीं सकता। आनन्दमय ब्रह्म स्वीकार करने पर **अन्नमयप्राणमय-मनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुद्ध्यन्ताम्।** (तै.ना.उ.142)इस वचन की असंगति होती है, ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि यहाँ शुद्धि का अर्थ प्रसन्नता है। जीव के पाप कर्म के कारण होने वाली आनन्दमय परमात्मा की अप्रसन्नता ही अशुद्धि है और उनका प्रसन्न होना ही उनकी शुद्धि है। भक्ति और प्रपत्तिरूप उपाय से उनकी प्रसन्नता होती है। आनन्दमयाधिकरण में आनन्दमय को ही ब्रह्म कहा गया है, उसे ब्रह्म स्वीकार न करने पर अधिकरण के असम्बद्ध प्रलाप होने का भी प्रसंग होता है।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

॥ इति ब्रह्मानन्दवल्ली ॥

॥ ब्रह्मानन्दवल्ली की व्याख्या समाप्त ॥

प्रकारान्तर से ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए और ब्रह्मविद्या में तपोजन्य अन्तःकरण की निर्मलता हेतु है, इस विषय का भी प्रतिपादन करने के लिए आख्यायिका के द्वारा भृगुवल्ली आरम्भ की जाती है-

भृगुवल्ली[1]

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

प्रथमोऽनुवाकः

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत् प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

अन्वय

वै वारुणिः भृगुः पितरं वरुणम् उपससार। भगवः ब्रह्म अधीहि इति तस्मै एतत् प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचम् इति तं ह उवाच। वै इमानि भूतानि यतः जायन्ते। जातानि येन जीवन्ति। प्रयन्ति यत् अभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म इति। सः तपः अतप्यत। सः तपः तप्त्वा।

अर्थ

वै-प्रसिद्ध **वारुणिः**-महर्षि वरुण का पुत्र **भृगुः**-भृगु (अपने) **पितरम्**-पिता **वरुणम्**-वरुण के **उपससार**-समीप गया (और कहा कि) **भगवः**-हे

1. पितुः भृगोः सकाशात् विद्याग्रहणाद् इयं भृगुवल्ली इति कथ्यते।

भगवन् (मुझे) **ब्रह्म**-ब्रह्म का **अधीहि**[1]-उपदेश कीजिए **इति**-ऐसा सुनकर वरुण ने **तस्मै**-पुत्र को **एतत्**-यह **प्रोवाच**-कहा कि **अन्नम्**-अन्न ब्रह्म है। **प्राणम्**-प्राण ब्रह्म है। **चक्षुः**-चक्षु ब्रह्म है। **श्रोत्रम्**-कान ब्रह्म है। **मनः**-मन ब्रह्म है। **वाचम्**-वाणी ब्रह्म है **इति**-ऐसा सुनकर **तम्**-व्याकुल हुए पुत्र को **ह**-प्रसिद्ध वरुण ऋषि ने **उवाच**-कहा (कि) **वै**-प्रसिद्ध **इमानि**-ये **भूतानि**-सभी प्राणी **यतः**-जिससे **जायन्ते**-उत्पन्न होते हैं, **जातानि**-उत्पन्न हुए प्राणी **येन**-जिससे **जीवन्ति**-जीवनधारण करते हैं (और) **प्रयन्ति**-प्रयाण को प्राप्त करते हुए **यत्**-जिसमें **अभिसंविशन्ति**-लीन हो जाते हैं, **तद्**-उसे **विजिज्ञासस्व**-जानो। **तद्**-वह **ब्रह्म**-ब्रह्म है। **सः**-उसने **तपः**-तप **अतप्यत**-किया। **सः**-उसने **तपः**-तप **तप्त्वा**-तप करके।

व्याख्या

ब्रह्मजिज्ञासा-सुप्रसिद्ध महर्षि वरुण का पुत्र ब्रह्मजिज्ञासु भृगु समित्पाणि होकर अपने पिता के समीप जाकर बोला कि भगवन्! आप मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए, इसे सुनकर महर्षि पिता ने कहा कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक् ये ब्रह्म हैं। पिता ने पुत्र के मन को शान्त करने के लिए अन्नादि को ब्रह्म कहा था किन्तु वे सभी ब्रह्म हैं? अथवा कोई एक ब्रह्म है? उनमें भी कौन ब्रह्म है? ऐसा विचार करके पुत्र का चित्त व्याकुल हो गया, उसे देखकर परम कारुणिक पिता ने 'यतो वा इमानि' इस वक्ष्यमाण वाक्य को कहा। उसके पश्चात् पुत्र ने समझा कि पूर्वोक्त अन्नादि ब्रह्म नहीं हैं, अपितु वक्ष्यमाण लक्षणात्मक वाक्य का जो लक्ष्य है, वह ही ब्रह्म है।

चक्षु, श्रोत्रादि कार्य पदार्थों के जगत्कारण ब्रह्म होने में कोई शंका भी नहीं कर सकता तो आचार्य वरुण ने उनका उपदेश क्यों किया? वे सभी ब्रह्मज्ञान के साधन हैं, इसलिये उनका उपदेश किया। अन्नमय शरीर के विना कुछ हो ही नहीं सकता, चक्षु सभी की जीवनयात्रा का निर्वाहक है। वाणी से उपदेश, शास्त्रों का पाठ और जीवनोपयोगी व्यवहार होते हैं

---

1. अधिगमय मां ब्रह्म। अन्तर्भावितण्यर्थ एतिः। बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः इति णिलुक् इति भास्करभाष्ये।

श्रोत्रेन्द्रिय से श्रवण होता है तथा प्राणायाम के द्वारा शरीरादि साधना के अनुकूल होने पर मन से उसे जाना जाता है।

जगत्कारण ब्रह्म

शिष्यत्वेन उपस्थित हुए पुत्र भृगु के द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा करने पर आचार्य वरुण ने ब्रह्म का लक्षण करते हुए **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** इस वाक्य से जगत् के प्रति ब्रह्म का उत्पत्तिकारणत्व, **येन जातानि जीवन्ति** से स्थितिकारणत्व और **यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति** से लयकारणत्व कहा। जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण ब्रह्म है, उसी से सभी उत्पन्न होते हैं। आत्मा के विना कोई जीवित नहीं रहता। ब्रह्म सभी का आत्मा है, उसी से सभी जीवित रहते हैं। मृत्यु को प्राप्त होते हुए सभी उसी में लीन हो जाते हैं। अभिसंविशन्ति यहाँ पर सम् उपसर्ग एकीकरण अर्थ में है। एकीकृत होकर(अभिन्नत्वेन) जो प्रवेश होता है, वह संवेश अर्थात् प्रलय कहलाता है अथवा प्रयन्ति पद से मोक्ष कहा जाता है और अभिसंविशन्ति पद से प्रलय। इस पक्ष में **यत् प्रयन्ति। यत् अभिसंविशन्ति** इस प्रकार यत् शब्द की आवृत्ति का प्रसंग होता है किन्तु श्रुति **तद् ब्रह्म** इसकी आवृत्ति नहीं करती, इससे सिद्ध होता है कि जगज्जन्मादिकारणत्व में प्रत्येक ब्रह्म का लक्षण नहीं है अर्थात् जगज्जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व, (मोक्षकारणत्व) और लयकारणत्व ये पृथक् पृथक् लक्षण नहीं हैं अपितु जगज्जन्मादिकारणत्व यह एक ही लक्षण है।

प्रस्तुत मन्त्र में यतः, येन और यत् इन सर्वनाम शब्दों के द्वारा कारण का अनुवाद किया जाता है तथा 'तद् ब्रह्म' इस वाक्य से जगत्कारण के ब्रह्मत्व का विधान किया जाता है, इससे जगत्कारणत्व ब्रह्म का लक्षण सिद्ध होता है। **तद् विजिज्ञासस्व** इस वाक्य से विचार या उपासना का विधान नहीं किया जाता। वेदान्तश्रवण के अनन्तर उसकी दृढता के लिए विचारात्मक ज्ञान राग से प्राप्त होने के कारण विधेय नहीं हो सकता और उपासनात्मक ज्ञान **ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**(तै.उ.2.1.1) इस वाक्यान्तर से सिद्ध है। प्रस्तुत वल्ली के उपक्रम में कहा गया **अधीहि भगवो ब्रह्म** यह प्रश्न तत्त्वविषयक है, उपायविषयक नहीं अतः यहाँ ब्रह्मप्राप्ति का

उपाय उपासनात्मक ज्ञान विधेय नहीं हो सकता अतः विजिज्ञासस्व यह कथन उपदिश्यमान अर्थ को जानने में सावधान रहने के लिए है अथवा या गन्धवती, तां पृथिवीं विद्धि इस वाक्य के समान सन्देहनिवृत्ति के लिए है अतः प्रस्तुत वाक्य के द्वारा जगत्कारणत्व के ब्रह्मलक्षणत्व का ही विधान किया जाता है।

उपादान, सहकारी और निमित्त भेद से कारण तीन प्रकार का होता है-

उपादानकारण

कार्यरूप से परिणाम को प्राप्त होने वाली वस्तु उपादान कारण कही जाती है-**कार्यरूपेण परिणममानं वस्तु उपादानम्**। जैसे-घट का उपादान कारण मिट्टी है, पट का उपादान कारण तन्तु है।

निमित्तकारण

उपादानकारण का कार्यरूप से परिणाम करने वाली वस्तु निमित्त कारण कहलाती है-**कार्यतया परिणामयितृ निमित्तकारणम्।** निमित्तकारण चेतन कर्ता होता है। जैसे-घट का निमित्तकारण कुलाल है, पट का निमित्तकारण जुलाहा है।

सहकारी कारण

कार्य की उत्पत्ति का सहयोगी कारण सहकारी कारण कहा जाता है-**कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तु सहकारिकारणम्।** जैसे-घट के सहकारी कारण दण्ड, चक्र तथा कालादि हैं।

परमात्मा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टरूप से उपादानकारण है। **सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**(तै.उ.2.6.1) इस प्रकार कथित संकल्पविशिष्टरूप से निमित्त कारण है और काल के अन्तर्यामीरूप से सहकारी कारण है।

अभिन्ननिमित्तोपादानकारण

जगत् का उपादान और निमित्त कारण एक परमात्मा ही है। लोक में घटादि कार्यों के उपादान और निमित्त कारण भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। जैसे-घट का उपादान कारण मृत्तिका होती है और निमित्त कारण कुलाल। पट का उपादान कारण तन्तु होता है और निमित्त कारण जुलाहा किन्तु जगत् के उपादान और निमित्त कारण भिन्न-भिन्न नहीं हैं। अभिन्न

निमित्तोपादानकारणत्व का अर्थ उपादान कारण और निमित्त कारण की एकता नहीं है किन्तु उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्व के आश्रय की एकता है। लोकदृष्ट कार्यों के उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं किन्तु जगत् का उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं है। श्रुतियाँ सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म के ही सद्भाव का वर्णन करती हैं। हे सोम्य! सृष्टि के पूर्वकाल में एक सद् ब्रह्म ही था-**सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत्**।(छां.उ.6.2.1), **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्**।(बृ.उ.1.4.10), **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्**। (ऐ.उ.1.1) इत्यादि श्रुतियाँ पूर्व में विद्यमान उस ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति बताती हैं। सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म कारणत्वावस्था को प्राप्त सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है। सृष्टिकाल में वह कार्यत्वावस्था को प्राप्त स्थूलचेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है इससे स्पष्ट है कि सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूलचेतनाचेतनविशिष्ट हो जाता है। यह स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् है। ब्रह्म (सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट) ने स्वयं को जगत् (स्थूलचिद- चिद्विशिष्ट)रूप में किया-**तदात्मानं स्वयमकुरुत**।(तै. उ.2.7.1) यह श्रुति ब्रह्म को ही कारण तथा कार्य कहती है। इससे जगद्रूप में परिणाम को प्राप्त होने वाला ब्रह्म ही उपादानकारण सिद्ध होता है। 'हे सोम्य! प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में निमित्तान्तर से रहित एक सद् ब्रह्म ही था-**सदेव सोम्येदम् अग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** यह श्रुति 'इदम्' पदसे जगत् का निर्देश करती है। जगत्=नामरूप के विभाग से युक्त बहुत्व अवस्था वाला स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म। एकम्=नामरूप के विभाग से रहित एकत्व अवस्थावाला सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म। नामरूप के विभाग वाली अवस्था स्थूलावस्था कही जाती है। सृष्टि के पूर्व में नामरूप का विभाग न होने से एकत्व अवस्था होती है। एकमेव पद से नामरूपविभाग से रहित ब्रह्म कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व यह जगत् सत् (सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) ही था। इससे एकत्व अवस्था वाला सद् उपादानकारण तथा बहुत्व अवस्था वाला जगत् कार्य सिद्ध होता है। लोक में घट कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण से अतिरिक्त निमित्त कारण की अपेक्षा होती है। यहाँ पर सद् वस्तु उपादान कारण है तो निमित्तकारण कौन है? इस शंका

के समाधान के लिए 'अद्वितीयम्' पद कहा गया है। इसका भाव यह है कि जगत् का निमित्तकारण भी सद् ब्रह्म ही है, दूसरी वस्तु नहीं। घट का उपादान कारण जो मृत्पिण्ड है, वह संकल्प का आश्रय न होने से निमित्त कारण नहीं हो सकता अतः कार्य की उत्पत्ति के लिए जड़ उपादान कारण अपने से भिन्न चेतन निमित्तकारण की अपेक्षा करता है। उपादानकारण ब्रह्म चेतन है अतः उसे अपने से भिन्न निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं होती। ब्रह्म में सभी प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं, इसलिए वह संकल्पमात्र से अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। कार्यरूप में परिणत होने का सामर्थ्य कुलाल में नहीं है, इसलिए वह केवल निमित्तकारण है, उपादान कारण नहीं। इस प्रकार सकल इतर पदार्थों से विलक्षण ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होता है।

पातञ्जलयोगमत, न्यायवैशेषिकमत, माध्वमत तथा शैवमत में ईश्वर को जगत् का केवल निमित्तकारण माना जाता है। उक्तरीति से जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण सिद्ध होने से वे मत निरस्त हो जाते हैं।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्(ब्र.सू.1.4.23) इस ब्रह्मसूत्र का यह अर्थ है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है क्योंकि उपनिषदों में इस प्रतिज्ञा का वर्णन किया गया है कि एक के ज्ञान से सभी का ज्ञान होता है। इस प्रतिज्ञा के समर्थक मृत्तिका और उसके कार्य दृष्टान्त हैं। उपादानकारण ही अवस्थान्तर को प्राप्त होकर कार्य कहा जाता है। घटादि का उपादान कारण मृत्तिका है। मिट्टी ही घटत्व आदि अवस्थाओं को प्राप्त होकर घट आदि कार्य कही जाती है। मृत्तिका ही घट आदि कार्य के रूप में परिणत होती है, इसलिए मिट्टी और घटादि पदार्थ एक ही वस्तु है अतः मिट्टीरूप कारण को जानने से घटादि मिट्टी ही हैं, इस प्रकार घटादि सभी कार्य जाने जाते हैं। उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए कि उपादानकारण ब्रह्म ही कार्य जगत् के रूप में परिणत होता है अतः ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु है इसलिए उपादानकारण ब्रह्म को जानने से जगत् ब्रह्म ही है, इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् जाना जाता है, इस प्रकार प्रतिज्ञा और पूर्वोक्त दृष्टान्त से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण सिद्ध होता है इसलिए एक के विज्ञान से सब के विज्ञान की प्रतिज्ञा करके मृदादि दृष्टान्त कहे जाते हैं।

नामरूपविभाग से रहित अवस्था सूक्ष्मावस्था है। नामरूपविभाग से युक्त अवस्था स्थूलावस्था है। चेतनाचेतन में रहने वाली ये अवस्थाएँ उनसे विशिष्ट ब्रह्म में कही जाती हैं। जैसे शरीर में रहने वाले बालत्व, युवत्व आदि धर्म शरीरविशिष्ट जीव में कहे जाते हैं, यह कथन औपचारिक नहीं है क्योंकि अन्य मुख्य कथन यहाँ संभव नहीं। घट, पट आदि नाम तथा घटत्व, पटत्वादि रूप सृष्टि के पूर्वकाल में नहीं रहते। अर्थ का बोधक शब्द नाम कहा जाता है तथा आकृति को रूप कहा जाता है। इन नामरूपों का विभाग(पार्थक्य) सृष्टि के पूर्व में नहीं रहता। सूक्ष्मावस्था वाला ब्रह्म कारण होता है तथा स्थूलावस्था वाला ब्रह्म कार्य होता है। द्रव्य नित्य होने पर भी अवस्था भेद से वही कारण होता है और वही कार्य होता है। कार्य बनने वाले उत्पत्तिरहित प्रधान और पुरुष का कारण ईश्वर है-**प्रधानपुंसोरजयोः कारणं कार्यभूतयोः**।(वि.पु.1.9.37) इस श्लोक में जीव और प्रकृति को अजन्मा कहने से सृष्टि के पूर्व कारणावस्था में भी उनकी विद्यमानता सिद्ध होती है। इस वाक्य में इन दोनों को कार्य भी कहा गया है। ये दोनों नित्य तत्त्व जब सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था को प्राप्त करते हैं, तब कार्य कहे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि एक ही द्रव्य को पूर्वावस्था होने से कारण एवं उत्तरावस्था होने से कार्य कहा जाता है।

सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन परमात्मा जगत् का कारण होता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्व का अर्थ है-सूक्ष्मावस्था वाले चिदचिद् का नियमन कर्तृत्व। स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्वेन परमात्मा कार्य जगत् होता है। स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्व का अर्थ है-स्थूलावस्था वाले चिदचिद् का नियमन कर्तृत्व। अन्य विकारों को विशेषण अंश में विद्यमान होने पर भी उक्त विशिष्टत्वरूप अवस्थाएँ(विकार) साक्षात् परमात्मा में ही रहती हैं। इस कारण विशेष्य परमात्मस्वरूप को भी साक्षात् कार्य और कारण कहा जाता है। ब्रह्म सदा चेतन और अचेतन से विशिष्ट ही रहता है। विशिष्ट ब्रह्म में रहने वाला वैशिष्ट्य धर्म दोनों अवस्थाओं में स्थित चेतन-अचेतन का नियमन करनारूप है। सूक्ष्म चेतनाचेतन का नियमन करने वाला ब्रह्म कारण कहा जाता है, स्थूलचेतनाचेतन का नियमन करने वाला वही ब्रह्म कार्य कहा जाता है। ये अवस्थाएँ(वैशिष्ट्य) ही ब्रह्म को साक्षात् कार्य

और कारण कहने का हेतु हैं। सूक्ष्मचेतनाचेतन का नियमन करनारूप अवस्था होने से उसे कारण कहा जाता है तथा स्थूलचेतनाचेतन का नियमन करनारूप अवस्था होने से कार्य कहा जाता है। सभी जगत् परमात्मा से अपृथक्सिद्ध है, इसलिए जगत् परमात्मा ही है। इस व्यवहार का हेतु भी विशिष्टत्व है।

श्रुति में वर्णित अव्याकृतनामरूपवत्त्व(नामरूपविभाग से रहित सूक्ष्मावस्था) कारणावस्था है। यह कारणव्यवहार का प्रयोजक है। व्याकृतनामरूपवत्त्व (नामरूपविभाग से युक्त स्थूलावस्था) कार्यावस्था है। यह कार्यव्यवहार का प्रयोजक है। ये सद्वारक अवस्थाएँ है, ये उन्हें परम्परया कार्य और कारण कहने में हेतु हैं। पूर्व में कही अवस्थाएँ अद्वारक(साक्षात्) अवस्थाएँ है।

चेतन-अचेतन सर्वदा ब्रह्म के शरीर बनकर रहने के कारण उनके प्रकार(विशेषण) होते हैं। ब्रह्म कदाचित् नामरूपविभाग के अयोग्य सूक्ष्मावस्था को प्राप्त चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है, उसे कारणावस्था वाला ब्रह्म कहते हैं और कभी नामरूपविभाग के योग्य स्थूलावस्था को प्राप्त चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है, उसे कार्यावस्थावाला ब्रह्म कहते हैं। शब्दादि से रहित अचेतनप्रकृति को भोग्य बनने के लिए शब्दादि के आश्रयरूप से उसके स्वरूप का अन्यथाभावरूप विकार होता है। प्रलयकाल में चेतन जीवों का ज्ञानगुण अत्यन्त संकुचित रहता है। श्रीभगवान् सृष्टिकाल में उन्हें शरीर-इन्द्रिय प्रदान करते हैं, जिससे कर्मफल भोगने के अनुरूप उनके ज्ञानगुण का विकासरूप विकार होता है। दोनों प्रकारों(सूक्ष्म चेतनाचेतन और स्थूल चेतनाचेतन) से विशिष्ट नियन्ता ब्रह्म में अवस्था (सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व अवस्था) से विशिष्ट चिदचिद् की विशिष्टतारूप विकार होता है। कांरणत्वावस्था वाले (सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट) ब्रह्म का अवस्थान्तर (कार्यत्वावस्था) की प्राप्तिरूप जो विकार होता है, वह दोनों प्रकारों चेतनाचेतन तथा प्रकारी ब्रह्म में समानरूप से होता है। अचेतन प्रकृति का परिणाम तथा चेतन को शरीरेन्द्रियप्रदानपूर्वक उनके ज्ञान का विकास ही ईश्वर की सृष्टि है।

आगन्तुक, अपृथक्सिद्ध धर्म अवस्था कहलाता है-**आगन्तुकोऽपृथक्सिद्धधर्मोऽवस्था।**(श्री.प्र.च.), साक्षात् अथवा परम्परया अवस्था का

आश्रय उपादान कहलाता है-**अवस्थाश्रय उपादानम्।**(न्या.सि.), जैसे मिट्टी चूर्णत्व, पिण्डत्व, घटत्व आदि अवस्थाओं का आश्रय है। वैसे ब्रह्म अपने विशेषण चेतन और अचेतन के द्वारा सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व अवस्था का आश्रय होता है। सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता है। उसमें अचेतन अंश साक्षात् अवस्थान्तर का आश्रय है तथा चेतन अंश संकोच-विकास वाले ज्ञानगुण के द्वारा अवस्थान्तर का आश्रय है। ये दोनों ही अवस्थाएँ परम्परा सम्बन्ध से ब्रह्म में रहती हैं, इसलिए ब्रह्म उपादानकारण है। **बहु स्यां प्रजायेय।**(तै.उ.2.6.2, छां.उ.6.2.3) इस प्रकार कहे गये बहुत होने के संकल्प से विशिष्ट ब्रह्म निमित्तकारण है।

प्रकृति के स्वरूप का अन्यथाभावरूप तथा जीव के धर्मभूतज्ञान का संकोचविकासरूप जो परमात्मा की सद्वारक अवस्थाएँ हैं, वे परमात्मा की मुख्य अवस्थाएँ ही हैं, गौण नहीं। जैसे पूर्वमीमांसकमत में फल का जनक परमापूर्व[1] होता है, वह याग से जन्य होता है। इस प्रकार परमापूर्व का साक्षात् शेष याग होता है, व्रीहि आदि द्रव्य तो याग के साक्षात् शेष होते हैं और याग के द्वारा परमापूर्व के शेष होते हैं। अवघात, प्रोक्षण आदि व्रीहि के साक्षात् शेष होते हैं। वे व्रीहि आदि के द्वारा परमापूर्व के शेष होते हैं। जिस प्रकार परमापूर्व के सद्वारक शेष भी मुख्य शेष ही माने जाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा की सद्वारक अवस्थाएँ भी मुख्य अवस्थाएँ ही मानी जाती है।

शंका-लोक में कार्य के उपादान एवं निमित्त कारण भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में एक ही ईश्वर को जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण स्वीकार करना उचित नहीं।

समाधान-लोक में भी किसी कार्य का उपादान और निमित्त कारण एक ही देखा जाता है। जैसे घट उत्पन्न होने पर उसका विभु ईश्वर के साथ संयोग हो जाता है। यह संयोग ईश्वर में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है इसलिए इस संयोग का समवायिकारण ईश्वर है। नैयायिकमतानुसार

1. स्वर्गादिफल की प्राप्ति के लिए यागादि कर्म किये जाते हैं। स्वर्गादि के कारण यागादि होते हैं। कारण को कार्य के अव्यवहित पूर्व तक रहना चाहिए किन्तु यागादि क्षणिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, अतः ये फल के जनक नहीं हो सकते, इसलिए

कार्यमात्र के प्रति कर्ता ईश्वर निमित्त कारण है। इस प्रकार यहाँ नैयायिकमत में भी ईश्वर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध होता है। यदि कार्यमात्र का कर्ता ईश्वर को न माना जाय तो क्षिति, अंकुरादि सकर्तृक(कर्तृजन्य) हैं, कार्य होने से-**क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्** इस अनुमान में व्यभिचार दोष उपस्थित होगा क्योंकि घटेश्वरसंयोग का ईश्वर कर्ता न होने से उसमें सकर्तृकत्व साध्य नहीं रहता, कार्यत्व हेतु तो रहता है। इस प्रकार साध्याभाव के अधिकरण में हेतु के रहने से व्यभिचार दोष होने के कारण ईश्वरसाधक अनुमान व्यर्थ हो जायेगा। जब जीवात्मा अपनेमें बुद्धिपूर्वक ज्ञान और सुख को उत्पन्न करता है, तब बुद्धिपूर्वक उत्पन्न करने के कारण वह ज्ञान और सुख का निमित्त कारण तथा जीवात्मा में ही उत्पन्न होने के कारण समवायिकारण भी होता है। 'रथ जाता है' इत्यादि स्थलों में गमनक्रिया का कर्तारूप निमित्तकारण तथा उपादान दोनों एक ही रथ होता है, ऐसा नैयायिकों को भी मान्य है। **मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्।**(श्वे.उ.4.10)यह श्रुति प्रकृति को उपादान कारण तथा ईश्वर को निमित्तकारण कहती है। ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि यह श्रुति विकार का आश्रय जो प्रकृति है, तद्शरीरक ईश्वर को जगत् का उपादान कहती है तथा उसके नियमन द्वारा ईश्वर को निमित्तकारण कहती है, अतः उपादान और निमित्त भिन्न-भिन्न ही होते हैं, यह कथन भ्रान्तिमूलक है।

शंका-ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने पर उसमें परिणामरूप विकार भी मानना होगा, ऐसा होने पर उसके विनाशी होने का प्रसंग होगा तथा **अविकाराय शुद्धाय**(वि.पु.1.2.1) इत्यादि निर्विकारत्व के प्रतिपादक शास्त्रवचनों से विरोध होगा अतः उसे उपादानकारण स्वीकार करना उचित नहीं।

समाधान-विशिष्टब्रह्म में चेतन और अचेतन विशेषण हैं, उनके अन्तर्यामी रूप से रहने वाला ब्रह्म विशेष्य है। सूक्ष्मचिदचिद् विशेषण से विशिष्ट परमात्मा का जगद्रूप से परिणाम होने पर भी उसके विशेष्यस्वरूप में कोई विकार नहीं होता। विशेषण अंश में ही विकार होता है। जैसे-मकड़ी

पूर्वमीमांसक कर्म से जन्य अपूर्व की कल्पना करते हैं। वह फल का जनक होता है। अपूर्व अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें फल का साक्षात् जनक परमापूर्व होता है।

जाले का उपादानकारण होने पर भी उसके विशेष्यस्वरूप में विकार नहीं होता, विकार तो उसके विशेषणभूत शरीर में होता है। शरीर विशेषण के द्वारा मकड़ी का विकार होता है। ब्रह्म का विशेषण के द्वारा जगद्रूप में परिणाम(विकार) होता है। बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में **यस्य पृथिवी शरीरम्।**(बृ.उ.3.7.7) इत्यादि प्रकार से चेतन और अचेतन सभी ब्रह्म के शरीर कहे गये हैं। इन शरीररूप विशेषणों में ही विकार होते हैं, विशेष्य ब्रह्म में नहीं होते। इस प्रकार चेतनाचेतन के द्वारा ब्रह्म उपादानकारण होता है, अतः उसमें विकार की प्रसक्ति नहीं होती। यद्यपि बालत्व, युवत्व आदि धर्म शरीर में रहते हैं, आत्मा में नहीं रहते, फिर भी जैसे बालक युवक होता है, ऐसा कथन होने पर शरीरद्वारा जीवात्मा का उपादानत्व मान्य है, वैसे ही चेतनाचेतनरूप विशेषणों के द्वारा एक ब्रह्म का ही उपादानत्व मान्य है। ऐसा स्वीकार न करके केवल शरीर को उपादान स्वीकार करने पर शरीर में जीवात्मा न रहने पर भी 'बालक युवक होता है', यह व्यवहार होना चाहिए किन्तु यह व्यवहार नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि केवल शरीर उपादान नहीं है, बल्कि शरीरविशिष्ट आत्मा उपादान है। निर्विकारत्वप्रतिपादक शास्त्र विशेष्य ब्रह्मस्वरूप को निर्विकार कहते हैं। विशिष्ट ब्रह्म में विकार मानना सिद्धान्त में इष्ट है। जिस प्रकार स्वरूपतः निर्विकार जीवात्मा मनुष्यादि शरीर से विशिष्ट होने पर बालत्व, युवत्व और वृद्धत्वरूप विकार को प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्वरूपतः निर्विकार ब्रह्म चेतनाचेतनविशिष्टरूप से विकार को प्राप्त करता है। पूर्वरूप के उपमर्दनपूर्वक जो अन्यथाभावरूप विकार होता है, उसके होने से वस्तु विनाशी होती है, वह ब्रह्म में नहीं है। निर्विकारत्वप्रतिपादक शास्त्र ब्रह्म में पूर्वरूप के उपमर्दनपूर्वक होने वाले विकार के अभाव का प्रतिपादन करते हैं।

शंका-शास्त्र में कहीं-कहीं ब्रह्म के विशेषण जीव और प्रकृति को जगत्कारण कहा गया है, अतः ब्रह्म को जगत् का मुख्य कारण न मानकर गौण कारण ही मानना चाहिए।

समाधान-कार्य और कारण दोनों अवस्थाओं वाले जीव और प्रकृति उसी प्रकार परमात्मा के विशेषण होते हैं, जिस प्रकार जाति व्यक्ति का

विशेषण होती है और गुण द्रव्य का विशेषण होता है। जाति और गुण की तरह सदा विशेषण बनकर रहने के कारण जीव और प्रकृति अपृथक्सिद्ध विशेषण कहलाते हैं। जिस प्रकार अपृथक्सिद्ध विशेषण जाति और गुण के वाचक शब्द मुख्यवृत्ति से ही अपने आश्रय द्रव्य तक का बोध कराते हैं, उसी प्रकार अपृथक्सिद्ध विशेषण जीव और प्रकृति के वाचक शब्द मुख्यवृत्ति से ही अपने आश्रय परमात्मा तक का बोध कराते हैं इसलिए कारणत्वेन कहे गये जीव और प्रकृति के वाचक शब्द मुख्यवृत्ति से ही परमात्मा को कारण कहते हैं, गौणरूप से नहीं कहते।

शंका-चिदचिद् और ब्रह्म का भेद स्वीकार करने पर उनमें कार्य-कारण (उपादान-उपादेय) भाव संभव नहीं होगा तथा इनका अभेद स्वीकार करने पर आत्मशरीरभाव संभव नहीं होगा।

समाधान-उक्त शंका उचित नहीं क्योंकि वेदान्तसिद्धान्त में विशेषण और विशेष्य का भेद स्वीकार किया जाता है। ब्रह्म के विशेषण चिद्, अचिद् हैं तथा ब्रह्म विशेष्य है। कार्य-कारणभाव विशिष्ट में स्वीकार किया जाता है, ऐसा नहीं माना जाता है कि ब्रह्म कारण है, जीव और प्रकृति कार्य हैं बल्कि 'ब्रह्म ही कारण है, ब्रह्म ही कार्य है' ऐसा माना जाता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को कारण तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को कार्य माना जाता है। कारण ब्रह्म ही अवस्थाविशेष से विशिष्ट होने पर कार्य होता है। इस प्रकार विशेषण चिद्-अचित् और विशेष्य ब्रह्म का भेद होने पर विशिष्ट ब्रह्म में कार्यकारणभाव संभव होता है। कार्यकारण का अभेद होने पर भी विशेषण और विशेष्य में परस्पर भेद होने से आत्मशरीरभाव (शरीरशरीरीभाव)संभव होता है। भेद श्रुतियाँ आत्मशरीरभाव का प्रतिपादन करने के लिए उपयोगी चिद्, अचिद् और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार भेदश्रुतियाँ भी आत्मशरीरभाव का प्रतिपादन करने के लिए होती हैं। आत्मशरीरभाव तथा उपादान-उपादेयभाव के ज्ञान का फल श्रुतिप्रतिपाद्य सविशेष अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान है, उसका प्रतिपादन करने वाली अभेदश्रुतियाँ हैं। इस प्रकार सभी वेदान्तवाक्यों का उपादान ब्रह्म के ज्ञान में ही उपयोग होता है। **कारणं तु ध्येयः**।(अ.शि. उ.2.17) इस प्रकार श्रुति जगत्कारण को ध्येय कहती है। ध्यान

साक्षात्कारात्मक होकर मोक्षफल देने वाला होता है। इस प्रकार जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन ध्येय के ज्ञान में उपयोगी है।

शंका-सूक्ष्मचिदचिद्शरीरक ब्रह्म जगत् का कारण है। सूक्ष्म का अर्थ होता है-नामरूपविभाग के अयोग्य। नामरूपविभाग के अयोग्य वस्तु के लिए सूक्ष्म चिदचित् शब्द(नाम) का प्रयोग कैसे संभव होता है?

समाधान-जगत्(स्थूलचिदचिद्शरीरक ब्रह्म)रूप से परिणाम के योग्य सूक्ष्मावस्था को प्राप्त सब कुछ सृष्टि के पूर्वकाल में रहता है। इसलिए नामरूपविभाग के अयोग्य वस्तु के लिए भावी दृष्टि से सूक्ष्म चिदचित् शब्द का प्रयोग संभव होता है। उस समय सूक्ष्मावस्थापन्न चिदचित् पदार्थ परब्रह्म से अविभक्त होकर रहते हैं। इस रूप में रहने वाले को भावी दृष्टि से सूक्ष्म कहा जाता है।

'कार्य और कारण दोनों अवस्थाओं वाले चेतन और अचेतन शरीर होने से परमात्मा के प्रकार हैं। उन प्रकारों से विशिष्ट परमात्मा ही कार्य और कारण रूप से स्थित है।' इस अर्थ की बोधक कुछ श्रुतियाँ जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा कहती हैं-हे सोम्य! पृथक्-पृथक् नामरूप होने से बहुत्व अवस्था वाला यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में नामरूपविभाग न होने से एकत्व अवस्था वाला और अन्य निमित्तकारण से रहित सद् ब्रह्म ही था-**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकम् एवाद्वितीयम्।**(छां.उ.6.2.1), परब्रह्म ने संकल्प किया कि चेतनाचेतनात्मक व्यष्टि जगद्रूप से मैं ही बहुत हो जाऊँ, उसके लिए तेज, अप आदि समष्टिरूप से उत्पन्न होऊँ। उसने तेज को उत्पन्न किया-**तदैक्षत, बहु स्यां, प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत्।**(छां. उ.6.2.3) इस प्रकार आरम्भ करके आगे कहा जाता है 'हे सोम्य! अचित् से संसृष्ट ये सभी जीव सत् शब्द के वाच्य ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म के द्वारा धारण किये जाते हैं तथा ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं'-**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।**(छां.उ.6.8.4)। प्रमाण से ज्ञात यह चेतनाऽचेतनात्मक जगत् उपादान[1] और अन्तर्यामी ब्रह्म से व्याप्त है, वह इन सबका नियन्ता है, हे श्वेतकेतु! तुम्हारा अन्तरात्मा

---

1. 'मृदा कुम्भादिकं यथा' इत्युपादानस्यापि व्यापकत्वप्रसिद्धेः।(छां.उ.रं.भा.6.8.7)।

जगत्कारण ब्रह्म है-**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं**[2]**, स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।**(छां.उ.6.8.7) परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं देवमनुष्यादि रूप से बहुत हो जाऊँ, उसके लिए आकाशादि रूप से उत्पन्न हो जाऊँ। उसने रचे जाने वाले पदार्थों का संकल्परूप तप किया। उसने तप करके सम्पूर्ण जगत् की रचना की-**सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्।**(तै.उ.2.6.2) यहाँ से आरम्भ करके 'सत्य परमात्मा ही अविकारी चेतन तथा विकारी अचेतनरूप हो गया'-**सत्यं चाऽनृतं च सत्यमभवत्।**(तै.उ.2.6.3) इत्यादि कहा गया है। अब आगे छान्दोग्य और तैत्तिरीय में श्रुत्यन्तर से सिद्ध चेतन, अचेतन और परमपुरुष के स्वरूप का विवेचन किया जाता है-मैं अभिमानी देवताओं से अधिष्ठित तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीन भूतों में जीव के अन्तर्यामीरूप से अनुप्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँ-**हन्ताऽहम् इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.6.3.2)। ब्रह्म चराचर जगत् को उत्पन्न करके उसमें अनुवृत्तरूप से प्रवेश कर गया। उनमें अनुप्रवेश करके निर्विकार चेतन तथा विकारी अचेतनरूप हो गया तथा गोत्वादि जाति और शुक्लत्वादि गुणों का आश्रय अचेतन तथा इनसे रहित चेतनरूप हो गया। अचेतन वर्ग का आधार चेतन तथा आश्रित अचेतनरूप हो गया। अजड़स्वरूप चेतन तथा जड़स्वरूप अचेतन हो गया। सत्य परमात्मा ही सत्य चेतन तथा अनृत अचेतनरूप हो गया-**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च। निलयनञ्चानिलयनञ्च। विज्ञानं चाविज्ञानं च, सत्यञ्चानृतञ्च सत्यम् अभवत्।**(तै.उ.2.6.2)। यहाँ पर उद्धृत **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य** यह छान्दोग्यवाक्य और **तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्** यह तैत्तिरीय वाक्य एक ही विषय का प्रतिपादन करते हैं अतः **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य** इस श्रुति से कहा गया जीव का ब्रह्मात्मकत्व आत्मशरीरभावमूलक है। इसी प्रकार नामरूप का विभाग बृहदारण्यक में कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् नामरूपविभाग के अभाववाला अव्याकृत (सूक्ष्मचिदचित्) शरीरक ब्रह्म था। वही नामरूप से व्याकृत(विभक्त) हुआ-**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।**(बृ.उ.1.4.7) इसलिए कार्यत्वावस्था

वाला(स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरक) तथा कारणत्वावस्था वाला (सूक्ष्मचिदचिद्-वस्तुशरीरक) ब्रह्म ही है अतः कार्य और कारण का अभेद है इसलिए एक कारण ब्रह्म के ज्ञान से सभी कार्य ज्ञात होते हैं। इस प्रकार एक के ज्ञान से सभी के ज्ञात होने की प्रतिज्ञा संभव होती है। **अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.6.3.2) यहाँ **तिस्रो देवता** इस प्रकार सभी अचिद् वस्तुओं का निर्देश करके उसमें ब्रह्मात्मक जीव के अनुप्रवेश से नामरूप का विभाग कहा जाता है। इसलिए नामरूपवाले कार्य और इनके अभाव वाले कारण के वाचक शब्द अचेतन का बोध कराकर उससे विशिष्ट जीव का बोध कराते हुए जीवविशिष्ट ब्रह्म का बोध कराते हैं, इस प्रकार कारणावस्था वाले ब्रह्म के वाचक शब्द का और कार्यावस्था वाले ब्रह्म के वाचक शब्द का सामानाधिकरण्य मुख्यवृत्ति से ही होता है। इसलिए स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारक ब्रह्म ही कार्य है और ब्रह्म ही कारण है। इस प्रकार जगत् का उपादान ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

अवस्थान्तर से युक्त होना ही अचेतन की उत्पत्ति है तथा ज्ञान के विकास का जनक नूतनदेह के साथ संयोग ही जीव की उत्पत्ति है। जगत् की उत्पत्ति के कारण श्रीभगवान् हैं। देह का वियोग ही जीव की मृत्यु है। इस प्रकार जीव की उत्पत्ति और मृत्यु के प्रतिपादक **प्रजापतिः प्रजा असृजत।**(ग.पू.उ.1.2) इत्यादि वचन चरितार्थ होते है। अचेतन की तरह चेतन जीव के स्वरूप का अन्यथाभावरूप विकार नहीं होता, इस अभिप्राय से जीव की उत्पत्ति का निषेध करने वाली **न जायते म्रियते।**(क.उ.1.2.18) इत्यादि तथा जीव के नित्यत्व की प्रतिपादक **नित्यो नित्यानाम्**(क.उ.2.2.13) इत्यादि श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं।

स्थितिकारण

जिस प्रकार जल पेड़-पौधों, लता आदि के अन्दर प्रवेश करके वहीं स्थित होकर उनको जीवनप्रदान करता है, उसी प्रकार परमात्मा अपने रचे गए पदार्थों में प्रवेश करके वहीं स्थित होकर उनको जीवनप्रदान करते हैं। इस प्रकार चराचर जगत् को जीवन प्रदान करना ही स्थिति करना है। उत्पन्न हुए प्राणी जिससे स्थित(जीवित) रहते हैं, वह ब्रह्म है-**येन**

जातानि जीवन्ति।(तै.उ.3.1.1) इस प्रकार प्रस्तुत तैत्तिरीयोपनिषत् में स्थिति का कारण ब्रह्म कहा गया है।

लयकारण

जिस प्रकार हितैषी पिता कुमार्गगामी उद्दण्ड पुत्र को कुमार्ग से विरत करने के लिए रस्सी से बाँध देता है, उसी प्रकार परमहितैषी परमात्मा विषयोन्मुख, पतित जीव को विषयों से विरत करने के लिए उसकी देह, इन्द्रिय और सभी भोग्यपदार्थों का संहार कर देते हैं। यह संहार ही लय कहा जाता है। प्रयाण को प्राप्त होते हुए प्राणी जिसमें लीन हो जाते हैं-**यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**(तै.उ.3.1.1) इस प्रकार श्रीभगवान् लय के कारण कहे जाते हैं। लय का विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में प्रकृतिविवेचन में विस्तार से वर्णन किया गया है। 'जीव इस बार सुधर जायेगा' यह विचारकर श्रीभगवान् मनुष्य जन्म देते हैं। इसी प्रकार 'आगे भी सुधर जायेगा' इस आशा से प्रलयपर्यन्त यथासमय मनुष्य जन्म देते रहते हैं किन्तु जीव दुराचरण करके अपनी वासनाओं को बढ़ाता ही रहता है, तब भगवान् इसके दुराचरण और दुर्वासनाओं को दबाने के लिए प्रलय कर देते हैं।

शंका-जगत् का उपादान और निमित्तकारण ईश्वर ही है। इस विषय का प्रतिपादन मुण्डकोपनिषत्(1.1.8) के ऊर्णनाभि(मकड़ी) दृष्टान्त से नहीं होता क्योंकि उपादान के नाश से कार्य का नाश होता है इसलिए जाल का उपादान यदि मकड़ी होती तो उसके नाश से जाल का नाश हो जाना चाहिए किन्तु नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि चेतन मकड़ी केवल निमित्तकारण है और उसका जड़शरीर(उदरस्थ पदार्थ) उपादान कारण।

समाधान-उपादान और निमित्त कारण के भेद का दृष्टान्त घट है। यहाँ उपादान मृत्तिका है और निमित्त कुलाल है। ये दोनों भिन्न हैं किन्तु ऊर्णनाभि दृष्टान्त में उपादान शरीर की निमित्तकारण चेतन से पृथक् स्थिति नहीं है। श्रुति में शरीरविशेष से विशिष्ट जीव को ऊर्णनाभि कहा गया है। जैसे मृत्तिका कुलाल से पृथक् रहती है, वैसे शरीर निमित्तकारण चेतन से पृथक् नहीं रहता। जैसे कुलाल घट निर्माण के लिए अपने से भिन्न मृत्तिका की अपेक्षा करता है, वैसे ऊर्णनाभि अपने से भिन्न किसी

उपादान की अपेक्षा नहीं करती। जिस प्रकार कुम्भकार मृत्तिका से अलग रहकर मृत्तिका को घटरूप में परिणत कर देता है, उस प्रकार परब्रह्म चिदचिद् से अलग रहकर उसे जगद्रूप में परिणत कर देता है, ऐसी बात नहीं क्योंकि परब्रह्म प्रकृति से अलग नहीं रहता और प्रकृति भी उससे अलग नहीं रहती। वह उसका आश्रय लेकर ही रहती है, वह परमात्मा का आश्रय लेते हुए जगद्रूप में परिणत होती है। प्रकृति एवं उसमें होने वाले सभी विकार परमात्मा का आश्रय लेकर ही स्वरूप को प्राप्त करते हैं। प्रकृति का अन्तरात्मा ब्रह्म ही उससे होने वाले कार्यों का अन्तरात्मा है।

स्वभाव का असंकर

सूक्ष्मचेतनाचेतनशरीरक ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। इस प्रकार जगत् का उपादान ब्रह्म होने पर भी समुदाय उपादान है इसलिए चेतनाचेतन और ब्रह्म के स्वभाव का संकर(मिश्रण) नहीं होता। जैसे शुक्ल, कृष्ण और रक्त तन्तुओं का समुदाय चित्रपट का उपादान होने पर भी उस पट के उन-उन तन्तुस्थानों में ही शुक्लत्वादि रंग का सम्बन्ध होता है और इसी प्रकार कार्यावस्था में भी रंग का संकर नहीं होता, वैसे ही भोक्ता चेतन, भोग्य अचेतन और नियन्ता ईश्वर का समुदाय जगत् का उपादान होने पर जगत् की कार्यावस्था में भी भोक्तृत्व, भोग्यत्व तथा नियन्तृत्व आदि धर्मों का संकर नहीं होता। पृथक्-पृथक् रहने की योग्यता वाले तन्तु ही कर्ता की इच्छा से कभी मिलाये जाने पर कारण और कार्य होते हैं किन्तु यहाँ सभी अवस्थाओं वाले चेतनाचेतन परमपुरुष का शरीर होने के कारण उनके विशेषण होकर ही रहते हैं इसलिए उनसे विशिष्ट परमपुरुष ही कारण और कार्य होते हैं। वे ही सदा सभी शब्दों के वाच्य होते हैं। यह दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में भेद है किन्तु स्वभाव का भेद और उनका अमिश्रण दोनो में समान है।

जगत्कारणत्व का उपलक्षणत्व और विशेषणत्व

उपलक्षण और विशेषण भेद से लक्षण दो प्रकार के होते हैं। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।**(तै.उ.3.1.1) इस

वाक्य से ब्रह्म का लक्षण जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्व कहा जाता है। यह ब्रह्म का उपलक्षण होकर लक्षण बनता है अथवा विशेषण होकर लक्षण बनता है? यह विचार यहाँ प्रस्तुत है-

उपलक्षण

जो लक्षण ज्ञाप्य से बहिर्भूत होते हुए ज्ञाप्य की प्रतीति का उपाय बनता है, उसे उपलक्षण कहा जाता है-**ज्ञाप्यबहिर्भूतो ज्ञाप्यप्रतीत्युपायः उपलक्षणम्**[1]। (श्रु.प्र.1.1.2) जैसे-देवदत्त का क्षेत्र कौन है? इस प्रकार प्रश्न करने पर कोई उत्तर देता है कि जहाँ पर यह सारस पक्षी बैठा है, वह देवदत्त का क्षेत्र है। यहाँ पर देवदत्तक्षेत्र लक्ष्य है, सारस का सम्बन्ध लक्षण है। सारससम्बन्ध सदा ज्ञाप्य क्षेत्र में नहीं रहता, इसलिए यह ज्ञाप्य से बहिर्भूत होकर ज्ञाप्य की प्रतीति का उपाय होता है अतः यह लक्षण उपलक्षण कहा जाता है।

विशेषण

जो लक्षण ज्ञाप्य के अन्तर्गत होते हुए ज्ञाप्य की प्रतीति का उपाय बनता है[2], उसे विशेषण कहा जाता है-**ज्ञाप्यान्तर्भूतो ज्ञाप्यप्रतीत्युपायः विशेषणम्**[3]।(श्रु.प्र.1.1.2) जैसे पृथ्वी का लक्षण गन्धवत्त्व है। यह ज्ञाप्य पृथ्वी में रहकर उसकी प्रतीति का उपाय बनता है अतः यह लक्षण विशेषण कहलाता है।

शंका-जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का उपलक्षणरूप लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि उपलक्षण स्थल में तीन आकार अपेक्षित होते हैं-1.उपलक्षणाकार, 2.उपलक्ष्याकार और 3.पूर्वविदिताकार। सारसपक्षी वाला देवदत्त का खेत है। यहाँ सारससम्बन्ध उपलक्षणाकार है, यह लक्ष्य का बोधक होता है।

---

1. अर्थात् विशेष्य की प्रतीति में जो अविषय होकर उपाय बनता है, उसे उपलक्षण कहते हैं-**विशेष्यविषयकप्रतीतावविषयः सन् यः विशेष्यप्रतीतेरुपायः स उपलक्षणम्।**
2. ज्ञाप्य कोटि के अन्तर्गत आने वाली वस्तु ज्ञाप्य होती है तो वह ज्ञापक कैसे हो सकती है? एक ही वस्तु के ज्ञाप्य और ज्ञापक होने में विरोध नहीं है। जैसे-घटादि इन्द्रियसंयोग के हेतु होने से ज्ञापक होते हैं तथा विषय होने से ज्ञाप्य भी होते हैं।
3. अर्थात् विशेष्य की प्रतीति में जो विषय होकर उपाय बनता है, उसे विशेषण कहते हैं-**विशेष्यविषयकप्रतीतौ विषयः सन् यः विशेष्यप्रतीतेरुपायः स विशेषणम्।**

देवदत्तक्षेत्रत्व उपलक्ष्याकार है, यह लक्षण के द्वारा ज्ञात होने वाले लक्ष्य का धर्म होता है। क्षेत्रत्वसामान्य पूर्वविदित आकार है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से विदित है किन्तु यहाँ ब्रह्म में जगज्जन्मादिकारणत्व उपलक्षणाकार है। निरतिशय बृहत्त्व उपलक्ष्याकार है, यह ब्रह्म शब्द का अर्थ है। यहाँ पूर्वविदिताकार ज्ञात नहीं होता। ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है अतः पूर्वविदिताकार प्रमाणान्तर से विदित नहीं हो सकता इसलिए जन्मादिकारणत्व उपलक्षण बनकर ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता।

जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का विशेषण होकर भी लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि विशेषण भिन्न होने पर विशेष्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व इन तीन विशेषणों के होने से विशेष्य ब्रह्म भी तीन हो जायेंगे। जैसे-गाय खण्डित सींग वाली, विना सींग वाली और पूर्ण सींग वाली होती है-खण्डो मुण्डः पूर्णशृङ्गो गौः, ऐसा कहने पर तीन विशेषण वाली तीन गायें प्रतीत होती हैं। क्योंकि उक्त तीन विशेषणों से युक्त एक गाय नहीं हो सकती, इससे सिद्ध होता है कि विशेषण अपने आश्रय विशेष्य की दूसरे से व्यावृत्ति कराता है। व्यावर्तकत्व(भेदक होना) विशेषणों का स्वभाव है। जहाँ प्रत्यक्षप्रमाण से विशेष्य की एकता सिद्ध होती है, वहाँ विशेषण विशेष्य के भेदक नहीं होते। ब्रह्म प्रत्यक्षप्रमाण का विषय नहीं है अतः यहाँ तीन विशेषण होने से ब्रह्म भी तीन हो जायेंगे किन्तु एक ही ब्रह्म सबका अभिमत है अतः जन्मादिकारणत्व को विशेषणरूप लक्षण मानने से उसकी सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार जन्मादिकारणत्व विशेषण होकर भी ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता।

समाधान-'पूर्वविदिताकार ज्ञात न होने से जन्मादिकारणत्व उपलक्षण होकर ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता' यह कथन असंगत है क्योंकि बृहत्त्व सामान्य ही पूर्वविदिताकार है। सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व धर्म ही बृहत्त्व सामान्य हैं। ब्रह्म की जगत्कारणता का श्रवण होते ही यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है। सर्वज्ञता के विना वह विविध -विलक्षण जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता तथा सर्वशक्तिमत्त्व के विना वह जगत् के रूप में परिणत नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्वविदिताकार सिद्ध होने से जन्मादिकारणत्व उपलक्षण होकर ब्रह्म का

लक्षण होता है।[1]

"जन्मादिकारणत्व विशेषण होकर ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता" यह कथन भी असंगत है क्योंकि विशेषण के भेद से विशेष्य में भेद वहाँ होता है, जहाँ विरुद्ध विशेषण होते हैं। जैसे-खण्डत्व, मुण्डत्व और पूर्णशृङ्गत्व विरुद्ध विशेषण हैं क्योंकि वे एक गाय में विद्यमान नहीं रहते अतः यहाँ विशेषण के भेद से विशेष्य में भेद स्वीकार करना युक्तिसंगत है किन्तु अविरुद्ध विशेषण अपने विशेष्य के भेदक नहीं होते। जैसे-श्याम वर्ण वाला, लाल आँखों वाला, युवावस्था वाला देवदत्त है-**श्यामो युवा लोहिताक्षो देवदत्तः**। यहाँ पर श्यामवर्ण, युवावस्था और लाल आँखें एक देवदत्त में विद्यमान होती हैं अतः ये अविरुद्ध विशेषण होते हैं इसलिए ये अपने आश्रय विशेष्य के भेदक नहीं होते। इसी प्रकार **नीलम् उत्पलम्** यहाँ पर नीलत्व विशेषण अपने विरुद्ध रक्तत्व धर्म के आश्रय से अपने आश्रय उत्पल का भेदक होता है किन्तु वह अपने अविरुद्ध दीर्घत्व तथा गन्ध आदि के आश्रय से अपने आश्रय का भेदक नहीं होता, वैसे ही जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व तीनों अविरुद्ध विशेषण हैं, वे एक ही ब्रह्म में विद्यमान होते हैं। एक ही ब्रह्म कालभेद से जन्मादि का कारण होता है। **तद् ब्रह्म**।(तै.उ.3.1.1) इस प्रकार एकवचन के प्रयोग से ब्रह्म का एकत्व ज्ञात होता है और ये धर्म उसी एक के ही ज्ञात होते हैं। अतः जन्मादिकारणत्व को विशेषण बनकर ब्रह्म का लक्षण होने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका-जगत्कारणत्व को परस्परविरुद्ध विशेषण और उपलक्षण कैसे माना जा सकता है?

समाधान-प्रकृति, पुरुष तथा काल से विशिष्ट ब्रह्म का लक्षण जगत्कारणत्व है। विशेष्य ब्रह्मस्वरूप का लक्षण आनन्दादि है। विशिष्ट के अनुसंधान में कारणत्व अनुसंधेय है, विशेष्य के अनुसंधान में कारणत्व अनुसंधेय

---

1. यहाँ 'ब्रह्म का जगत्कारणत्व' के विषय में सन्देह नहीं किया गया है अपितु शास्त्रप्रमाण से सिद्ध जगत्कारणत्व उपलक्षण होकर ब्रह्म का लक्षण है? अथवा विशेषण होकर, यही विचार यहाँ प्रस्तुत है। शंकाकार कें अनुसार वह उपलक्षण होकर भी ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता। इसी शंका का उक्त समाधान किया गया है।

नहीं है। जगत्कारणत्व चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में रहता है, शुद्धस्वरूप (विशेष्यमात्र) में नहीं रहता इसलिए वह शुद्धस्वरूप का उपलक्षण माना जाता है। विशेष्य ब्रह्मस्वरूप में न रहने वाले जगत्कारणत्व को उसका उपलक्षण कैसे माना जा सकता है? यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैसे लक्ष्य चन्द्र में अविद्यमान शाखा का अग्रभाग चन्द्र का उपलक्षण होता है, वैसे ही विशेष्य ब्रह्म में अविद्यमान जगत्कारणत्व ब्रह्म का उपलक्षण होता है। चन्द्रमा का बोध कराने के लिए 'शाखा के अग्रभाग में चन्द्र है' ऐसा कहा जाता है। यहाँ चन्द्र उपलक्ष्य है, शाखाग्र उपलक्षण है। शाखाग्र को चन्द्रस्वरूप का स्पर्श न करने से तटस्थलक्षण कहा जाता है किन्तु इन दोनों का ऋजुभावरूप(तत्समरेखान्तः पातित्वरूप)सम्बन्ध है ही। फिर भी ज्ञाप्य से बहिर्भूत होने के कारण शाखाग्र को उपलक्षण कहा जाता है। ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण, उसमें लीन होने के कारण तथा उससे जीवनप्राप्त करने के कारण इस सम्पूर्ण जगत् का आत्मा ब्रह्म है, ऐसा जानकर शान्त होकर ब्रह्मोपासना करनी चाहिए-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत।**(छां.उ.3.14.1) इत्यादि वाक्यों से विहित जिन उपासनाओं में ब्रह्म के जगत्कारणत्व का अनुसंधान किया जाता है, उनमें ज्ञाप्यकोटि के अन्तर्गत होने से जगत्कारणत्व ज्ञाप्य ब्रह्म का विशेषण होता है और जिन उपासनाओं में जगत्कारणत्व का अनुसंधान नहीं किया जाता, उनमें ज्ञाप्य के अन्तर्गत न होने से जगत्कारणत्व उपलक्षण होता है। अभिन्ननिमित्तो- पादानकारणत्व के प्रतिपादन में विशिष्ट ब्रह्म को कारण स्वीकार करके विशेष्य ब्रह्मस्वरूप को भी कारण स्वीकार किया गया है, इसलिए 'पाराशर्यविजय' ग्रन्थ में विशेष्य में रहने वाले जगत्कारणत्व को ब्रह्म का विशेषण कहा गया है तथा विशेष्य में न रहकर प्रपञ्च में रहने वाले जन्मादि को ब्रह्म का उपलक्षण कहा गया है।

'जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व इनमें से प्रत्येक इतर की व्यावृत्ति कराने में समर्थ है इसलिए 'ये तीनों पृथक्-पृथक् ब्रह्म के लक्षण हैं' ऐसा कुछ आचार्यों का मत है किन्तु 'हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए-**अधीहि भगवो ब्रह्मेति।**(तै.उ.3.1.1) इस प्रकार मुमुक्षु के द्वारा जिज्ञास्य ब्रह्म के विषय में प्रश्न किये जाने पर यदि "जो जगत् के जन्म का कारण है, वह ब्रह्म है" ऐसा उत्तर दिया जाता तो "स्थिति

का कारण कोई दूसरा है" ऐसी शंका होती और उस दूसरे के भी जिज्ञास्य होने की शंका होती। 'यही ब्रह्म जिज्ञास्य है' ऐसा निश्चय नहीं होता अतः एक ही जिज्ञास्य ब्रह्म का निश्चय कराने के लिए श्रुति तीन बार यत् शब्द का प्रयोग करने पर भी एक ही बार तद् शब्द का प्रयोग करती है इसलिए प्रत्येक लक्षण न होकर जन्मस्थितिलयकारणत्व इस प्रकार समुदाय लक्षण होता है।

शंका-जगज्जन्मादिकारणत्व यह समुदाय किसी का व्यावर्तक न होने से निष्प्रयोजन है अतः लक्षण नहीं हो सकता।

समाधान-समुदाय लक्ष्याकार से विपरीत शंका का निवारण करने में समर्थ होने से सप्रयोजन है अतः लक्षण हो सकता है। जन्मकारणत्वमात्र ब्रह्म का लक्षण करने पर स्थिति और लय का कारण कोई दूसरा है, ऐसी शंका होने से जगज्जन्ममात्र के कारण ब्रह्म का निरतिशय बृहत्त्व सिद्ध नहीं होगा इसी प्रकार स्थितिमात्रकारणत्व लक्षण करने पर उत्पत्ति और लय का कारण दूसरा है, ऐसी शंका होने से स्थितिमात्र के कारण ब्रह्म का निरतिशय बृहत्त्व सिद्ध नहीं होगा, अतः जगज्जन्मकारणत्वादि में प्रत्येक इतर का व्यावर्तक होने पर भी जन्मादिसमुदायकारणत्व को निरतिशय बृहत्त्व समझने में उपयोगी होने से उसे लक्षण माना जाता है।

शंका-जिस प्रकार शाखाग्र चन्द्र का तटस्थलक्षण है, उसी प्रकार जन्मकारणत्व आदि भी ब्रह्म के तटस्थ लक्षण ही हैं, विशेषणभूत लक्षण नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म समस्त विशेषणों से रहित है। जिस प्रकार शाखाग्र से उपलक्षित चन्द्रमा के स्वरूप में प्रकृष्टप्रकाशत्वादि धर्म रहते हैं, उसी प्रकार जगत्कारणत्व से उपलक्षित ब्रह्म में सर्वज्ञत्व आदि धर्म रहते है, ऐसा कहना प्रासंगिक नहीं है क्योंकि चन्द्रमा में प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण तथा अबाधित होने के कारण प्रकृष्टप्रकाशत्व धर्म को स्वीकार किया जाता है किन्तु यहाँ निर्विशेष ब्रह्म में किसी भी प्रमाण से सिद्ध न होने से तथा **सत्यं ज्ञानम्** इस सामानाधिकरण्यश्रुति के द्वारा निर्विशेष अर्थ का प्रतिपादन होने से सर्वज्ञत्वादि कोई भी धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता।

समाधान-भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्दों का एकार्थबोधकत्व सामाना-

धिकरण्य कहा जाता है–**भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानां एकस्मिन् अर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।**(महा.प्र.1.2.42) **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म** यह वाक्य सत्य, ज्ञान और अनन्त पदों के अर्थ के अभेद का प्रतिपादन करता है। इन तीनों पदों के प्रवृत्तिनिमित्त क्रमशः सत्यत्व, ज्ञानत्व और अनन्तत्व हैं। इस प्रकार **सत्यं ज्ञानम्** यह वाक्य सत्यत्व, ज्ञानत्व और अनन्तत्व धर्म से विशिष्ट एक ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। विशेषणरहित एक अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता।

ब्रह्म को जगत्कारण स्वीकार करने पर यह शंका होती है कि जिस प्रकार लोक में कारण बनने वाले पदार्थों में बद्धत्व, अल्पज्ञत्व तथा परिच्छिन्नत्वादि दोष होते हैं, क्या जगत्कारण ब्रह्म में भी ये दोष हैं? इस शंका को दूर करने के लिए **सत्यं ज्ञानम्** यह शोधकवाक्य प्रवृत्त होता है। वह ब्रह्म को सबसे विलक्षण पदार्थ बताकर इस शंका को दूर कर देता है, इससे ब्रह्म निर्दोष सिद्ध होता है किन्तु इससे उसमें सर्वज्ञत्वादि का अभाव सिद्ध नहीं होता। ब्रह्म में जगत्कारणत्व धर्म विद्यमान होने से वह उसका विशेषणभूत लक्षण होता है, इससे उक्त शंका निराधार सिद्ध होती है।

तप

महर्षि वरुण ने यह ब्रह्म है, इस प्रकार सरल रीति से ब्रह्मोपदेश नहीं किया अपितु **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** इत्यादि रीति से ब्रह्म के लक्षण के उपदेशपूर्वक 'विजिज्ञासस्व' ऐसा कहा, इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मज्ञान के साधन को प्राप्त कर उक्त लक्षण से लक्षित ब्रह्म को जानो। पिता के इस अभिप्राय को समझकर भृगु ने यह विचार किया कि इन्द्रियनिग्रहात्मक तप[1] ब्रह्मविद्या का अन्तरंग उपाय है, इस कारण उसने तप किया। 'तप को करके' इस वाक्य का अग्रिम मन्त्र के साथ सम्बन्ध है।

द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

---

1. तप का व्याख्यान प्रश्नोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या में देखना चाहिए।

अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्वय

अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्। हि खलु अन्नात् एव इमानि भूतानि जायन्ते। जातानि अन्नेन जीवन्ति। प्रयन्ति अन्नम् अभिसंविशन्ति। इति तद् विज्ञाय। पुनः पितरं वरुणम् एव उपससार। भगवः ब्रह्म अधीहि इति। तं ह उवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपः ब्रह्म इति स तपः अतप्यत। स तपः तप्त्वा।

अर्थ

अन्नम्-अन्न **ब्रह्म**-ब्रह्म है, **इति**-ऐसा **व्यजानात्**-जाना **हि**-क्योंकि **खलु**-वस्तुतः **अन्नात्**-अन्न से **एव**-ही **इमानि**-ये **भूतानि**-सभी प्राणी **जायन्ते**-उत्पन्न होते हैं। **जातानि**-उत्पन्न हुए प्राणी **अन्नेन**-अन्न से **जीवन्ति**-जीवित रहते हैं। **प्रयन्ति**-प्रयाण को प्राप्त होते हुए **अन्नम्**-अन्न में **अभिसंविशन्ति**-लीन हो जाते हैं। **इति**-इस प्रकार **तद्**-ब्रह्म को **विज्ञाय**-जानकर (अपने अनुभूत विषय में सन्तुष्ट न होकर) **पुनः**-पुनः **पितरम्**-पिता **वरुणम्**-वरुण के **एव**-ही **उपससार**-समीप गया (और जाकर) **भगवः**-हे भगवन् **ब्रह्म**-ब्रह्म का **अधीहि**-उपदेश कीजिए **इति**-इस प्रकार प्रार्थना की, तब **तम्**-भृगु को **ह**-प्रसिद्ध वरुण ऋषि ने **उवाच**-कहा। **तपसा**-तप से **ब्रह्म**-ब्रह्म को **विजिज्ञासस्व**-जानो। **तपः**-तप **ब्रह्म**-ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन है, **इति**-इस प्रकार (पिता की आज्ञा प्राप्त कर) **सः**-भृगु ने **तपः**-तप **अतप्यत**-किया। **सः**-उसने **तपः**-तप **तप्त्वा**-करके।

व्याख्या

अन्नमय-भृगु ऋषि ने अपने पिता आचार्य वरुण के उपदेशानुसार इन्द्रियनिग्रह रूप तप करके अन्न ब्रह्म है, ऐसा जाना क्योंकि उनके द्वारा उपदिष्ट ब्रह्म के लक्षण अन्न में हैं। पूर्व वल्ली में अन्न का अर्थ अन्नमय शरीर किया था, यहाँ भी वही अर्थ है। शरीर के विना कोई

भी प्राणी सन्तान की उत्पत्ति नहीं कर सकता, शरीर से ही सभी प्रजा उत्पन्न होती है अथवा अन्न खाकर लोग प्रजा को उत्पन्न करते हैं, इस प्रकार प्रजा की उत्पत्ति में अन्न ही कारण होता है। यहाँ अन्न का अर्थ है-अदनीय वस्तु अर्थात् खाद्य पदार्थ। उत्पन्न हुए सभी प्राणी अन्न खाकर ही जीवित रहते हैं। अधिक अपथ्य अन्न खाकर अजीर्णादि रोगों से ग्रस्त होकर प्रजा मर जाती है और अन्न न मिलने पर भी प्रजा मर जाती है, इस प्रकार उनके विनाश (लय) का कारण अन्न ही होता है। वह अन्न का कारण पृथ्वी में लीन भी हो जाती है, ऐसा जानकर विचार करने पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अन्न उत्पत्तिविनाश वाला है अतः वह जगत् का कारण कैसे हो सकता है? जगत् का कारण जगत् की उत्पत्ति के पूर्व रहना चाहिए किन्तु जिसका अस्तित्व पहले से नहीं है, वह जगत् का कारण नहीं हो सकता? उसके विनाश का कारण उसके विनष्ट होने के पश्चात् भी रहना चाहिए किन्तु जो स्वयं विनाशी है, वह समस्त प्राणियों के विनाश का कारण नहीं हो सकता? इसलिए वह पुनः ब्रह्मजिज्ञासा से पिता के समीप गया और उपदेश प्रदान करने की प्रार्थना की। पिता ने ब्रह्मज्ञान का साधन तप को बताया। उसने पिता की आज्ञा प्राप्त करके तप किया। **स तपस्तप्त्वा** इस वाक्य का सम्बन्ध अग्रिम मन्त्र से है।

तृतीयोऽनुवाकः

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अन्वय

प्राणः ब्रह्म इति व्यजानात्। हि खलु प्राणात् एव इमानि भूतानि जायन्ते। जातानि प्राणेन जीवन्ति। प्रयन्ति प्राणम् अभिसंविशन्ति इति। तद् विज्ञाय। पुनः पितरं वरुणम् एव उपससार। भगवः ब्रह्म अधीहि इति। तं ह उवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपः ब्रह्म इति स तपः अतप्यत। स तपः तप्त्वा।

अर्थ

प्राण-प्राण **ब्रह्म**-ब्रह्म है, **इति**-ऐसा **व्यजानात्**-जाना **हि**-क्योंकि **खलु**-वस्तुतः **प्राणात्**-प्राण से **एव**-ही **इमानि**-ये **भूतानि**-सभी प्राणी **जायन्ते**-उत्पन्न होते हैं। **जातानि**-उत्पन्न हुए प्राणी **प्राणेन**-प्राण से **जीवन्ति**- जीवित रहते हैं। **प्रयन्ति**-प्रयाण को प्राप्त होते हुए **प्राणम्**-प्राण में **अभि संविशन्ति**-लीन हो जाते हैं। **इति**-इस प्रकार **तद्**-ब्रह्म को **विज्ञाय**-जानकर (अपने अनुभूत विषय में सन्तुष्ट न होकर) **पुनः**-पुनः **पितरम्**-पिता **वरुणम्**-वरुण के **एव**-ही **उपससार**-समीप गया। **भगवः**-हे भगवन् **ब्रह्म**-ब्रह्म का **अधीहि**-उपदेश कीजिए **इति**-इस प्रकार प्रार्थना की, तब **तम्**-भृगु को **ह**-प्रसिद्ध वरुण ऋषि ने **उवाच**-कहा। **तपसा**-तप से **ब्रह्म**- ब्रह्म को **विजिज्ञासस्व**-जानो। **तपः**-तप **ब्रह्म**-ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन है, **इति**-इस प्रकार (पिता की आज्ञा प्राप्त कर) **सः**-भृगु ने **तपः**-तप **अतप्यत**-किया। **सः**-उसने **तपः**-तप **तप्त्वा**-करके।

व्याख्या

प्राणमय-भृगु ने तप करके जाना कि अन्नात्मक शरीर का आधार प्राण है अतः उससे श्रेष्ठ होने से प्राण ब्रह्म है। प्राण वायुविशेष है, इसके विना प्राणधारी का कोई कार्य नहीं हो सकता। वह प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है। प्राण के अधीन ही प्राणियों की शरीर में स्थिति है अतः स्थिति का कारण वही है और प्राणवियोग होने पर मृत्यु हो जाती है, इस प्रकार मृत्यु का भी कारण प्राण ज्ञात होता है। इसमें ब्रह्म के जगज्जन्मादिकारणत्व लक्षण का समन्वय होता है अतः यही ब्रह्म है किन्तु वह अन्त में विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्राण भी भौतिक होने से उत्पत्तिविनाशशाली है अतः यह भी ब्रह्म नहीं हो सकता, इसलिए अपनी अनुभूति से सन्तुष्ट न होकर पुनः ब्रह्मविविदिषा से आचार्य वरुण के समीप गया और आचार्य ने यह समझकर कि अभी और भी चित्तशुद्धि अपेक्षित है अतः उसके साधन तप से ब्रह्म को जानने के लिए कहा। पिता के निर्देश से उसने तप किया।

चतुर्थोऽनुवाकः

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अन्वय

मनः ब्रह्म इति व्यजानात्। हि खलु मनसः एव इमानि भूतानि जायन्ते। जातानि मनसा जीवन्ति। प्रयन्ति मनः अभिसंविशन्ति इति तद् विज्ञाय। पुनः पितरं वरुणम् एव उपससार। भगवः ब्रह्म अधीहि इति। तं ह उवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपः ब्रह्म इति स तपः अतप्यत। स तपः तप्त्वा।

अर्थ

मन-मन **ब्रह्म**-ब्रह्म है, **इति**-ऐसा **व्यजानात्**-जाना हि-क्योंकि **खलु**-वस्तुतः **मनसः**-मन से **एव**-ही **इमानि**-ये **भूतानि**-सभी प्राणी **जायन्ते**-उत्पन्न होते हैं। **जातानि**-उत्पन्न हुए प्राणी **मनसा**-मन से **जीवन्ति**-जीवित रहते हैं। **प्रयन्ति**-प्रयाण को प्राप्त होते हुए **मनः**-मन में **अभिसंविशन्ति**-लीन हो जाते हैं। **इति**-इस प्रकार **तद्**-ब्रह्म को **विज्ञाय**-जानकर (अपने अनुभूत विषय में सन्तुष्ट न होकर) **पुनः**-पुनः **पितरम्**-पिता **वरुणम्**-वरुण के **एव**-ही **उपससार**-समीप गया। **भगवः**-हे भगवन् **ब्रह्म**-ब्रह्म का **अधीहि**- उपदेश कीजिए **इति**-इस प्रकार प्रार्थना की, तब **तम्**-भृगु को **ह**-प्रसिद्ध वरुण ऋषि ने **उवाच**-कहा। **तपसा**-तप से **ब्रह्म**-ब्रह्म को **विजिज्ञासस्व**- जानो। **तपः**-तप **ब्रह्म**-ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन है, **इति**-इस प्रकार (पिता की आज्ञा प्राप्त कर) **सः**-भृगु ने **तपः**-तप **अतप्यत**-किया। **सः**-उसने **तपः**-तप **तप्त्वा**-करके।

व्याख्या

मनोमय-भृगु ने तप करके जाना कि प्राण से भी श्रेष्ठ मन है क्योंकि सुषुप्ति में प्राण सक्रिय रहने पर भी मन निष्क्रिय हो जाने से व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता, इसमें ब्रह्म का लक्षण समन्वित होने से यह ब्रह्म है। मन के अधीन ही सभी कार्य हैं। प्राणी की उत्पत्ति में भी मन कारण है। अणुपरिमाण वाला मन शरीर में रहने पर ही प्राणी का जीवन रहता है

और उसके शरीर से निकल जाने पर मृत्यु हो जाती है, इस प्रकार यही स्थिति और लय का कारण सिद्ध होता है किन्तु अन्त में विचार करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मन भी भौतिक होने से उत्पत्तिविनाशशाली है अतः यह भी ब्रह्म नहीं इसलिए अपनी अनुभूति से सन्तुष्ट न होकर पुनः ब्रह्मजिज्ञासा से आचार्य वरुण के समीप गया और उसके निर्देश से भृगु ने पुनः तप किया।

पञ्चमोऽनुवाकः

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

विज्ञानं ब्रह्म इति व्यजानात्। हि खलु विज्ञानात् एव इमानि भूतानि जायन्ते। जातानि विज्ञानेन जीवन्ति। प्रयन्ति विज्ञानं अभिसंविशन्ति इति। तद् विज्ञाय पुनः पितरं वरुणम् एव उपससार। भगवः ब्रह्म अधीहि इति। तं ह उवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपः ब्रह्म इति स तपः अतप्यत। स तपः तप्त्वा।

अर्थ

विज्ञानम्-विज्ञान **ब्रह्म**-ब्रह्म है, **इति**-ऐसा **व्यजानात्**-जाना **हि**-क्योंकि **खलु**-वस्तुतः **विज्ञानात्**-विज्ञान से **एव**-ही **इमानि**-ये **भूतानि**-सभी प्राणी **जायन्ते**-उत्पन्न होते हैं। **जातानि**-उत्पन्न हुए प्राणी **विज्ञानेन**-विज्ञान से **जीवन्ति**-जीवित रहते हैं। **प्रयन्ति**-प्रयाण को प्राप्त होते हुए **विज्ञानम्**-विज्ञान में **अभिसंविशन्ति**-लीन हो जाते हैं। **इति**-इस प्रकार **तद्**-ब्रह्म को **विज्ञाय**-जानकर (अपने अनुभूत विषय में सन्तुष्ट न होकर) **पुनः**-पुनः **पितरम्**-पिता **वरुणम्**-वरुण के **एव**-ही **उपससार**-समीप गया। **भगवः**-हे भगवन् **ब्रह्म**-ब्रह्म का **अधीहि**-उपदेश कीजिए **इति**-इस प्रकार प्रार्थना की, तब **तम्**-भृगु को **ह**-प्रसिद्ध वरुण ऋषि ने **उवाच**-कहा।

तपसा-तप से **ब्रह्म**-ब्रह्म को **विजिज्ञासस्व**-जानो। **तपः**-तप **ब्रह्म**-ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन है, **इति**-इस प्रकार (पिता की आज्ञा प्राप्त कर) **सः**-भृगु ने **तपः**- तप **अतप्यत**-किया। **सः**-उसने **तपः**-तप **तप्त्वा**-करके।

व्याख्या

विज्ञानमय-भृगु ने तप करके जाना कि मन से भी श्रेष्ठ विज्ञान है। यह आनन्दवल्ली में कहा ही गया है कि विज्ञान की प्रचुरता वाला जीवात्मा विज्ञान शब्द का वाच्य है। मन भी इसके आश्रित रहता है। विज्ञान ब्रह्म है क्योंकि वह ब्रह्म के लक्षण से युक्त है। विज्ञान को देह से युक्त होने पर प्राणी कहा जाता है। प्राणी की उत्पत्ति में विज्ञान कारण है। उसके देह में रहने पर जीवन रहता है और उसके देह में न रहने पर जीवन नहीं रहता, इस प्रकार स्थिति और लय में भी वही कारण होता है किन्तु अन्त में विचार करके भृगु इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विज्ञानमय जीवात्मा भी पराधीन, अल्पज्ञ और असमर्थ है अतः वह भी ब्रह्म नहीं हो सकता इसलिए अपनी अनुभूति से सन्तुष्ट न होकर पुनः ब्रह्मविविदिषा से आचार्य वरुण के समीप गया। ब्रह्मविद्या के लिए अभी और भी एकाग्रता अपेक्षित है, ऐसा समझकर आचार्य ने उसके साधन तप से ब्रह्म को जानने के लिए कहा।

षष्ठोऽनुवाकः

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

अन्वय

आनन्दः ब्रह्म इति व्यजानात्। हि खलु आनन्दात् एव इमानि भूतानि जायन्ते। जातानि आनन्देन जीवन्ति। प्रयन्ति आनन्दं अभिसंविशन्ति इति।

अर्थ

आनन्दः[1]-आनन्दमय **ब्रह्म**-ब्रह्म है, **इति**-ऐसा **व्यजानात्**-जाना **हि**-

1. आनन्दः आनन्दवान्, मत्वर्थीयस्य लुक्।(तै.भा.)।

क्योंकि **खलु**-वस्तुतः **आनन्दात्**-आनन्द से **एव**-ही **इमानि**-ये **भूतानि**-सभी प्राणी **जायन्ते**-उत्पन्न होते हैं। **जातानि**-उत्पन्न हुए प्राणी **आनन्देन**-आनन्द से **जीवन्ति**-जीवित रहते हैं। **प्रयन्ति**-प्रयाण को प्राप्त होते हुए **आनन्दम्**-आनन्द में **अभिसंविशन्ति**-लीन हो जाते हैं।

व्याख्या

आनन्दमय-अन्नमय, प्राणमयादि में आपाततः ब्रह्म का लक्षण देखने पर भी असन्तुष्ट होने वाले भृगु ने पुनः पुनः तप के आचरण से अन्तःकरण विशुद्ध होने पर जाना कि विज्ञानमय से भी श्रेष्ठ और निरतिशय आनन्द से विशिष्ट वस्तु ही ब्रह्म है। वस्तुतः उसी में ब्रह्म के जगज्जन्मादिकर्तृत्व लक्षण का समन्वय होता है। उसमें उत्पत्ति, विनाशादि विकार संभव न होने से उस आनन्दमय के ब्रह्मत्वज्ञान से भृगु को जीवन का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त होने से महान् सन्तोष हुआ।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। अन्न न खाने पर भी प्राणन व्यापार से जीवन कुछ दिन रहता है, इसलिए अन्न के पश्चात् उससे श्रेष्ठ प्राण का वर्णन किया जाता है। प्राण ज्ञान का करण नहीं है, मन करण है अतः प्राण के पश्चात् मन का निरूपण किया जाता है। मन ज्ञान का करणमात्र है, ज्ञाता नहीं। ज्ञाता ही कर्ता हो सकता है, इस अभिप्राय से मनोमय के उत्तर विज्ञानमय का निरूपण किया जाता है। विज्ञानमय जीवात्मा असमर्थ, अल्पज्ञ और दुःखी होता है, वह सृष्टि नहीं कर सकता। समर्थ होने पर भी कोई अपने अनिष्ट की जनक दुःखमयी सृष्टि को क्यों करेगा? जिसे सृष्टि आदि करने पर भी सभी प्रकार से आनन्द ही रहे, वह सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ परमात्मा ही सृष्टि आदि का कर्ता होता है।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥1॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अन्वय

सा एषा वारुणी भार्गवी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। यः एवं वेद

प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादः भवति। प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन महान् भवति। कीर्त्या महान्।

अर्थ

सा-वह **एषा**-यह **वारुणी**-महर्षि वरुण के द्वारा प्रोक्त (और) **भार्गवी**-भृगु मुनि के द्वारा प्राप्त **विद्या**-विद्या **परमे**-अप्राकृत **व्योमन्**-आकाश के अन्तरात्मा आनन्दमय में **प्रतिष्ठिता**-स्थित है। **यः**-जो **एवं**-इस प्रकार **वेद**-उपासना करता है, वह आनन्दमय में **प्रतितिष्ठति**-स्थित होता है। वह **अन्नवान्**-प्रचुर अन्न वाला (और) **अन्नादः**-अन्न खाने में समर्थ **भवति**-होता है। **प्रजया**-प्रजा से **पशुभिः**-पशुओं से (और) **ब्रह्मवर्चसेन**-ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर **महान्**-महान् **भवति**-होता है। **कीर्त्या**-कीर्ति से **महान्**-महान् होता है।

व्याख्या

विद्या का फल-प्रस्तुत भृगुवल्ली में प्रतिपादित विद्या वरुण ऋषि के द्वारा प्रोक्त होने से वारुणी कही जाती है और भृगु के द्वारा ग्रहण की जाने से भार्गवी कही जाती है। परमे व्योमन् शब्द त्रिपादविभूति को कहते हुए तद्शरीरक आनन्दमय परमात्मा को कहता है। यह विद्या आनन्दमय ब्रह्म में स्थित है, अन्नमयादि के समान आनन्दमय का अतिक्रमण करके किसी अन्य में स्थित नहीं है अर्थात् यह अन्नमयादि के जगत्कारणत्व का दृढता से निराकरण करते हुए आनन्दमय के ही जगत्कारणत्व का प्रतिपादन करती है। जो अन्नमयादि के क्रम से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का हेतु आनन्दमय परमात्मा की उपासना करता है, वह आनन्दमय में स्थित हो जाता है, उससे कभी च्युत नहीं होता अर्थात् उसका इस संसार में पुनः आगमन नहीं होता। इस प्रकार विद्या के मुख्य फल मोक्ष को कहकर अब अवान्तर फल कहा जाता है-आनन्दमय का उपासक पर्याप्त अन्न वाला तथा प्रदीप्त जठराग्नि वाला होता है। वह लोक में सन्तान से, गाय, हाथी, घोड़े आदि पशुओं से और ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर महान् हो जाता है तथा कीर्ति से भी महान् हो जाता है।

अब प्रस्तुत भार्गवीविद्यानिष्ठ का आचरणीय व्रत कहा जाता है-

सप्तमोऽनुवाकः

अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरम् अन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥1॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

अन्नं न निन्द्यात्। तत् व्रतम्। प्राणः वै अन्नम्। शरीरम् अन्नादम्। शरीरं प्राणे प्रतिष्ठितम्। प्राणः शरीरे प्रतिष्ठितः। तत् एतत् अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्। यः अन्ने प्रतिष्ठितम् एतद् अन्नं वेद, सः प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादः भवति। प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन महान् भवति। कीर्त्या महान्।

अर्थ

भार्गवीविद्यानिष्ठ व्यक्ति **अन्नम्**-अन्न की **न निन्द्यात्**-निन्दा न करे। **तत्**-वह **व्रतम्**-व्रत है। **प्राणः**-प्राण **वै**-ही **अन्नम्**-अन्न है। **शरीरम्**-शरीर **अन्नादम्**-अन्न का भोक्ता है। **शरीरम्**-शरीर **प्राणे**-प्राण के आधार पर **प्रतिष्ठितम्**-स्थित है। **प्राणः**-प्राण **शरीरे**-शरीर में **प्रतिष्ठितः**-स्थित है। **तत्**-उस कारण **एतत्**-यह **अन्नम्**-अन्न **अन्ने**-अन्न में **प्रतिष्ठितम्**- स्थित है। **यः**-जो **अन्ने**-अन्न में **प्रतिष्ठितम्**-स्थित **एतद्**-इस **अन्नम्**- अन्न की **वेद**-उपासना करता है, **सः**-वह(अन्नमय के अन्तरात्मा आनन्दमय ब्रह्म में) **प्रतितिष्ठति**-स्थित होता है। वह **अन्नवान्**-प्रचुर अन्न वाला (और) **अन्नादः**-अन्न खाने में समर्थ **भवति**-होता है। **प्रजया**-प्रजा से **पशुभिः**-पशुओं से (और) **ब्रह्मवर्चसेन**-ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर **महान्**-महान् **भवति**-होता है। **कीर्त्या**-कीर्ति से **महान्**-महान् होता है।

व्याख्या

विद्या का अङ्ग व्रत-प्रवृत्ति और निवृत्ति भेद से दो प्रकार के व्रत प्रसिद्ध हैं। भगवदाराधन और द्रव्यविशेष का भक्षण प्रवृत्तिरूप व्रत है।

जैसे केवल दुग्धपान करना या फल खाना। उपवास निवृत्तिरूप व्रत है किन्तु भृगुविद्यानिष्ठ के व्रत के प्रसंग में वे दोनों विवक्षित नहीं हैं। अन्न की निन्दा न करना ही उसका व्रत है।

अनिन्दनीय अन्न

निन्दा का कारण द्वेष होता है। अन्न से ही रस, रक्तादि का निर्माण होता है इसलिए भगवद्निवेदित अन्न को शान्त चित्त से सेवन करना चाहिए। अन्न की निन्दा से रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होने से राजस और तामस विचार उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार ब्रह्मविद्या कभी निष्पन्न नहीं हो सकती अतः अन्न की निन्दा न करनारूप व्रत का आचरण करना चाहिए।

आनन्दभाष्य और भाष्यपरिष्कारव्याख्या के अनुसार 'मैं अन्न की निन्दा नहीं करूँगा' ऐसा संकल्प[1] ही यहाँ व्रत शब्द से विवक्षित है। लौकिक और पारलौकिक सभी उपलब्धियों का प्रथम साधन अन्न है। मुमुक्षु अन्नमय के क्रम से ही उपासना करके आनन्दमय में प्रतिष्ठित होता है, इस प्रकार अन्न की बड़ी महिमा है अतः वह अनिन्दनीय ही है।

प्राण में अन्नदृष्टि का फल

अन्न अनिन्दनीय होने का कारण कहा जाता है कि प्राण ही अन्न है, इसलिए प्राण में अन्नदृष्टि करनी चाहिए। शरीर अन्नाद है, इस प्रकार शरीर में अन्नाददृष्टि करनी चाहिए। प्राण के रहने पर ही शरीर का अस्तित्व रहता है अन्यथा नहीं इसलिए प्राण में शरीर की स्थिति कही जाती है। शरीर के आधार प्राण की शरीर में स्थिति प्रसिद्ध है। यह मन्त्र प्राण को अन्न कहता है और अन्न का कार्य होने से शरीर भी अन्न ही है अतः प्राण में शरीर स्थित होने पर और शरीर में प्राण स्थित होने पर कहा जाता है कि अन्न में अन्न स्थित है। परस्पर प्रतिष्ठितत्वेन उभय की उपासना करनी चाहिए, यह दृष्टिरूप उपासना आनन्दमयविद्या का

---

1. तद् व्रतम्-अन्नमहं कदापि न निन्दिष्यामि इति संकल्पं सदैव धारयेत।(आ.भा.), तद् व्रतम् नाहमन्नं निन्दिष्यामि इति संकल्पो व्रतम्।(भा.प.)।

अंग है अतः इस दृष्टि को करने वाला आनन्दमय की उपासना करके आनन्दमय ब्रह्म में स्थित होता है, ऐसा जानना चाहिए। मुख्य फल को कहकर अब अवान्तर फल कहा जाता है-वह उपासक प्रचुर अन्न वाला तथा प्रदीप्त जठराग्नि वाला होता है। वह लोक में सन्तान से, गाय, हाथी, घोड़े आदि पशुओं से और ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर महान् हो जाता है तथा कीर्ति से भी महान् हो जाता है।

अष्टमोऽनुवाकः

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥1॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

अन्नं न परिचक्षीत। तत् व्रतम्। आपः वै अन्नम्। ज्योतिः अन्नादम्। ज्योतिः अप्सु प्रतिष्ठितम्। आपः ज्योतिषि प्रतिष्ठिताः। तत् एतत् अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्। यः अन्ने प्रतिष्ठितम् एतत् अन्नं वेद, सः प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादः भवति। प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन महान् भवति। कीर्त्या महान्।

अर्थ

उपासक **अन्नम्**-पात्रस्थ अन्न का **न परिचक्षीत**-त्याग न करे। **तत्**-वह **व्रतम्**-व्रत है। **आपः**-जल **वै**-ही **अन्नम्**-अन्न है। **ज्योतिः**-तेज **अन्नादम्**-अन्न का भोक्ता है। **ज्योतिः**-तेज **अप्सु**-जल में **प्रतिष्ठितम्**-स्थित है। **आपः**-जल **ज्योतिषि**-तेज में **प्रतिष्ठिताः**-स्थित है। **तत्**-उस कारण **एतत्**-यह **अन्नम्**-अन्न **अन्ने**-अन्न में **प्रतिष्ठितम्**-स्थित है। **यः**-जो **अन्ने**-अन्न में **प्रतिष्ठितम्**-स्थित **एतत्**-इस **अन्नम्**-अन्न की **वेद**-उपासना करता है, **सः**-वह (आनन्दमय ब्रह्म में) **प्रतितिष्ठति**-स्थित होता है। वह **अन्नवान्**-प्रचुर अन्न वाला (और) **अन्नादः**-अन्न खाने में समर्थ **भवति**-होता है। **प्रजया**-प्रजा से **पशुभिः**-पशुओं से (और) **ब्रह्मवर्चसेन**- ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर

महान्-महान् **भवति**-होता है। **कीर्त्या**-कीर्ति से **महान्**-महान् होता है।

व्याख्या

अन्न के दुरुपयोग का निषेध-भोजनपात्र में अधिक अन्न लेकर अवशिष्ट अन्न का त्याग नहीं करना चाहिए। उसका त्याग न करना ही उपासक का व्रत है। सभी प्रकार के अन्न की उत्पत्ति में अप्(जल) कारण है इसलिए श्रुति **आपो वा अन्नम्** इस प्रकार अप् को अन्न कहती है। अप् अन्न है और ज्योति(तेज) उसका भोक्ता अन्नाद। सूर्यरूप ज्योति अप् को आत्मसात् कर लेती है, इसलिये(सूर्य के द्वारा अदनीय होने से) भी अप् को अन्न कहा जाता है। अप्रूप अन्न का शोषण करने से ज्योति को अन्नाद कहा जाता है। अप् में तेज स्थित है। जैसे समुद्र में बडवानल। विद्युत् तेज है, उसे अप् से ही बनाया जाता है। अप् का कारण ज्योति श्रुति में प्रसिद्ध है अतः यह श्रुति अप् की ज्योति में स्थिति कहती है। अभी अप् को अन्न कहा गया था और ज्योतिर्मय सूर्य की प्रचण्ड ज्योतिर्मय किरणों में स्थित अप् कालान्तर में वृष्टिरूप से आता है इसलिये ज्योति को भी अन्न कहा जाता है। जो अन्न में स्थित अन्न को जानता है, वह ब्रह्म में स्थिति को प्राप्त करता है। शेष विवरण पूर्व मन्त्र की व्याख्या के समान जानना चाहिए।

नवमोऽनुवाकः

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥1॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अन्वय

अन्नं बहु कुर्वीत। तत् व्रतम्। पृथिवी वै अन्नम्। आकाशः अन्नादः। आकाशः पृथिव्यां प्रतिष्ठितः। पृथिवी आकाशे प्रतिष्ठिता। तत् एतत्

अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्। **यः** अन्ने प्रतिष्ठितम् एतद् अन्नं वेद, सः प्रतितिष्ठति। अन्नवान् अन्नादः भवति। प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन महान् भवति। कीर्त्या महान्।

अर्थ

उपासक **अन्नम्**-अल्प अन्न का भी **बहु**-बहुत **कुर्वीत**-मान करे। **तत्**-वह **व्रतम्**-व्रत है। **पृथ्वी**-पृथ्वी **वै**-ही **अन्नम्**-अन्न है। **आकाशः**-आकाश **अन्नादम्**-अन्न का भोक्ता है। **आकाशः**-आकाश **पृथिव्याम्**-पृथ्वी में **प्रतिष्ठितः**-स्थित है। **पृथिवी**-पृथ्वी **आकाशे**-आकाश में **प्रतिष्ठिता**-स्थित है। **तत्**-उस कारण **एतत्**-यह **अन्नम्**-अन्न **अन्ने**-अन्न में **प्रतिष्ठितम्**-स्थित है। **यः**-जो **अन्ने**-अन्न में **प्रतिष्ठितम्**-स्थित **एतद्**-इस **अन्नम्**-अन्न की **वेद**-उपासना करता है, **सः**-वह (ब्रह्म में) **प्रतितिष्ठति**-स्थित होता है। वह **अन्नवान्**-प्रचुर अन्न वाला (और) **अन्नादः**-अन्न खाने में समर्थ **भवति**-होता है। **प्रजया**-प्रजा से **पशुभिः**-पशुओं से (और) **ब्रह्मवर्चसेन**- ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर **महान्**-महान् **भवति**-होता है। **कीर्त्या**-कीर्ति से **महान्**-महान् होता है।

व्याख्या

अन्न का सम्मान-उपासक जीवननिर्वाह के लिए अल्प अन्न प्राप्त होने पर भी उसे बहुत माने। यद्यपि स्वजन, अतिथि और अभ्यागतों के लिये बहुत अन्न को उत्पन्न करे या इनके लिए बहुत अन्न का संग्रह करे, यह **अन्नं बहु कुर्वीत** इस वाक्य का अर्थ सम्भव है तथापि यह अग्रिम मन्त्र के **तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्**।(तै.उ.) इस वाक्य से अवगत हो जाता है अतः उसे छोड़कर उक्त अर्थ प्रस्तुत किया है। अल्प समझ कर अन्न की उपेक्षा और असन्तोष नहीं करना चाहिए अपितु सन्तुष्ट होकर, ईश्वर का आभार व्यक्त कर और उसे ईश्वरार्पित कर प्रयोग में लेना चाहिए। पृथ्वी में ही सभी अन्न उत्पन्न होते हैं, इसलिए यह श्रुति अन्न के कारण पृथ्वी को अन्न कहती है। आकाश सर्वत्र होने से पृथ्वी में भी है और पृथ्वी का आधार है। शेष पूर्व के समान जानना चाहिए।

दशमोऽनुवाकः

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद् वै मुखतोऽन्नं राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद् वै मध्यतोऽन्नं राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद् वा अन्ततोऽन्नं राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते। य एवं वेद॥1॥

अन्वय

वसतौ कञ्चन न प्रत्याचक्षीत। तत् व्रतम्। तस्मात् यया कया च विधया बहु अन्नं प्राप्नुयात्। अस्मै अन्नम् अराधि इति आचक्षते। मुखतः एतत् राद्धम् अन्नम्। अस्मै वै मुखतः अन्नं राध्यते। मध्यतः एतत् राद्धम् अन्नम्। अस्मै वै मध्यतः अन्नं राध्यते। अन्ततः एतत् राद्धम् अन्नम्। अस्मै वै अन्ततः अन्न राध्यते। यः एवं वेद।

अर्थ

घर में **वसतौ**-निवास के लिये आये **कञ्चन**-किसी का **न प्रत्याचक्षीत**-प्रत्याख्यान न करें। **तत्**-वह **व्रतम्**-व्रत है। **तस्मात्**-आगन्तुक अतिथि के लिए भोजनदान अनिवार्य होने से **यया**-जिस **कया**-किसी **च**-भी **विधया**-रीति से **बहु**-बहुत **अन्नम्**-अन्न **प्राप्नुयात्**-प्राप्त करना चाहिए। **अस्मै**-अतिथि के लिए **अन्नम्**-अन्न **अराधि**-सिद्ध(तैयार)हो गया **इति**-ऐसा (ब्रह्मोपासक)**आचक्षते**-कहते हैं। यदि उपासक **मुखतः**-अत्यन्त श्रद्धा व सम्मान से **एतत्**-इस **राद्धम्**-तैयार **अन्नम्**-अन्न को अतिथि के लिए देता है तो **अस्मै**-इस अन्नदाता को **वै**-निश्चितरूप से **मुखतः**-अत्यन्त श्रद्धा व सम्मान से **अन्नम्**-अन्न **राध्यते**-प्राप्त होता है। यदि उपासक **मध्यतः**-मध्यम श्रद्धा व सम्मान से **एतत्**-इस **राद्धम्**-तैयार किये **अन्नम्**-अन्न को अतिथि के लिए देता है। तो **अस्मै**-इस अन्नदाता को **वै**-निश्चितरूप से **मध्यतः**-मध्यम श्रद्धा व सम्मान से **अन्नम्**-अन्न **राध्यते**-प्राप्त होता है। यदि उपासक **अन्ततः**-अल्प श्रद्धा व सम्मान से **एतत्**-इस **राद्धम्**-सिद्ध किये **अन्नम्**-अन्न को अतिथि के लिये देता है तो **अस्मै**-इस अन्नदाता को **वै**-निश्चितरूप से **अन्ततः**-अल्प श्रद्धा व सम्मान से **अन्नम्**-अन्न **राध्यते**-प्राप्त होता है। **यः**-जो **एवम्**-ऐसा

वेद-जानता है। (वह अन्नदान के लिए जिस किसी भी रीति से अन्न अर्जित करे।)

व्याख्या

अन्नदान की महिमा-निवास या भोजन के लिए आए विद्वान् ब्राह्मण से लेकर चाण्डालपर्यन्त किसी भी अतिथि को प्रतिकूल वचन नहीं बोलना चाहिए। मार्ग चलने से श्रान्त होकर, शीत, वर्षा, आतपादि से त्रस्त होकर और क्षुधित होकर निवास के लिए अथवा केवल भोजन के लिए अतिथि आता है, उसका निराकरण नहीं करना चाहिए अपितु उसकी यथोचित व्यवस्था करनी चाहिए, यह उपासक का व्रत है। महापुरुष खाद्यसामग्री तैयार हो जाने पर अपने परिवार और परिजन से कहते हैं कि यह अतिथि के लिए तैयार हुआ है, उनमें अतिथिसत्कार की ऐसी उदात्त भावना निहित होती है। **भुञ्जते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात्।**(गी. 3.13) इस प्रकार गीता में केवल अपने और अपने परिवार के लिए भोजन बनाने वाले को पाप खाने वाला कहा है। अन्नदाता जैसी श्रद्धा व सम्मान से अतिथि को अन्नदान करता है, उसे वैसे ही अन्नप्राप्त होता है, जो ऐसा जानता है, वह अन्नदान के लिए जिस किसी भी विधि से अन्नप्राप्त करे। शास्त्रों में न्यायोपार्जित पसीने की कमाई का अन्न ही स्वयं के उपयोग और दान के लिए विहित है, पाप की कमाई का अन्न दाता भोक्ता दोनों को नरक में ले जाता है। अतः याजन-अध्यापन, प्रजापालन और व्यवसाय आदि जिसके जो विहित कर्म हैं, वह उसी से न्यायपूर्वक अर्जित करके दूसरे को भी अन्नप्रदान करे। कदाचित् ऐसा करने में असमर्थ होने के कारण धर्मसंकट उपस्थित होने पर अपने से निम्न वर्ग के लिए विहित शास्त्रीय रीति से उपार्जन करके अन्नदान करे। जो स्वयं तथा परिवार को भूखा रखकर बड़े से बड़ा संकट आने पर भी अतिथि को भोजन देता है और जिसने अतिथिसेवा करने का महाव्रत ले रखा है, केवल वही 'यया कया च विधया' अन्न प्राप्त कर सकता है।

क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः।

गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीस्समाज्ञाः[1]। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे॥2॥

अन्वय

वाचि क्षेमः इति। प्राणापानयोः योगक्षेमः इति। हस्तयोः कर्म इति। पादयोः गतिः इति। पायौ विमुक्तिः इति। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। वृष्टौ तृप्तिः इति। विद्युति बलम् इति। पशुषु यशः इति। नक्षत्रेषु ज्योतिः इति। उपस्थे प्रजातिः अमृतम् आनन्दः इति। आकाशे सर्वम् इति।

अर्थ

वाचि-वाक् इन्द्रिय में **क्षेमः**-क्षेम **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **प्राणापानयोः**-प्राण और अपान में **योगक्षेमः**-योगक्षेम **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **हस्तयोः**-हाथों में **कर्म**-कर्म **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **पादयोः**-पैरों में **गतिः**-गति **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **पायौ**-गुदा में **विमुक्तिः**-मलत्याग **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **इति**-ये **मानुषीः**- मनुष्यशरीरसम्बन्धी **समाज्ञाः**-दृष्टियाँ हैं। **अथ**-मानुषी समाज्ञा के अनन्तर **दैवीः**-देवसम्बन्धी दृष्टियों का वर्णन किया जाता है। **वृष्टौ**-वृष्टि में **तृप्तिः**-तृप्ति **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **विद्युति**-विद्युत् में **बलम्**-बल **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **पशुषु**-पशुओं में **यशः**-यश **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **नक्षत्रेषु**-नक्षत्रों में **ज्योतिः**-ज्योति **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **उपस्थे**-उपस्थ में **प्रजातिः**-पुत्र **अमृतम्**-सन्तानपरम्परा (और) **आनन्दः**-विषयसुख **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए। **आकाशे**-आकाश में **सर्वम्**-सब **इति**-ऐसी दृष्टि करनी चाहिए।

व्याख्या

आध्यात्मिकोपासना-प्राप्त वस्तु का परिरक्षण क्षेम कहलाता है- **लब्धपरिरक्षणं क्षेमः**।(आ.भा.)। क्षेम का साधन वाणी है क्योंकि प्रथम इसके द्वारा ही चोरादि का निवारण किया जाता है। क्षेम का साधन वाणी

---

1. अत्र मानुषीः समाज्ञाः इति पाठान्तरः।

होने से वाणी में क्षेमदृष्टि करनी चाहिए अर्थात् वाक् की क्षेमत्वेन उपासना करनी चाहिए। इसी प्रकार आगे के सभी वाक्यों में उपासीत पद का अध्याहार करके अर्थ किया जाता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग कहते हैं-**अलब्धवस्तुलाभः योगः।**(आ.भा.)। प्राण और अपान के विना शरीर की स्थिति ही संभव न होने से योगक्षेम संभव नहीं अतः योगक्षेम का साधन प्राण और अपान होने से उनमें योगक्षेम दृष्टि करनी चाहिए। हस्त कर्म करने का साधन है अतः उसमें कर्मदृष्टि करनी चाहिए। पाद गति(गमन) का साधन है अतः उसमें गतिदृष्टि करनी चाहिए। पायु मलविसर्जन का साधन है अतः उसमें मलविसर्जनदृष्टि करनी चाहिए। ये मनुष्यशरीरसम्बन्धी उपासनाएँ कही गयीं। अब देवसम्बन्धी उपासनाओं का वर्णन किया जाता है-

आधिदैविकोपासना

वर्षा से घास, लता और वृक्षों की, प्यासे प्रणियों की तथा कृषकों की तृप्ति होती है। इस प्रकार तृप्ति का साधन वृष्टि होने से उसमें तृप्तिदृष्टि करनी चाहिए। बलवान् व्यक्ति शीघ्र कार्य करता है, विद्युत् भी प्रकाशरूप कार्य को शीघ्र करती है अतः विद्युत् और बल में समानता के कारण विद्युत् में बलदृष्टि करनी चाहिए। यागोपयोगी दुग्धादि सामग्री प्रदान करने से तथा कृषि और आवागमन आदि कार्यों में उपयोगी होने से पशु यश के साधन हैं अतः पशुओं में यशोदृष्टि करनी चाहिए। नक्षत्रों से ज्योति(प्रकाश) होती है, वे ज्योति के साधन हैं इसलिए उनमें ज्योतिदृष्टि करनी चाहिए। प्रजाति, अमृत और आनन्द का साधन उपस्थ है अतः उसमें प्रजाति, अमृत और आनन्द दृष्टि करनी चाहिए। पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होने से **प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे** इस प्रकार वर्णित दृष्टि को मानुषी समाज्ञा में समझना चाहिए। वायु आदि सर्व की उत्पत्ति का साधन आकाश है इसलिए आकाश में सर्व(वायु आदि सर्व)दृष्टि करनी चाहिए। वाक् में क्षेमदृष्टि करने पर क्षेम की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार आगे भी फल समझ लेना चाहिए।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति।।3।।

अन्वय

तत् प्रतिष्ठा इति उपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तत् महः इति उपासीत। महान् भवति। तत् मनः इति उपासीत। मानवान् भवति।

अर्थ

तत्-आकाश **प्रतिष्ठा**-आधार है **इति**-इस प्रकार **उपासीत**-उपासना करनी चाहिए, इसे करने से उपासक **प्रतिष्ठावान्**-आधार वाला **भवति**-होता है। **तत्**-आकाश **महः**-मह है **इति**-इस प्रकार **उपासीत**-उपासना करनी चाहिए, इसे करने से उपासक **महान्**-महान् **भवति**-होता है। **तत्**-आकाश **मनः**-मन है, **इति**-इस प्रकार **उपासीत**-उपासना करनी चाहिए, इसे करने से उपासक **मानवान्**-मनन करने में समर्थ **भवति**-होता है।

व्याख्या

आकाश की प्रतिष्ठात्वेन, महस्त्वेन और मनस्त्वेन उपासना करनी चाहिए। प्रतिष्ठात्वादिगुणविशिष्टत्वेन आकाश की उपासना करने पर तत्क्रतुन्याय से प्रतिष्ठादि फल प्राप्त होता है। प्रतिष्ठात्वेन आकाश का उपासक निराधार नहीं रहता। महस्त्वेन उपासना करने वाला लोक में महान् हो जाता है और मनस्त्वेन उपासना करने वाला मनन करने में समर्थ हो जाता है।

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं[1] म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः॥4॥

अन्वय

तत् नमः इति उपासीत। अस्मै कामाः नम्यन्ते। तत् ब्रह्म इति उपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमरः इति उपासीत। एनं परि द्विषन्तः सपत्नाः म्रियन्ते । ये परि अप्रियाः भ्रातृव्याः।

अर्थ

तत्-आकाश **नमः**-नमस्कार करने योग्य है **इति**-इस प्रकार **उपासीत**-

1. पर्येणमिति णत्वं छान्दसम्।(रं.भा.)।

उपासना करनी चाहिए। इसे करने से **अस्मै**-उपासक के लिए **कामाः**-सभी अभीष्ट पदार्थ **नम्यन्ते**-स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। **तत्**-आकाश **ब्रह्म**-बृहत्त्व गुण वाला है **इति**-इस प्रकार **उपासीत**-उपासना करनी चाहिए। इसे करने से उपासक **ब्रह्मवान्**-बृहत्त्व गुण वाला **भवति**-हो जाता है। **तद्**-आकाश **ब्रह्मणः**-ब्रह्म का है (और) **परिमरः**-मारक है **इति**-इस प्रकार **उपासीत**-उपासना करनी चाहिए। इसे करने से **एनम्**-इस उपासक के **परि**-सब ओर विद्यमान **द्विषन्तः**-द्वेष करने वाले **सपत्नाः**-शत्रु **म्रियन्ते**-मर जाते हैं और **ये**-जो **परि**-सब ओर विद्यमान **अप्रियाः**-अनिष्ट करने वाले **भ्रातृव्याः**-शत्रु हैं, वे भी मर जाते हैं।

व्याख्या

आकाश की नमस्कार्यत्वेन उपासना करने पर सभी अभीष्ट पदार्थ अनायास उसकी सेवा में उपस्थित हो जाते हैं। आकाश बृहत् है, उसमें बृहत्त्व गुण होने के कारण उसकी बृहत्त्वगुणविशिष्टत्वेन उपासना करनी चाहिए, इससे उपासक भी बृहत्त्व गुण वाला अर्थात् बड़ा हो जाता है। आकाश ब्रह्म का शेष है और ब्रह्म उसका शेषी। परिमर का अर्थ मारक होता है[1]। आकाश की ब्रह्मशेषत्वेन और परिमरत्वेन उपासना करने पर उपासक के सभी शत्रु मर जाते हैं।

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानम् उपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन्। एतत् साम गायन् आस्ते॥

अन्वय

असौ यः आदित्ये च सः यः अयं पुरुषे च। सः एकः। यः एवंवित्। सः अस्मात् लोकात् प्रेत्य। एतम् अन्नमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य। एतं प्राणमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य। एतं मनोमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयम् अत्मानम् उपसंक्रम्य। एतम् आनन्दमयम् आत्मानम् उपसंक्रम्य।

---

1. कुछ व्याख्याकारों के अनुसार परिमर का अर्थ मारक वायु है। परिमरः संहरणसाधनं, ब्रह्मणः यत् संहरणसाधनं वायुः सोऽयमुपासीत।(सु.)।

कामान्नी कामरूपी इमान् लोकान् अनुसञ्चरन् एतत् साम गायन् आस्ते।

अर्थ

पूर्वोक्त **असौ**-वह **यः**-जो आनन्दमय ब्रह्म **आदित्ये**-आदित्यमण्डल में है **च**-और **सः**-वही **यः**-जो **अयम्**-आनन्दमय **पुरुषे**-मनुष्य की हृदय गुहा में है। **सः**-वह **एकः**-एक ही है। **यः**-जो(ब्रह्म) की **एवंवित्**-इस प्रकार उपासना करता है, **सः**-वह (देहत्याग करके) **अस्मात्**-इस **लोकात्**-लोक से **प्रेत्य**-जाकर **एतम्**-इस **अन्नमयम्**-अन्नमयशरीरक **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रम्य**-अनुभव करके **एतम्**-इस **प्राणमयम्**-प्राणमयशरीरक **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रम्य**-अनुभव करके **एतम्**-इस **मनोमयम्**-मनोमयशरीरक **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रम्य**-अनुभव करके **एतम्**-इस **विज्ञानमयम्**-विज्ञानमयशरीरक **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रम्य**-अनुभव करके **एतम्**-इस **आनन्दमयम्**-आनन्दमय **आत्मानम्**-परमात्मा का **उपसंक्रम्य**-अनुभव करके **कामान्नी**-इच्छित अनुभाव्य पदार्थों से सम्पन्न होकर(और) **कामरूपी**-यथेच्छ रूपों वाला होकर **इमान्**-इन **लोकान्**-लोकों में **अनुसञ्चरन्**-संचरण करते हुए **एतत्**-वक्ष्यमाण **साम**-साम को **गायन्**-गाता **आस्ते**-रहता है।

व्याख्या

मोक्षप्राप्ति-जो सत्यत्वेन, ज्ञानत्वेन, अनन्तत्वेन, आनन्दप्रदत्वेन, अभयप्रदत्वेन और दिव्यमंगलविग्रहविशिष्टत्वेन हृदयगुहान्तर्वर्ती आनन्दमय ब्रह्म की दर्शनसमानाकार उपासना करता है, वह प्रारब्ध कर्म के अवसानकाल में इस देह का त्याग करके अर्चिरादि मार्ग से परम व्योम में जाकर जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय का अन्तरात्मा निखिलहेयप्रत्यनीक, कल्याणैकतान, सर्वात्मा, आनन्दमय ब्रह्म है, उसका अनुभवरूप मोक्ष प्राप्त करता है। इस अनुभव का विषय परम अभीष्ट सर्वात्मा ब्रह्म होने से प्रस्तुत श्रुति मुक्त को 'कामान्नी' कहती है। जैसे दरिद्र मनुष्य निष्कण्टक साम्राज्य को प्राप्त कर आनन्दित होता है, वैसे ही यह परम पुरुष को प्राप्तकर आनन्दित होता है। अर्चिरादि से जाने वाली आत्माएँ इस संसार चक्र में नहीं आतीं-**एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवम् आवर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते।**(छां.उ.4.15.6), मुक्तात्मा का संसारचक्र में पुनः

प्रवेश नहीं होता-**न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते।**(छां.उ.8.15.1), **अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात्**(ब्र.सू.4.4.22)।

स्वाभाविक रूप का आविर्भाव

साधक का चरम शरीर छूटने पर उसके सभी कर्मरूप प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाते हैं। त्रिपादविभूति में अमानव के करस्पर्श से प्रकृतिसम्बन्ध रूप प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाता है और आत्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि धर्मों के तिरोधान का हेतु जो उसके कर्ममूलक श्रीभगवान् का संकल्प है, वह संकल्पात्मक प्रतिबन्धक उनकी सन्निधि में जाने पर निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रतिबन्धक निवृत्त होने पर ही स्वाभाविक रूप का आविर्भाव होता है, अब मुक्तात्मा परब्रह्म के समान आविर्भूत हुए अपहतपाप्मत्व और सत्यसंकल्पत्व आदि अष्टगुणों[1] से सम्पन्न होता है। यही प्रत्यगात्मा का स्वाभाविक रूप है। यह जीवात्मा कर्मकृत शरीर से निकलकर अर्चिरादि से जाकर परमात्मा को प्राप्तकर अपने ब्राह्मरूप से आविर्भूत होता है-**एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यते।**(छां.उ.8.12.2)। आविर्भूत गुणाष्टक से युक्त होकर मुक्तात्मा का ब्रह्मानुभव करना ही मोक्ष है।

परमात्मा से परम समता

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करना, मोक्ष प्रदान करना, मुमुक्षुओं का उपास्य होना तथा शेषी होकर रहना इत्यादि परमात्मा के असाधारण धर्म हैं। मुक्त होने पर भी ये जीव को प्राप्त नहीं होते।

---

1. अपहतपाप्मत्व (पापरहितत्व), विजरत्व (जरारहितत्व), विमृत्युत्व (मृत्युरहितत्व) विशोकत्व (शोकरहितत्व), विजिघत्सत्व (क्षुधारहितत्व), पिपासारहितत्व, सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व ये गुणाष्टक हैं। जो कि **य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.8.7.1) इस प्रकार प्रजापतिविद्या में वर्णित हैं। यही अपहतपाप्मत्वादि **एष आत्माऽपहतपाप्मा**(छां.उ.8.1.5) इस प्रकार दहरविद्या में ब्रह्म के गुण कहे गये हैं। परमात्मा के ये धर्म सदा आविर्भूत रहते हैं किन्तु प्रकृतिसंसर्ग के कारण जीवात्मा के धर्म बद्धावस्था में तिरोहित हो जाते हैं। **परं ज्योतिरुपसपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते** (छां.उ.8.12.2) यह श्रुति मुक्तावस्था में आत्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणों के आविर्भाव को कहती है।

त्रिपादविभूति में पहुँचकर सायुज्य मोक्ष को प्राप्त करने वाला मुक्त पुरुष स्वरूपाविर्भाव को प्राप्त करके ज्ञान, आनन्द और सत्यसंकल्पत्वादि धर्मों से परमात्मा के साथ परम समता को प्राप्त होता है। **निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।**(मु.उ.3.1.3), **मम साधर्मम्यम् आगताः।**(गी.14.2) इत्यादि वाक्य इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

मुक्त का शरीरधारण

मुक्तपुरुष गुण और विभूति से विशिष्ट आनन्दमय परमात्मा का अत्यन्त अनुकूलत्वेन अनुभव करता है। इस आनन्दानुभव से मुक्त की अनुभाव्य ब्रह्म में अत्यन्त प्रीति बढ़ती है, इससे प्रेरित होकर वह उनकी सर्वविध सेवा करता है। ब्रह्मानुभव के लिए शरीर अपेक्षित नहीं है किन्तु उनकी सेवा के लिए अपेक्षित है, इसीलिए प्रस्तुत श्रुति 'कामरूपी' शब्द से मुक्त को इच्छित शरीरधारण करने वाला कहती है। मुक्तात्मा कभी शरीर से युक्त होता है और कभी शरीर से रहित। इसका प्रतिपादन करने वाला **द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः**(ब्र.सू.4.4.12)यह ब्रह्मसूत्र है। मुक्त पुरुष भगवत्सेवा के लिए शरीर धारण करते हैं। छान्दोग्यश्रुति कहती है कि मुक्तपुरुष कभी एक शरीर धारण करता है, कभी तीन और कभी पाँच शरीर धारण करता है-**स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा।** (छां.उ.7.26.2)।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप एवं निर्मल है-**आत्मा ज्ञानानन्दमयोऽमलः।** (वि.पु.6.7.22), परमात्मा सभी का शेषी है-**पतिं विश्वस्य**(तै.ना.उ.92) इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा श्रीभगवान् का शेष है, दास है। इस प्रकार शास्त्रों से ज्ञात होता है कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, श्रीभगवान् के अधीन हूँ। मैं अपने लिए नहीं हूँ, ईश्वर के लिए ही हूँ। इस रीति से जो साधक स्वातन्त्र्याभिमान को छोड़कर स्वयं को श्रीभगवान् का दास समझता है, उसके लिए भगवत्सेवा अनुकूल ही होती है। जिस प्रकार अपने शरीर को आत्मा समझना विपरीत ज्ञान है, उसी प्रकार अपने को स्वतन्त्र आत्मा समझना भी विपरीत ज्ञान है। विपरीत ज्ञान तो विरोधी कर्म के कारण होता है। कर्मबन्धन से रहित मुक्त पुरुष श्रीभगवान् की इच्छानुसार शरीर धारण करता है। ये अकर्मकृत शरीर

सुख-दुःख के हेतु नहीं होते। सुख-दुःख के हेतु तो कर्मकृत शरीर ही होते हैं।

मुक्त का संचरण

मुक्त पुरुष कर्म के अधीन नहीं होता। उसका भगवद्विभूतिरूप सभी लोकों में यथेच्छ संचरण होता है-**स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।**(छां.उ.7.25.2)। प्रस्तुत तैत्तिरीयश्रुति भी **अनुसंचरन्** पद के प्रयोग से इसी अर्थ का प्रतिपादन करती है। मुक्त की इच्छा भगवद्-इच्छा के अधीन ही होती है।

मुक्तपुरुष आनन्दमय के अनुभव से आनन्दित होकर कैसा सामगान करता है? ऐसी अपेक्षा होने पर कहते हैं-

हा 3 वु हा 3 वु हा 3 वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता 3 स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना 3 भा इ[1]। यो मा ददाति स इदेव मा 3 वाः।। अहमन्नमन्नमदन्तमा 3द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा 3म्।। सुवर्णज्योती:[2]। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।।8।।

।। इति भृगुवल्ली।।

।। इति तैत्तिरीयोपनिषत् ।।

अन्वय

हा 3 वु हा 3 वु हा 3 वु। अहम् अन्नम्। अहम् अन्नम्। अहम् अन्नम्। अहम् अन्नादः। अहम् अन्नादः। अहम् अन्नादः। अहं श्लोककृत्। अहं श्लोककृत्। अहं श्लोककृत्। अहम् ऋतस्य प्रथमजाः अस्मि। देवेभ्यः पूर्वं अमृतस्य नाभाइ। यः मा ददाति सः इत् मा एव अवाः। अहम् अन्नम् अन्नम् अदन्तम् अद्मि। अहं विश्वं भुवनम् अभि अभवम्। यः एवं वेद। सुवर्णज्योतीः। इति उपनिषत्।

---

1. नाभिः इत्यस्य स्थाने 'ना 3 भा इ' इत्येवं विप्रकृतगानप्रयुक्ता(आ.भा.)। 'ना 3 भा इ' इत्यत्र 'ना 3 भा 3 इ' इति पाठान्तरः। 'ना 3 भायि' इत्यपि पाठान्तरः।
2. सुवर्नज्योती: इति पाठान्तरः।

अर्थ

हा 3 वु-महान् आश्चर्य है। **हा 3 वु**-महान् आश्चर्य है। **हा 3 वु**-महान् आश्चर्य है। **अहम्**-मैं **अन्नम्**-भोग्य हूँ। **अहम्**-मैं **अन्नम्**-भोग्य हूँ। **अहम्**-मैं **अन्नम्**-भोग्य हूँ। **अहम्**-मैं **अन्नादः**-भोक्ता हूँ। **अहम्**-मैं **अन्नादः**- भोक्ता हूँ। **अहम्**-मैं **अन्नादः**-भोक्ता हूँ। **अहम्**-मैं **श्लोककृत्**-आश्चर्यजनक कर्मों को करने वाला हूँ। **अहम्**-मैं **श्लोककृत्**-आश्चर्यजनक कर्मों को करने वाला हूँ। **अहम्**-मैं **श्लोककृत्**-आश्चर्यजनक कर्मों को करने वाला हूँ। **अहम्**-मैं **ऋतस्य**-सत्य चेतनाचेतनात्मक जगत् के **प्रथमजाः**-पूर्व में उत्पन्न चतुर्मुख ब्रह्मा **अस्मि**-हूँ मैं **देवेभ्यः**-सभी देवताओं के **पूर्व**- पूर्व में विद्यमान **अमृतस्य**-मोक्ष की **नाभाइ**[1]-नाभि(आश्रय) हूँ। **यः**-जो आचार्य (योग्य शिष्य को) **मा**-मेरा **ददाति**[2]-उपदेश देता है। **सः**-वह **इत**[3]-इस प्रकार **मा**-मुझे **एव**-ही **अवाः**[4]-प्राप्त कर लेता है। **अहम्**-मैं **अन्नम्**-'अन्न' इस प्रकार कहे जाने वाले **अन्नम्**- अचेतन भोग्य पदार्थ को (और) **अदन्तम्**-चेतन भोक्ता को **अद्मि**[5]- व्याप्त करके रहता हूँ। **अहम्**-मैंने (प्रलयकाल में) **विश्वम्**-सम्पूर्ण **भुवनम्**-विश्व का **अभि अभवम्**[6]-संहार किया था। **यः**-जो **एवम्**-भृगु के समान तप करके आनन्दमय ब्रह्म को **वेद**-जानता है, वह **सुवर्णज्योतीः**[7]-सुवर्ण के समान दिव्य विग्रह से युक्त होता है। **इति**-इस प्रकार **उपनिषत्**-भार्गवी वारुणी विद्या समाप्त हुई।

व्याख्या

सामगान-प्रस्तुत सामगान सर्वात्मा आनन्दमय ब्रह्म के अनुभव से जन्य हर्षातिरेक से होने वाला मुक्त पुरुष का उद्‌गार है। इसमें 'हा 3 वु' अंश आश्चर्य का सूचक है। यहाँ प्लुत होना और तीन बार उच्चरित होना अतिशय आश्चर्य को द्योतित करता है-**प्लुतत्वं त्रिरुच्चारणं च**

---

1. नाभाइ नाभिः आश्रयः।(ख.व्या.) 2. ददाति उपदिशति।(रं.भा.)
3. इत् इत्थम्।(ख.व्या.)।
4. अवा इति छान्दसः पुरुषव्यत्ययः। अवात् प्राप्नोति।(आ.भा.),
5. अद्मि व्याप्नोमि।(रं.भा., सु.)। 6. अभ्यभवम् संहृतम्।(सु.)।
7. सुवर्णस्य ज्योतिरिव ज्योतिर्यस्य तादृशः। तप्ततपनीयसदृशदेदीप्यमानकमनीयविग्रहो भवति, गुणाष्टकविशिष्टस्वस्वरूपाविर्भाववत्वात्।(आ.भा.)।

विस्मयातिशयख्यापनार्थम्।(आ.भा.)। लोक में भोक्ता और भोग्य पदार्थ भिन्न भिन्न देखे जाते हैं। भोक्ता चेतन आत्मा होती है और भोग्य अचेतन पदार्थ किन्तु प्रस्तुत भृगुवल्ली में वर्णित भोक्ता और भोग्य एक अहमर्थ ही है, यही लोकोत्तर वस्तु विस्मय का कारण है अतः मुक्त विस्मयान्वित होकर **हा 3 वु** इत्यादि सामगान करता है। प्रस्तुत साम में प्रयुक्त अहम् शब्द ब्रह्मपर्यन्त अर्थ का बोधक है, वह प्रकृतिबन्धन से विनिर्मुक्त ब्रह्मदर्शी आत्मा का बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा ब्रह्म का भी बोध कराता है। अन्न और अन्नाद शब्द भी ब्रह्मपर्यन्त अर्थ के बोधक हैं। अन्न शब्द भोग्य पदार्थ का बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा का बोध कराता है, इसी प्रकार अन्नाद शब्द सभी भोक्ता आत्माओं का बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा ब्रह्म का बोध कराता है। मै अन्न हूँ और अन्नाद भी। **यस्य पृथिवी शरीरम्।**(बृ.उ.3.7.7) और **यस्य आत्मा शरीरम्।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि श्रुतियाँ भोक्ता और भोग्य सभी को परमात्मा का शरीर कहती हैं। मत्शरीरक परमात्मा ही अन्नशरीरक और अन्नादशरीरक है अर्थात् मेरा अन्तरात्मा ही भोक्ता और भोग्य सभी का अन्तरात्मा है। अहमन्नम् और अहमन्नादः ये वाक्य इसी अर्थ के सूचक हैं। ब्रह्मदर्शी अपनी अन्तरात्मा का सभी के अन्तरात्मा से अभिन्नत्वेन अनुभव करता है। अज्ञानी मनुष्य अन्न और अन्नाद को भिन्न समझते हैं किन्तु मुक्तात्मा उनको अपनी आत्मा से भिन्न नहीं समझता। सभी जनों के भीतर प्रविष्ट होकर उन पर शासन करने वाला सबका आत्मा ब्रह्म है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.आ.3.11.3) यह श्रुति भी सभी के अन्तरात्मा एक ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है। ऋषि वामदेव ने भी **अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति।**(बृ.उ.1.4.10) इस प्रकार अपनी अन्तरात्मा ब्रह्म का सर्वात्मा से अभिन्नत्वेन साक्षात्कार किया था।

जिनका वर्णन किया जाता है, उन्हें श्लोक कहते हैं-**श्लोक्यन्ते कीर्तयन्ते इति श्लोकाः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार भगवान् के संकल्प से होने वाले आश्चर्यजनक जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय और मोक्ष कर्म श्लोक कहलाते हैं। मेरा अन्तरात्मा ही उन आश्चर्यजनक कर्मों को करने वाला है। परमात्मा जीवों में सर्वप्रथम ब्रह्मा की रचना करता है-**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्।**(श्वे.उ.6.18)। मेरा अन्तरात्मा ही चेतनाचेतन

जगत् की रचना से पूर्व में उत्पन्न ब्रह्मा की अन्तरात्मा है। ब्रह्मादि देवताओं की उत्पत्ति से पूर्व में विद्यमान मेरी आत्मा मोक्ष का आश्रय है। जैसे रथचक्र का आश्रय उसका केन्द्रबिन्दु नाभि होती है, वैसे ही मोक्षप्राप्ति के लिए सबका केन्द्रबिन्दु परमात्मा ही आश्रय होता है, उसके अनुग्रह से ही मोक्ष प्राप्त होता है। जो आचार्य शमादि से युक्त, भगवद्भक्त योग्य शिष्य को मेरे(अन्तरात्मा के) विषय में उपदेश करता है, उस आचार्य का प्राप्य मेरा अन्तरात्मा ही है। मेरा अन्तरात्मस्वरूप परिच्छिन्न नहीं है, अपितु अपरिच्छिन्न है। वह अन्न और अन्नाद दोनों को ही व्याप्त करके रहता है, उससे अव्याप्त कुछ भी नहीं है। सभी को व्याप्त करके रहने वाला मैं जगत् का संहारक भी हूँ।।

मुक्त की सर्वज्ञता

उक्त साम मुक्त के अनुभाव्य सर्वात्मब्रह्मविषयक अनुभव का वर्णन करता है, इससे मुक्त की सर्वज्ञता भी सिद्ध होती है। ज्ञान के संकोच के हेतु कर्म का सर्वथा अभाव होने से मुक्त का धर्मभूतज्ञान सर्वदा विभु ही रहता है। वह इन्द्रियनिरपेक्ष होकर सबका प्रकाश करता है इसलिए मुक्तात्मा सर्वज्ञ होता है। वह चेतन तथा अचेतनरूप सर्वप्रकार वाले ब्रह्म का सर्वदा अनुभव करता है। इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान वाला संसारी प्राणी किसी विशेषण वाले द्रव्यगुणादिरूप किसी विशेष्य का अनुभव करता है, परब्रह्म का अनुभव नहीं करता क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय नहीं है किन्तु इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानवाला मुक्त सभी विशेषणों वाले परब्रह्म का अनुभव करता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छां.उ.7.26.2) सभी विशेषणों वाले परब्रह्म के अनुभव का अर्थ है कि ब्रह्मात्मक सभी का अनुभव करना और सर्वात्मा(सर्वशरीरक)रूप से ब्रह्म का अनुभव करना। अज्ञानी जीव के ज्ञान के विषय घटपटादि विविध विशेष्य होते हैं किन्तु मुक्त के ज्ञान का विषय एक ब्रह्म ही मुख्य विशेष्य होता है। मुक्त के ज्ञान में चक्षु आदि करण नहीं होते और प्रपञ्च की प्रधानता नहीं होती। वह प्रतिकूल दुःख के हेतु कर्म से सर्वथा रहित होता है इसलिए उसे कभी भी दुःखानुभव नहीं होता।

मुक्त परब्रह्म के स्वरूप, श्रीविग्रह, गुण, विभूति और लीला आदि

का साक्षात्कार करता रहता है। मुक्त को होने वाला अनुभव परिपूर्ण होता है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं होती। इस अनुभव का नाश कभी नहीं होता ब्रह्म आनन्दस्वरूप है इसलिए उसे विषय करनेवाला अनुभव भी आनन्दस्वरूप होता है। यह सब ब्रह्मात्मक है-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**(छां. उ.3.14.1), इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति, प्रकृति और जीव ये सभी ब्रह्मात्मक हैं-**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवा- त्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च।**(वि.स.ना.136)। संसार दशा में कर्म से ज्ञान का संकोच होने के कारण ब्रह्मात्मक जगत् का अनुभव नहीं होता इसलिए दुःख का अनुभव होता है। मुक्तिदशा में तो कर्मों की पूर्णतः निवृत्ति होने से ब्रह्मात्मक जगत् का अनुभव होता है, इस कारण मुक्त को दुःख के लेश की भी प्रसक्ति नहीं होती। उसे भगवद्विभूतिरूप से नरक भी अनुकूल प्रतीत होता है। ब्रह्मात्मक जगत् दुःखरूप नहीं हो सकता, संसारी जीव को होने वाली प्रतिकूलता की प्रतीति तो कर्मरूप उपाधि के कारण है। **सर्वं दुःखम्** यह बौद्धमत है, वैदिक मत नहीं। **दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**(यो.सू.2.15) इस प्रकार योगसूत्र में जगत् की दुःखरूपता संसार से वैराग्य बढ़ाने के लिए कही गयी है। परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर ग्राह्य और त्याज्य ऐसा विभाग होता ही नहीं। जगत् की सुख-दुःख और मोहरूपता संसारी जीव की दृष्टि से है, मुक्त की दृष्टि से नहीं, उसकी दृष्टि से सब ब्रह्म ही है।

मुक्तपुरुष सामगान करते हुए ही दुःखों से संतप्त संसारी प्राणियों को देखकर करुणार्द्र होकर उनके उद्धार का उपाय भी बताता है-जो भृगु के समान तपश्चर्या करके और आचार्य से उपदेश प्राप्त करके आनन्दमय ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, वह प्रारब्ध कर्म के अवसान काल में भगवद्धाम जाकर सुवर्ण के समान देदीप्यमान अप्राकृत शरीर को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रुति मुक्त के गेय साम का उपसंहार करके परमरहस्य की निरूपिका भार्गवी वारुणी विद्या के उपदेश को भी उपसंहृत करती है।

।। तैत्तिरीयोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या समाप्त ।।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अनुग्रहेण सीतायाः रामस्य च मया कृता।
श्रीत्रिभुवनदासेन व्याख्या तत्त्वविवेचनी।।1।।
कनकभवनाधीशः सीतया सह राजते।
समर्प्यते कृती रम्या तयोः पादारविन्दयोः।।2।।

।।इति।।

परिशिष्ट

संकेताक्षरानुक्रमणिका-1

अ.सू.	अष्टाध्यायीसूत्रम्
आ.भा.	आनन्दभाष्यम्
आ.व्या.	आनन्दगिरिव्याख्या शांकरभाष्यस्य
ई.उ.	ईशावास्योपनिषत्
ऋ.सं.	ऋग्वेदसंहिता
ऐ.उ.	ऐतरेयोपनिषत्
क.उ.	कठोपनिषत्
कू.भा.	कूरनारायणभाष्यम्
ग.पु.उ.	गरुडपुराण-उत्तरार्धः
ग.पू.उ.	गणेशपूर्वतापनीयोपनिषत्
गी.	गीता(श्रीमद्भगवद्गीता)
गी.रा.भा.	गीतारामानुजभाष्यम्
छां.उ.	छान्दोग्योपनिषत्
छां.उ.रं.भा.	छान्दोग्योपनिषद्-रङ्गरामानुजभाष्यम्
तं.वा.	तन्त्रवार्तिकम्
त.सं.गु.	तर्कसंग्रहगुणनिरूपणम्
तै.आ.	तैत्तिरीय-आरण्यकम्
तै.उ.आ.भा.	तैत्तिरीयोपनिषद्-आनन्दभाष्यम्
तै.उ.शां.भा.	तैत्तिरीयोपनिषत्-शांकरभाष्यम्
तै.दी.	तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका
तै.ना.उ.	तैत्तिरीयनारायणोपनिषत्
तै.ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तै.भा.	तैत्तिरीयभाष्यम्(मिताक्षरा)
दि.गु.	दिनकरीगुणनिरूपणम्
नि.	निरुक्तम्
न्या.सि.	न्यायसिद्धाञ्जनम्
पां.सं	पाञ्चरात्रसंहिता

पा.शि.	पाणिनीयशिक्षा
प्र.उ.	प्रश्नोपनिषत्
प्रदी.	प्रदीपिका
बृ.उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ.उ.मा.पा.	बृहदारण्यकोपनिषद्-माध्यन्दिनपाठ:
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
ब्र.सू.शां.भा.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्
भा.	भागवतम्(श्रीमद्भागवतम्)
भा.द.	भाष्यार्थदर्पणम्(श्रीभाष्यस्य व्याख्या)
भा.प.	भाष्यपरिष्कार:
भा.भा.	भास्करभाष्यम्
म.प्र.	मणिप्रभाव्याख्या
म.भा.प.	महाभाष्यपस्पशाह्निकम्
म.भा.प्र.	महाभाष्यस्य प्रदीपव्याख्यनम्
म.स्मृ.	मनुस्मृति:
मी.सू.	मीमांसासूत्रम्
मु.उ.	मुण्डकोपनिषत्
मुक्ति.उ.	मुक्तिकोपनिषत्
य.सं.	यजुर्वेदसंहिता
या.शि.	याज्ञवल्क्यशिक्षा
रामो.	रामोत्तरतापनीयोपनिषत्
वा.रा.	वाल्मीकिरामायणम्
वि.पु.	विष्णुपुराणम्
वे.प.प्र.	वेदान्तपरिभाषा-प्रयोजनपरिच्छेद
वै.सू.	वैशेषिकसूत्रम्
व्या.स्म.	व्यासस्मृति:
रं.भा.	रङ्गरामानुजभाष्यम्
श.ब्रा.	शतपथब्राह्मणम्
शं.दी.	शंकरानन्दी दीपिका
श्वे.उ.	श्वेताश्वतरोपनिषत्

श्रीभा.	श्रीभाष्यम्
श्रु.प्र.	श्रुतप्रकाशिका
श्रौ.प्र.च.	श्रौतप्रमेयचन्द्रिका
स.सं.	सनत्कुमारसंहिता
सा.भा.	सायणभाष्यम्
सि.कौ.सं.	सिद्धान्तकौमुदी-संज्ञाप्रकरणम्
सु.	सुबोधिनी

मन्त्रानुक्रमणिका- 2

प्रमाणानुक्रमणिका- 3

न्यायानुक्रमणिका

सहायकग्रन्थानुक्रमणिका-6

1. अष्टाध्यायी

पाणिनिविरचिता, परिष्कर्ता डा. गोपालशास्त्री दर्शनकेसरी, सम्पादक प्रो. गोपालदत्त पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, सन 1997

2. ईशादि नौ उपनिषद्

व्याख्याकार हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2040

3. ईशावास्योपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2014

4. उपनिषद्भाष्यम्

(ईश-केन-कठ-षट्प्रश्न-आथर्वण-माण्डूक्य-तैत्तिरीयोपनिषदः) श्रीवादिराजतीर्थविरचितप्रकाशिकासंवलितया श्रीजयतीर्थविरचितया टीकया, श्रीराघवेन्द्रतीर्थविरचितेन उपनिषत्खण्डार्थेन च विभूषितम्, पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम् पूर्णप्रज्ञविद्यापीठम् बेंगलूर, सन1997

5. उपासनादर्पण

स्वामी त्रिभुवनदास, मलूकपीठ, वंशीवट वृन्दावन, सन 2010

6. ऋग्वेदप्रातिशाख्य(एक परिशीलन)

डा. वीरेन्द्रकुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, सन 1972

7. एकादशोपनिषदः

ईशाद्यष्टसु उपनिषत्मणिप्रभया छान्दोग्यबृहदारण्यकयोर्मिताक्षरया कैवल्ये दीपिकया समलंकृताः, मोतीलाल बनारसीदास लाहौर, सन 1937

8. कठोपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2015

9. **केनाद्युपनिषद्भाष्यम्**
श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, उत्तमूरवीरराघवाचार्यविरचित भाष्यपरिष्कारविभूषितम्, 25 नाथमुनि वीथी, ति. नगर मद्रास, सन 1972

10. **केनोपनिषत्**
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2015

11. **तत्त्वत्रयम्**
श्रीलोकाचार्यविरचितम्, तत्त्वविवेचनीहिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन2015

12. **तैत्तिरीय-ऐतरेय-छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्**
श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, श्रीउत्तमूरवीरराघवाचार्यप्रणीत परिष्कारपरिष्कृतम्, 25 नाथमुनि वीथी, टी. नगर चेन्नई, सन 1973

13. **तैत्तिरीयोपनिषत्**
आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेता, टिप्पणी और हिन्दी व्याख्या सहित, कैलाश आश्रम शताब्दीसमारोह महासमिति ऋषीकेश, वि.सं. 2040

14. **तैत्तिरीयोपनिषत्**
आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्योपेता तथा शंकरानन्दकृता तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पुणे, सन 1929

15. **तैत्तिरीयोपनिषत्**
प्रतिपदार्थदीपिका-मिताक्षरा-प्रकाशिका-कूरनारायणभाष्यम्-आनन्दभाष्यम्-सुबोधिन्याख्यव्याख्याषट्कोपेता(विमर्शात्मकं सम्पादनम्) संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे सन 2005

16. **तैत्तिरीयोपनिषद्**
सानुवाद शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.स. 2040

17. **तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक**
श्रीसुरेश्वराचार्यकृत, हिन्दी अनुवादसहित, अनुवादक राधेश्याम शास्त्री, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास दिल्ली, सन 1978

18. **न्यायकोशः**

महामहोपाध्यायभीमाचार्येण विरचितः, भाण्डारकरप्राच्यविद्या-संशोधन मन्दिरम् पुणे, सन1996

19. पाणिनीयशिक्षा

विस्तृत शोधपूर्ण हिन्दीव्याख्या, सम्पादक एवं हिन्दीव्याख्याकार विद्यासागर डा. दामोदर महतो, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन 1990

20. पुनर्विमर्शनीयशांकरभाष्य

स्वामी शंकरानन्द सरस्वती, परमार्थनिकेतन स्वर्गाश्रम ऋषीकेश, सन1992

22. प्रत्यक्षतत्त्वचिन्तामणिविमर्शः

प्रो.एन.एस. रामानुजताताचार्येण विरचितः, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम् तिरुपतिः, सन1992

23. प्रशस्तपादभाष्यम्

प्रशस्तपादाचार्यप्रणीतम्, श्रीधरभट्टप्रणीतया न्यायकन्दलीव्याख्यया समलंकृतम्, सम्पादको हिन्दीव्याख्याकारश्च पं दुर्गाधर झा शर्मा, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः वाराणसी, वि.सं. 2053

24. प्रश्नोपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016

25. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्

श्रीसत्यानन्दसरस्वतीस्वामिभिर्विरचितेन भाषानुवादेन सत्यानन्दीदीपिकया च समलंकृतम्, गोविन्दमठ टेढ़ीनीम वाराणसी, वि.सं. 2028

26. ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्यम्-1

श्रुतप्रकाशिकया सहितम्, विशिष्टाद्वैतप्रचारणीसभा श्रीदेशिकविद्या-भवनम्, 27 वेंकटेश अग्रहारम्, मैलापोर मद्रास, सन1989

27. ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्यम्-2

श्रुतप्रकाशिकया सहितम्, विशिष्टाद्वैतप्रचारणीसभा श्रीदेशिकविद्या-भवनम्, 27 वेंकटेश अग्रहारम्, मैलापोर मद्रास, सन1989

28. भेदसाम्राज्यम्

'श्रीकोलियालमस्वामिनः' इति विख्यातैः श्रीरङ्गरामानुजमहादेशिकैः

विरचितम्, उत्तमूर वीर राघवाचार्य सेन्टिनरी ट्रस्ट, 7 नाथमुनि स्ट्रीट चेन्नई, सन 2002

29. **मनुस्मृतिः**
श्रीकुलूकभट्ट प्रणीतया मन्वर्थमुक्तावल्या क्षेपकपरिशिष्टश्लोकैः अकारादिकोशेन च सहिता, गुजराती मुद्रणालय मुम्बई, सन 1913

30. **मायावाद की जीवनी**
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी, श्रीगौड़ीयवेदान्तसमिति श्रीकेशवजी गौडीय मठ मथुरा, सन1997

31. **महाभाष्यम्**
पतञ्जलिमुनिविरचितम्, हिन्दीव्याख्यासहितम्, द्वितीयो भागः, व्याख्याकारः युधिष्ठिरो मीमांसकः, प्यारेलाल द्राक्षादेवी न्यास सी.4, सी.सी.कालोनी दिल्ली, वि.सं. 2045

32. **मुण्डकोपनिषत्**
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016

33. **माण्डूक्योपनिषत्**
तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2016

34. **विशिष्टाद्वैतकोशः** (द्वितीयः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1987

35. **विशिष्टाद्वैतकोशः** (प्रथमः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1983

36. **विशिष्टाद्वैतकोशः** (षष्ठः सम्पुटः)
संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1997

37. **विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन**
स्वामी त्रिभुवनदास,चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 2013

38. **वेदान्तदीपः**(प्रथमखण्ड)
श्रीरामानुजाचार्यविरचितः, हिन्दीव्याख्यासहित, व्याख्याकार स्वामी नीलमेघाचार्य, प्रकाशक राघवाचार्य आचार्य प्रेस बरेली, वि.सं. 2020

39. वेदान्तपरिभाषा
श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रप्रणीता, मणिप्रभाख्यटीकासंवलिता शिखामणिटीकया विभूषिता, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस मुम्बई, वि.सं.1968

40. वेदान्तपरिभाषा
श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्रप्रणीता, अर्थदीपिकया सनाथा राष्ट्रभाषानुवादेन सुबोधिनीव्याख्यया च संवलिता, अनुवादको व्याख्याकारश्च श्रीस्वामिविद्यानन्दगिरिः, कैलाश आश्रम ऋषीकेश, वि.सं. 2040

41. वैदिकसाहित्य का इतिहास
डा. सुरेन्द्रदेव शास्त्री, साहित्य भण्डार मेरठ

42. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (प्रथमो भागः)
श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता, बालमनोरमाख्यया व्याख्यया तत्वबोधिन्याख्या व्याख्यया च सनाथिता, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन 2004

43. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (प्रथमोऽशः)
श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता, लक्ष्मीव्याख्ययोपेता, मोतीलाल बनारसी दास वाराणसी, सन 1966

44. वैशेषिकदर्शनम्
कणादमुनिप्रणीतम्, उत्तमूर श्रीवीरराघवाचार्यविरचित रसायनाख्यसंस्कृत व्याख्योपेतम्, श्रीउत्तमूर वीरराघवाचार्य सेनेटनरी ट्रस्ट चेन्नई, सन 2005

45. वैशेषिकसूत्रवृत्तिः
प्रणेता देशिकतिरुमलैताताचार्यशिरोमणिः, गंगानाथ झा केन्द्रियसंस्कृत विद्यापीठम् प्रयागः, सन 1978

46. व्याकरणमहाभाष्यम् (नवाह्निकम्)
महर्षिपतञ्जलिविरचितम्, प्रदीपोद्योतसहितम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, सन 1987

47. लघुसिद्धान्तकौमुदी (प्रथम भाग)
भैमीव्याख्या, व्याख्याकार भीमसेन शास्त्री भैमी प्रकाशन, 537 लाजपतराय मार्केट दिल्ली, सन 2008

48. शांकरवेदान्तकोशः
प्रणेता सम्पादकश्च डा. मुरलीधरपाण्डेयः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृत

विश्वविद्यालयः वाराणसी, सन 1998

49. **श्रीभाष्यम्**
श्रीभगवद्रामानुजविरचितम्, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन 1995

50. **श्रीभाष्यम्** (चतुर्थसम्पुटः)
भगवद्रामानुजविरचितम्, विमर्शात्मकं संस्करणम्, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे कर्नाटक, सन 1991

51. **श्रीभाष्यम्** (प्रथमसम्पुटः)
भगवद्रामानुजविरचितम्, विमर्शात्मकं संस्करणम्, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, कर्नाटक, सन 1985

52. **श्रीभाष्यम्** (द्वितीयसम्पुटः)
भगवद्रामानुजविरचितम्, विमर्शात्मकं संस्करणम्, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, कर्नाटक, सन 1987

53. **श्रीभाष्यम्** (द्वितीयो भागः)
श्रीभगवद्रामानुजविरचितम्, उत्तमूरराघवाचार्यविरचितभाष्यार्थदर्पण समेतम्, श्रीरङ्गम् श्रीमद्आन्डवन आश्रमम् तमिलनाडु, सन1997

54. **श्रुतितात्पर्यनिर्णयः**
श्रीश्यामानन्दाचार्यप्रणीतः, स्वामिरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीतश्रुतितात्पर्य-विन्दुसहितः, कोसलेन्द्रमठ, सरखेज रोड पालड़ी, अहमदाबाद

55. **श्रीमद्भगवद्गीता**
श्रीरामानुजभाष्य हिन्दी अनुवादसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.स.2066

56. **षड्दर्शनसूत्रसंग्रहः**
संग्रहकर्ता सम्पादकश्च स्वामी द्वारकाप्रसादशास्त्री, सुधीप्रकाशनम् वाराणसी, वि.सं 2041

57. **सिद्धान्तकौमुदी** (चतुर्थः भागः)
श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता, बालमनोरमातत्त्वबोधिनीसहिता, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन 2008

58. **सिद्धान्तकौमुदी** (द्वितीयो भागः)
श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता, बालमनोरमातत्त्वबोधिनीसहिता, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन 1982

प्रस्तुत तैत्तिरीयोपनिषत् ग्रन्थ में मन्त्र के पश्चात् अन्वय और मन्त्र के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और मर्मस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषयवस्तु को अवगत कराने के लिए इसे यथोचित शीर्षकों से सुसज्जित किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटल पर अंकित होता चला जाता है, पाठकगण इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार आचार्य स्वामीजी को अभीष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है।

ISBN 978-81-7084-743-4

मूल्य: ₹ 150.00

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली